हमारी कुछ जीवनोपयोगी पुस्तकें

	कीमत	डा० खर्च
आरोग्यकी कुंजी	०४४	०२०
गीताका [illegible]	०३०	०१३
गा[illegible]	१५०	०३५
बापूके पत्र कुमारी प्रेमा बहन कंटकके नाम	४००	१०५
बापूके पत्र मीराके नाम	२००	११५
मंगल प्रभात	०३७	०१३
मेरा धर्म	२००	०८०
रामनाम	०५०	०२०
विश्वशान्तिका अहिंसक मार्ग	०४०	०१३
शरीर-श्रम	०२५	०१३
सच्ची शिक्षा	२००	१००
सत्यके प्रयोग अथवा आत्मकथा	१५०	०५०
सत्य ही ईश्वर है	०८०	०३०
सर्वोदय	२१००	०८५
हिन्द स्वराज्य	०७०	०२०
आगाका अवमान माग	२००	०८०
भूदान-यज्ञ	१२५	०३०
विचार-दर्शन १	१५०	०३५
विचार-दर्शन २	१५०	०३५
विवेक और साधना	४००	११५

[illegible]	० ८०	० २०
धर्मोदय	१ २५	० २५
गीता-मंथन	३ ००	१ ००
[illegible]	१ ५०	० ५५
जीवन-शोधन	५ ००	१ २५
तालीमकी बुनियादें	२ ००	१ ००
संसार और धर्म	२ ५०	१ ००
स्त्री-पुरुष-मर्यादा	१ ७५	० ५५
गांधीजी और गुरुदेव	० ८०	० २५
गांधीजीकी साधना	३ ००	१ ००
बापूकी छायामें	८ ००	० ९५
हमारी बा	२ ००	० ९०
अेकला चलो रे	२ ००	१ ००
बिहारकी कौमी आगमें	३ ००	१ ००
आत्म-रचना अथवा आश्रमी शिक्षा भाग १–२–३	८ ५०	१ ०५
श्रीमद्भगवद्गीता	० ३७	० १३
आश्रम-भजनावलि	० ५०	० २५
गांधीजीके पावन प्रसंग: भाग १–२–३	१ ०९	० ३९
जीवनका पाथेय	० ५०	०.२०
जीवनकी सुवास	० ३७	० १३

नवजीवन ट्रस्ट,
अहमदाबाद–१४

गीता-रत्न-प्रभा

[गीताके चुने हुअे वचन सम्बन्धी विवरणी]

काकासाहब कालेलकर



नवजीवन प्रकाशन मंदिर
अहमदाबाद-१४

मुद्रक अौर प्रकाशक
जीवणजी डाह्याभाअी देसाअी
नवजीवन मुद्रणालय, अहमदाबाद-१४

पहली आवृत्ति ३०००

रु० ३.००

जुलाअी, १९६१

रत्न-प्रभाका सफल्प

श्रीमद्भगवद्गीताके ७०० श्लोकोंके अन्दर कुल मिलाकर ३८६५ पद हैं। (पद यानी शब्दोंके विभक्ति आदि प्रत्ययोंके साथ बननेवाले भिन्न-भिन्न रूप।) अिन सब पदोंमें से अगर गीताके शब्द चुने जाय तो अुनकी संख्या पदोंसे कम ही होगी। लेकिन अेक ही शब्दके अर्थ हर जगह अेकसे नहीं होते। कहीं-कहीं छटा बदलती है, कहीं-कहीं सारा पूरा भाव ही अलग होता है।

कअी शब्द मानव-जातिकी जीवन-सिद्धिसे सम्बन्ध रखते हैं। अिसलिअे अुनका भाव बहुत ही गहरा होता है। केवल मामूली कोशमें देखकर अैसे शब्दोंका पूरा भाव खयालमें नहीं आता। भिन्न भिन्न भाष्यकारोंकी ओरसे जब अैसे शब्दोंका दार्शनिक विवरण किया जाता है तब अुसका मनन करनेसे शब्दशक्तिका परिचय होता है, लेकिन अर्थ-गहन शब्द जीवनके जिस पहलूको या पुरुषार्थको व्यक्त करते हैं, अुसीका मनन करने पर अैसे भाव-गहन शब्दोंका पूरा भाव प्रकट हो सकता है।

श्रीमद्भगवद्गीताको ध्यानसे पढते और अुत्साहसे पढाते अिस रत्न-प्रभाकी कल्पना मनमें जम गअी। सन् १९४२ मे जब गांधीजीके 'गीता-पदार्थकोश' की नअी और परिवर्धित आवृत्ति तैयार कर रहा था तब अिस रत्न-प्रभाका संकल्प पक गया और गीतामें से करीब तीन सौ शब्द चुनकर अुनका भाव स्पष्ट करनेके लिअे अुनका विवरण लिख डाला।

बादमें लगा कि अिस आवृत्तिका अगर पूरा फायदा पाठकोंको और नासमझ विद्यार्थियोंको पहुँचाना हो तो जिन शब्दोंका समावेश मनन हो सकता है अन सब शब्दों पर कुछ न कुछ लिखना जरूरी है।

अिसका निश्चय होते ही और चार सौके करीब शब्द छाँट लिये और अुनके बारेमें जो जानकारी आवश्यक थी वह लिख डाली। अिनमें इससे अधिक विवेचन नहीं है। गीताके विचारशास्त्रकी खूबीका मनन अभी विशेष नहीं हुआ है।

स्वराज्य आन्दोलनके कारण जब (१९४४में) हम यरवडा जेलमें थे तब गान्धीजीने श्री चतुर्भुज जसाणीसे 'गीतापदार्थकोश'की नअी आवृत्ति तैयार करनेमें मदद ली थी। अिसलिये अनुवादके कारण अिन सब शब्दोंका विवरण भी दिया गया। कारावासकी स्थितिमें सब ग्रन्थोंका पास होना मुश्किल था। जितना था उतना ही गूँथा और जरूरी मालूम हुआ वहाँ सब पर अमल किया है। अिसलिये दीपावलीके बाद जब अिसे प्रकाशित करनेका तय किया तब सारी वस्तु में फिरसे लग गया। जरूरी सुधार किये लेकिन विवरणोंका कद भी बढ़ाया नहीं।

अिन विवरणोंका अुपयोग करनेवालोंको अिससे मालूम होगा कि अिसमें अिन-जरूरी बातें नहीं आती हैं और जहाँ तक अधिक गहराअीमें हम जा सके अुतर गये हैं। जो गीताप्रेमी गीताकी नसीहतको अपने जीवनमें अुतारना चाहते हैं और अिसी दृष्टिसे गीताको समझना चाहते हैं, अुन्हींके लिये यह अेक सहधर्मीका प्रयास है।

सरल, निर्दोष और महत्त्वपूर्ण रचनाकी कीमत बहुत होती है। थोड़े आकारमें महत्त्वकी अनेक बातें और मूल्य समझानेकी रचनाकी शक्ति सब जानते ही हैं। गीताके अति अर्थ-गहन और अर्थघन शब्दोंका चिन्तन करनेके लिये हाथमें लेते ही अुनकी जो प्रभा नजरके सामने फैल गयी वही अिस विवरणोंमें प्रतिबिम्बित की है।

गीता-रत्न-प्रभा

[गीताके चुने हुए अध्ययन शब्दार्थी विवरणी]

गीता-रत्न-प्रभा

कर्म [४–१६, १८]

सब प्राणियोंमें मनुष्यकी विशेषता यह है कि वह विचार और मनन कर सकता है — 'मननात् मनुष्यः'। लेकिन उसकी दूसरी विशेषता यह है कि कुदरतने उसे हाथ दिये हैं। संस्कृतमें हाथीको करी कहा जाता है। सचमुच तो यह नाम मनुष्यको ही प्राप्य है। जितनी कर्म-कुशलता मनुष्यमें है उतनी और किसी प्राणीमें नहीं पाओ जाती।

'विचारपूर्वक कर्म करना अथवा कर्म न करना' यह भी मनुष्यकी ही प्रतिष्ठा है। वह जानता है कि कर्म न करते हुओ भी वह कभी कभी अैसे कुछ परिणाम ला सकता है जो कर्म करनेसे नहीं हो सकते।

मनुष्यने गहराओसे विचार कर कर्म मीमांसा बनाओ है। कर्म किसे कहें अकर्म किसे कहें और विकर्म यानी निषिद्ध कर्म किसे कहें — जिसकी विचिकित्सा मननशील मनुष्य ही कर सकता है। उसने यह भी पाया है कि कर्म करते हुओ भी कभी कभी वे 'नहीं किये समान' हो जाते हैं और कुछ न करते हुओ भी कर्म विशेष उत्तरदायित्व उस पर आ जाता है। गीताने सोचकर अैसी युक्ति बताओ है कि जिससे कर्म करते हुओ भी मनुष्य कर्म-बंधनसे मुक्त रह सकता है। 'कर्म' शब्दमें ये सब भाव आ जाते हैं। गीताका कथन है कि कोओ क्षणभर यानी कर्म किये बिना रह ही नहीं सकता। केवल कर्म न करनेसे 'नैष्कर्म्य सिद्धि' प्राप्त नहीं होती किन्तु 'काम-संकल्प' (४–१९) छोड़नेसे ही होती है। क्षणभर तो कोओ

अकृतबुद्धित्वात् [१८–१६]

अिस शब्दमें तथा 'कृतात्मा' शब्दमें 'कृत' शब्दका अर्थ होता है 'संस्कारयुक्त'। बहुतसी वस्तुअें प्राकृतिक अवस्थामें मनुष्यकी प्रकृतिके समान अशुद्ध होती हैं। अिसलिअे अन्न, सोना, मसाला, चिकना आदि संस्कार करने पड़ते हैं। जिसने अपने हृदयको अिसी तरह संस्कार-सम्पन्न कर लिया है वह कृतात्मा है, जिसने वैसा नहीं किया वह अकृतात्मा है। अिसी तरह जिसकी बुद्धि संस्कारयुक्त हुअी है वह कृतबुद्धि है और संस्काररहित बुद्धिवाला अकृतबुद्धि है।

[मनुस्मृतिमें 'कृतबुद्धिषु कर्तारः' अैसा जो वचन आता है अुसमें 'कृतबुद्धि' का अर्थ टीकाकारोंने कुछ अलग किया है। किन्तु वहा पर भी यही अर्थ लगाया जा सकता है।

कठोपनिषद्में 'अकृत' शब्द आत्माके अर्थमें लिया गया है। अुसका अिससे कोअी सम्बन्ध नहीं है।]

बुद्धिका काम सत्-असत्का विवेक करनेका है। बुद्धि यदि शुद्ध और तीव्र न रही तो सारा जीवन ही बरबाद हो जायेगा। गीताने अैसे लोगोंको 'दुर्मति' (१८–१६) कहा है।

अकृतात्मा [१५–११], अकृतबुद्धि [१८–१६]

कृतात्मा = a cultured and refined soul = सस्कारी मनुष्य।

अिन्द्रिय-निग्रह और आत्म-सयमके द्वारा जिसने स्वार्थ, ओर्पा, द्वेष और विलासिताको नष्ट कर दिया है और जो स्वभावतया ज्ञानपरायण और 'सर्वभूत-हिते रत.' हुआ है, और जो स्व-धर्म-कर्ममे निष्ठावान और कुशल है अुसे कृतात्मा कहते है। अुसे यतात्मा भी कहते है। (यहा आत्माका अर्थ अिन्द्रिय, अन्त करण और बुद्धि होता है।)

अिस तरह जिसकी बुद्धि हृदय-शुद्धि द्वारा शुद्ध हुअी है अुसे स्थितबुद्धि कहते हैं।

अिसके विपरीत जिसने अपनी बुद्धिको शुद्ध और तेज नहीं बनाया और पक्व जिसका ज्ञान अधूरा और विकृत है अुसकी दृष्टि बिगड़ जाती है और अुसे सत्यज्ञान नहीं होता। (१८-१६)

गीताके पन्द्रहवें अध्यायके ग्यारहवें श्लोकमें (१५-११) अेक तरफ योगी और दूसरी तरफ अकृतात्मा अैसा द्वन्द्व दिखाया है। योगी लोग कृतात्मा होते ही हैं। अुनका शरीर हृदय सकल क्रियाअें सदा और ज्ञान सब कुछ शुद्ध समय और सामञ्जस्यपूर्ण (harmonious) होते हैं। बुद्धिहीन (अचेता) और असंस्कारी (अकृतात्मा) मनुष्यमें अिन शक्तियोंका अभाव रहता है।

अक्रिय [६-१]

अक्रिय का सीधा अर्थ होता है क्रिया न करनेवाला। नि अिसका विशेष अर्थ है कर्म कर्मकाण्डमें बताअी हुअी यज्ञादि क्रियाअें न करनेवाला। कर्ममें बताअी हुअी नित्य-नैमित्तिक क्रिया करना हरअेक द्विजके लिअे आवश्यक है। परन्तु जिसने संन्यास लिया है अुसके लिअे ये क्रियाअें आवश्यक नहीं हैं। अितना ही नहीं किन्तु ये क्रियाअें करनेका अुसे अधिकार भी नहीं रहता। अग्निका आधान करना अुसमें आहुति देना वगैरा यज्ञयागादि नित्य विधि गृहस्थ करता यह सब संन्यासीके लिअे वर्ज्य यानी मना है।

यह संन्यासी माना अैसा व्यक्ति जिसने (आश्रमानुसार) संन्यास आश्रममें प्रवेश किया है।

गीतामें चार वर्णोंका अुल्लेख और पुरस्कार है परन्तु चार आश्रमोंका स्पष्ट रूपसे नहीं। गीताकालमें आश्रम-व्यवस्था नहीं थी अैसा तो नहीं कहा जा सकता। क्योंकि (१) गीताके आरम्भमें ही अर्जुन क्षात्रधर्मकी कठोरताके अुपर संन्यास आश्रममें प्रवेश करनेकी और भैक्ष्य (भिक्षान्न) पर गुजर करनेकी अिच्छा प्रकट करता है। (२) ज्ञानप्राप्तिके साधन बताते हुअे गुरुसेवा, शुश्रूषा आदिका अुल्लेख कर भगवानने ब्रह्मचर्याश्रमकी ओर संकेत किया है। (३) पिण्डोदक

जिसने अग्निकी अुपासना छोड़ दी और जो धर्माचरणसे अलग हुआ, वह आश्रमके लिहाजसे भले ही सन्यासी हो, किन्तु केवल अितना ही करने पर भगवान अुसे सन्यासी नहीं कहते।

अघम् [३–१३]; अघायुः [३–१६]

'**अघम्**' का अर्थ होता है 'पाप', नरक-गामी या समाज-घातक अयोग्य कर्म। अघका अर्थ दुःखशोक, संकट, अहित या अपवित्रता भी होता है। जो पापसे मुक्त हैं अुन्हें अनघ कहते हैं। अनघका अर्थ 'सुन्दर' भी होता है। जिसका जीवन पापपूर्ण है, समाजद्रोही है अथवा अर्थशून्य और विफल है अुसे अघायु कहते हैं। जो मनुष्य समाजकी सेवा करनेसे अिनकार करता है, केवल अपना स्वार्थ और अिन्द्रियोंका सुख ही साधता है, अैसा समाजद्रोही मनुष्य अघायु है, अुसका जीवन मोघ यानी व्यर्थ है। समाज-सेवाके लिअे अन्नोत्पत्ति कर अुसमें से अपना अुचित हिस्सा लेना ही मनुष्यका सामाजिक धर्म है। अिस धर्मको भूलकर या छोडकर जो अपने ही लिअे अन्नोत्पत्ति करता है या अन्न पकाता है, वह अन्न नही खाता किन्तु पाप ही खाता है, अैसा गीताका स्पष्ट अभिप्राय है।

अचापलम् [१६–२]

'**चापलम्**' अथवा '**चापल्यम्**' का अर्थ है 'चचलता'। जिसका मन और शरीर स्थिर नही, हवाके समान अिधर अुधर दौडता है वह 'चपल' है। (अिसीसे आकाशमे चमकनेवाली बिजलीको भी

'चपलता' कहा है।) चापल्यम् अथवा अस्थिरताके लगने जो मुक्त है अैसा स्थिर-दृढ़बुद्धि मनुष्योंके गुणको अचापल्यम् कहते हैं। रजोगुणी मनुष्योंसे स्थिर नहीं बैठा जा सकता। अिसलिअे बिना किसी कारण भी वे हाथ पैर और जीभ चलाते रहते हैं। आसुरी वृत्तिका यह लक्षण ही है। सामाजिक आदर्श बार बार बदलना धारणाअें बदलने प्रतिज्ञा करके बिना सोचे कुछ कर बैठना छिछोरी बातें करना और शत्रु मित्र आदि बार बार बदलते रहना आसुरी वृत्तिका ही लक्षण है। अतः सज्जन आदर्शोंमें स्थिर रहना समाजका अुत्तम गुण है। अिसी गुणको गीतामें अचापल्यम् कहा है।

अज्ञानम् [५-१५, १६, १३-११, १४-१६, १७, १६-४],
ज्ञानम् [४-३३ से ३८, १३-७ से ११ अित्यादि]

√ज्ञा [अवबोधन नियोग] यानी जानना परीक्षा करना महसूस करना पहिचानना सूचना करना।

मनुष्य जो जो बातें जानता है समझता है जिनकी अुपपत्ति और व्यवस्था लगाता है वे सब बातें ज्ञानके अंतर्गत हैं। ज्ञान आत्माका गुण है अतः मनुष्यका अपना वह आत्माका स्वरूप है अैसा कहना अुपयुक्त होगा। समूचा विश्व आत्माका अथवा चेतनका आविष्कार होनेके कारण विश्वका समस्त ज्ञान आत्मज्ञानके अन्तर्गत ही है। देहधारी मनुष्य अिन्द्रियोंके द्वारा और मनके द्वारा जो भी क्रियाअें करता है अुनका अन्तिम फल ज्ञान ही है [४-३३]।

गीतामें, अब कुछ आगे बढ़कर 'ज्ञानप्राप्तिके साधनरूप गुण समुच्चयको भी ज्ञान कहा है। अिसलिअे गीताके अर्थमें ज्ञान knowledge भी है और culture भी है। जीवनमें प्राप्त होनेवाली सब जानकारीके जीवनके अनुभवसे तथा श्रद्धासे सिद्ध होनेवाली जीवन-दृष्टिसे फलित होनेवाला हमारा चिन्तन प्रति दस आदर्श जीवन जीनेसे प्राप्त होनेवाली संस्कृति और अन्तमें अिन समस्त साधनोंसे होनेवाला आत्म विकास अैसे आत्म-सत्ताके सब ज्ञान ही ज्ञान है। यह ज्ञान आत्माका स्वरूप होनेके कारण आत्माके साथ हमेशा रहता है परन्तु किसी अभाव

कारणसे अुस पर पटल आ जाता है। अिस पटलको दूर करते ही स्वयम्भू ज्ञान आप ही आप प्रगट होता है (५–१५, १६)।

जब कोअी मनुष्य, हित-अनहित पूरी तरहसे समझते हुअे भी, अनहितकी ओर ही दौडता है तब अुसे ज्ञानी कहे या अज्ञानी? व्यवहारमे हम कहते है कि वह मनुष्य ज्ञानी तो है, किन्तु हृदय-शुद्धि अथवा सत्त्व-सशुद्धि न होनेके कारण अुसकी क्रिया ज्ञानके अनुरूप नही हो रही है। परन्तु गीताकी ज्ञानकी कसौटी अलग है। गीता अैसे आदमीको अज्ञानी ही कहेगी। गीताका कथन है कि सत्त्व-सशुद्धिके बिना ज्ञान हो ही नही सकता। जहा ज्ञान सचमुच प्राप्त हुआ वहा सब दोष जल ही जाने चाहिये। सकल्प-शक्तिकी कमी सच्चे और पूरे ज्ञानकी ही कमी है। अिसलिअे ज्ञान-साधनाके वास्ते प्रथम आत्मशुद्धि ही करनी चाहिये।

गीता कहती है कि ज्ञानमे अैसी अद्भुत शक्ति है कि अुसके प्रगट होते ही सब पाप धुल जाते हैं। जिन्होंने ज्ञानकी सहायतासे अपने पाप धो डाले हैं, अुन्हे गीताने 'ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः' (५–१७) कहा है। ज्ञान मनुष्यका चक्षु है (१३–३४, १५–१०)। ज्ञान जीवन-मार्गके लिअे दीपक है (४–२७, १०–११)। ज्ञान ही समर्थ तप हे (४–१०)। पाप यदि अेक समुद्र है तो अुसे पार करनेके लिअे ज्ञान अेक प्लव अर्थात् नौका है। (४–३६)।

ज्ञानप्राप्तिके साधनोमे गीताने चित्तशुद्धि पर विशेष भार दिया है। काम, क्रोध, मोहका आवरण दूर होने पर ज्ञानका मार्ग खुल जाता है, किन्तु अिसके लिअे श्रद्धाकी आवश्यकता है। अिन्द्रिय-सयम और श्रद्धा जिसके पास है और जो ज्ञानपरायण है अुसीको ज्ञानकी प्राप्ति होती है। जहा तक गुरुके पाससे ज्ञान प्राप्त करनेका प्रश्न है वहा गीता कहती है कि गुरुके समक्ष जाकर अपने अज्ञानका स्वीकार करो, अपनी नम्रता प्रगट कर गुरुकी अनुकूलता प्राप्त करो, और वाद-विवादके ढगसे नही किन्तु जिज्ञासु वृत्तिसे बार बार अनेक दृष्टिकोणसे प्रश्न पूछो और गुरुकी सेवामे रहकर अुसके जीवनका निरीक्षण करो तथा अपने (शिष्यके) गुणदोषका परीक्षण करनेका गुरुको मौका

हो। तब गुरु पूछाया ज्ञान न मसंग और ऐसा ज्ञान दो कि जिस ज्ञान पर फिर कभी मोह न होगा तथा जिज्ञासुयवको गोपालपर होगा (४-८ ३८)। अिसके पश्चात् जाननेके लिअे कुछ नहि रहता ही नहीं (७-२)।

अतपस्काय [१८-६७]

जिसने तपश्चर्या नहीं की है जो तपस्वी यानी संयमी नहीं है अुस असंयमीके लिअे कहा है। [तपस् शब्दका व्यापक अर्थ शुभ लक्ष्य लेना चाहिये।] जिस मनुष्यने कभी कोई पुरुषार्थ नहीं किया मस्तकपूर्ण ज्ञान स्थान सामर्थ्य या वस्तुका प्राप्तिके लिअे कष्ट नहीं अुठाये वह किसी भी वस्तुका हार्द या रहस्य नहीं जान सकता। अगर मनुष्यका विद्याका दान किया जाय तो विद्या ही अपमानित होती है। पुरुषार्थहीन मनुष्यके हाथ विद्याका तेज नष्ट होता है अुसका दुरुपयोग भी होता है। अिसीलिअे तपारहित प्रयत्न-शून्य मनुष्यको आत्म विद्या नहीं देना चाहिये। क्योंकि वह अनाप्त है।

अतिमान [१६-४]

जब मनुष्य अपने लिअे बड़ा पुण्यभाव रखता है और अुसके घमण्डमें चलता है तब अुसे अभिमानी कहते हैं। प्रत्येक मनुष्यमें स्वाभिमानका कुछ मात्रा तो रहना ही चाहिये जो नम्रताका विरोधी नहीं है। परन्तु जब यह मात्रा बढ़ता है तब जीवनका अुसका आचरण ही विकृत हो जाता है। अभिमानी मनुष्य और सब बातोंमें योग्य होते हुअे भी केवल अिस अेक दोषके कारण लोगोंमें अप्रिय होता है और अिनकी हार्दिक सहयोगसे वंचित रहता है। अिसी दोषको ध्यानमें रखकर बाअिबिलमें कहा है — Pride goeth before destruction and a haughty spirit before a fall अिसीको हम यह कहते हैं "अतिमानी वजत्यप।"

कहीं कहीं पर 'अतिमान' की जगह 'अभिमान' पाठांतर है। अिस पाठका भी अर्थ तो वही निकलता है। लेकिन 'मानकी मात्रा बढ़ने

पर ही यह [illegible] बनता है, [illegible] 'अभिमान' [illegible]
जाता है। 'अभिमान' [illegible]।

अत्यश्नतः [६–१६]; अनश्नतः [६–१६]

[illegible] 'अत्यश्नत्' [illegible] है। मनुस्मृतिमें [illegible] है।

> अनारोग्यम् अनायुष्यम् अस्वर्ग्यं चातिभोजनम्।
> अपुण्यं लोक-विद्विष्टं; तस्मात् तत् परिवर्जयेत्॥

अुनमें यह भी अेक बात बताना चाहिये कि [illegible] भोजन [illegible] जीवनके लिअे भी बाधक है (६–१६)।

अेकान्तम् यानी बिल्कुल न खानेवालेको अनश्नत् कहते हैं। अुसके लिअे भी योग नहीं है।

अदम्भित्वम् [१३–७]; दम्भ [१६–४, १७, १७–१८]; मिथ्याचार [३–६]

√दम्भ् (दम्भने) = ढोंग करना, ठगना, धोखा पहुचाना। दम्भ = धर्मध्वजित्वम् = स्वधर्मप्रगटीकरणम् = (जो अपनेमें नहीं है) अुसकी बड़ाअी करना, गुणशीलता, परोपकारिता और तपस्विताका झण्डा फहराना। दम्भी मनुष्य 'अपनेमें जो नही है अैसी' भलाअीका और बड़प्पनका दावा और दिखावा करके समाजको ठगता है और बहुमान, प्रतिष्ठा आदि लाभ पाता है। दम्भ असत्यका अेक बडा और निर्लज्ज रूप है। दम्भी मनुष्य आत्मोन्नति नही कर सकता। अुसका पश्चात्ताप और अुसका प्रायश्चित्त भी दिखावेके होते हैं। अैसोंके बारेमें कहा है—'*Even in penance planning sins anew*' अेक ओर पुराने पापोंका प्रायश्चित्त करते हुअे दूसरी ओर नये नये पापोंके संकल्प भी करते जाते हैं।

अैसे मनुष्य जब कोअी देव-मंदिर बनाते हैं तब मन्दिरके अन्दर पूजाके लिअे सचमुच अपने अभिमान और दम्भकी ही मूर्ति रखते हैं, भले ही अुसका नाम और रूप भगवानका हो। अैसे

मनुष्योंके लिये हुए दम्भका गीतामें उल्लेख (१६–१७ १७–१२) यानी पाखण्ड बतलाकर किये हुए यज्ञ कहा है।

दम्भ अहंकार (मान) और मद गीतामें साथ साथ चलते हैं (१६–१० १७–५)।

मिथ्याचारी मनुष्य भी दम्भीके समान ही प्रतीत होता है। बहुत दफे वह दम्भी (ढोंगी) होता भी है। किन्तु मिथ्याचारी अपने दम्भको प्रकट नहीं होने देता।

मिथ्या = अर्थविहीन निष्फल है आचार जिसका ऐसे मनुष्यको मिथ्याचार कहते हैं।

दुर्बल और शिथिल मनवाला मनुष्य जब संयमका अनुशीलन या प्रयत्न करता है तब जोर करके अपनी कर्मेन्द्रियोंको विषय-सेवनसे रोकता है सही परन्तु साथ-साथ मनको काबूमें लानेकी आवश्यकता नहीं समझता (अथवा उसमें वह शक्ति और निश्चय अभावमें) केवल मनके द्वारा अन्दर ही अन्दर विषयोंका मानसिक सेवन करता है। इससे उसका बाह्य निग्रह निष्फल और निरर्थक होता है। ऐसे मनुष्यको ही मिथ्याचार या मिथ्याचारी कहना चाहिये। उसकी दुर्बलता अथवा शिथिलता समाज देख नहीं सकता बल्कि समाज उसे संयमी या पुण्यात्मा मान लेता है। मिथ्याचारी स्वयं समाजको ठगना नहीं भी चाहता होगा बल्कि लज्जाके कारण अपनी मानसिक अवस्थाको प्रकट नहीं करता होगा। जिसलिये जब तक वह समाजमें भ्रम दूर नहीं करता तब तक उसे हम दम्भी न कहें यही अच्छा है। वह अपनी तरफसे समाजकी वंचना नहीं करना चाहता आत्म-वंचना भी नहीं करता होगा। वह दुर्बल अवश्य है और पापी भी है क्योंकि वह अपना अनहित करता है। उससे समाजका अनहित नहीं होता है सो भी नहीं।

जिन्द्रियोंका रोकथाम मनके द्वारा विषयोपभोग करनेसे शारीरिक मानसिक और नैतिक विकृतियां पैदा होती हैं, और समाजमें उनका रोग फैलता है। जिसीलिये मानसशास्त्री कहते हैं Desires eradicated or overcome give peace but desires suppressed breed

pestilence [illegible] [illegible] मानों [illegible] इनके रोग पैदा होते हैं।

मिथ्याचारी भले कभी न हो, परन्तु [illegible] दम्भी तो मिथ्याचारी होता ही है।

अद्रोह [१६–३]

√द्रुह् (जिघांसायाम्) किसीके बारेमें मनमें द्वेष और हिंसावृत्ति धारण करना, किसीका नुकसान चाहना।

राजद्रोह, प्रजाद्रोह, समाजद्रोह, आत्मद्रोह, दीनद्रोह, गुरुद्रोह, मित्रद्रोह (१–३८) अित्यादि द्रोहके अनेक प्रकार जाने हुअे हैं। द्रोहके अन्दर केवल हिंसावृत्ति ही रहती है। शास्त्रकारोंने देखा है कि देहधारीके जीवनमें कुछ न कुछ जीवद्रोह अथवा 'सूना' (हिंसा) आ ही जाते हैं।

धनी मनुष्य दीनोंका द्रोह करता ही है। हम सब ग्राम्य पशुओंकी सेवा लेते हैं, दुग्धादि लेते हैं, अिसलिअे हमारा पशुद्रोह तो अखण्ड चलता ही है। अैसे द्रोहको हटानेका अथवा घटानेका प्रयत्न करना ही जीवनकी सफलता है। अिसीलिअे कहा है कि 'अद्रोहसे अथवा अल्पद्रोहसे जीविका प्राप्त करनी चाहिये।' 'अद्रोह' काफी मात्रामें पाया जाता है सिर्फ सन्यासी और यतियोंके जीवनमें ही।

> अद्रोहेणैव भूतानाम् अल्पद्रोहेण वा पुनः।
> अजिह्माम् अशठां शुद्धां जीवेत् ब्राह्मण-जीविकाम्।
>
> (मनु ४–२, ११)

(मित्रद्रोह शब्द भी देखिये।)

अद्वेष्टा [१२–१३]

√द्विष् = वैर करना। द्वेष = वैर।

जो हमें दुःख देते हैं, जो हमारी अिच्छाके विरुद्ध चलते हैं, अथवा जिन्हें हम पराये और प्रतिकूल समझते हैं अुन्हींका हम द्वेष करते हैं। जिन मनुष्योंके स्वभावमें साम्य-बुद्धि आ गयी है वे किसीको

भी पराया नहीं समझता, अुनमें अपना कोअी निजी स्वार्थ नहीं होनेके कारण वे किसीका द्वेष नहीं करते। दुष्टोंके प्रति भी अुनके मनमें सदा अनुकम्पा रहती है या अुदासीनता अर्थात् अुपेक्षा — अिसलिअे वे द्वन्द्वभावसे रहित होते हैं। सर्वत्र आत्मभाव देखनेसे अथवा प्राणिमात्र विश्वरूपी हरिकी प्रजा है यह भाव दृढ़ होनेसे भक्त लोग द्वेषसे मुक्त रहते हैं। अद्वेष्टा अजातशत्रु भी कहते हैं। मैत्री करुणा मुदिता और अुपेक्षा अिन चार वृत्तियोंको योगशास्त्रमें 'चित्तप्रसादनम्' कहा है। बौद्ध परिभाषामें अिन्हें ब्रह्मविहार कहते हैं [ब्रह्मदेवके चार मुख भी शायद ये ही हैं]। अद्वेष्टा आदि गीतामें भक्तके जो लक्षण दिये गये हैं अुनमें ये सब आ जाते हैं।

अधर्माभिभव [१–४१]

√अभि+भू = बढ़ना आक्रमण करना। अभिभवका शब्दशः सामान्य अर्थ होता है पराभव (होना या करना) परन्तु यहां पर अर्थ होता है जोर पकड़ना बढ़ना या फैलना। अधर्माभिभव यानी अधर्म बढ़ जानेसे, अधर्मका आक्रमण होनेसे।

अधिकार [२–४७]

अधि+√कृ (करना)। अधिकार = किसी काममें नियुक्त होना, हुकूमत चलाना, सम्बन्ध, स्थान अित्यादि। अधिकारके क्षेत्रको भी अधिकार कहते हैं। मनुष्यका अधिकार कर्म करने तक ही सीमित रहना चाहिये। जो कर्म करेगा अुसका अुस कर्मके फलके अूपर कम या अधिक अधिकार तो रहता ही है। गीता अुसका अिनकार नहीं करती, किन्तु कहती है कि अुस अधिकारको छोड़ दो। गीता यह नहीं कहती कि तुम्हारा अधिकार नहीं है किन्तु यह कहती है कि जितना कुछ भी अधिकार हो अुसे अपने पास न रखो।

अध्यात्मचेता [३–३०]

जीवन-दृष्टिको अंग्रेजीमें View of life कहते हैं, Outlook on life भी कहते हैं। जिस दृष्टिसे या दृष्टिबिन्दुसे हम समग्र

जीवनकी ओर देखनेकी यही व्यापक जीवन-दृष्टि हमें मिलेगा। जीवन-दर्शनका अर्थ होता है — A systematic, comprehensive and unified *interpretation of the Totality known as life.*

'The Greek view of life' और 'The Hindu view of life' ये किताबें मशहूर हैं ही।

हरअेक मनुष्यकी दृष्टि जितनी शुद्ध और जितनी व्यापक होती है, अुतना ही अुसका जीवन-दर्शन सत्य, समृद्ध और सुस्थिर होता है। अुसका दृष्टिबिन्दु अगर गौण रहा तो अुसका जीवन-दर्शन तुच्छ और बोधशून्य होगा। अिसके विपरीत यदि अुसका दृष्टिबिन्दु सत्यके केन्द्रमें रहा तो वहांसे जीवनके सब अंग-प्रत्यंगों पर यथोचित प्रकाश पड़ेगा और अुसका जीवन-दर्शन 'अव्यय और समग्र' होगा।

आर्योंका निश्चय है कि 'अैसा दृष्टिबिन्दु आध्यात्मिक ही हो सकता है,' क्योंकि अुनके अभिप्रायके अनुसार आत्मा ही अेकमात्र सत्य है, वही सर्व-समर्थ और शुभकर है। अिसलिअे अध्यात्म-दृष्टिको ही वे सच्ची जीवन-दृष्टि मानते हैं। भगवानने गीतामें अध्यात्म-दृष्टिसे देखनेका ही अुपदेश दिया है। यदि जीवनको सदाचारी और धर्मको शुद्ध बनाना है, तो जीवनकी सब प्रवृत्तियां आध्यात्मिक मनसे — अध्यात्मचेतसा — चलानी चाहिये। 'अन्तरात्मा ही अिस विश्व-जीवनका नियंता है। अुसीका कार्य हमें करना है।' अैसा जिसका निश्चय हुआ, वह अपने सर्व कर्म अुसीको अर्पण करता है। अैसेकी अहंता और ममता नष्ट होती है, फलभोगका वह त्याग करता है और जो कुछ भी वह करता है, आसक्तिके ज्वरसे रहित होनेके कारण निर्दोष और बन्धनशून्य बनता है। अध्यात्म-दृष्टिकी यह महिमा है।

अध्यात्मम् [७–२९; ८–१, ३; ११–१]

'स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते' (८–३) प्रत्येक शरीरमें अन्तरात्मा-रूपी परब्रह्मका जो भाव है अुसे स्वभाव कहते हैं। अुसी स्वभावको गीताने अध्यात्म कहा है। अुपनिषद्में अध्यात्मके अनेक अर्थ हैं — देह, मन, व्यक्तित्व, अन्तरात्मा, परब्रह्म। अेक विद्वानने Personality के

अर्थमें अध्यात्म शब्द अिस्तेमाल किया है। यह शब्द जब अव्यय होता है तब अुसका अर्थ होता है आत्मा विषयक अथवा आत्मा-सम्बन्धी।

आत्मा परमात्मा और दोनोंका सम्बन्ध अित्यादि विषयोंकी मीमांसा जिसमें आती है अुसे अध्यात्म विद्या (१०-३२) कहते हैं। सब विद्याओंमें यह विद्या शिरोमणि है। जो लोग आत्माको ही परम-सत्य मानते हैं और अुसीको केन्द्रमें रखकर जीवन-योग सिद्ध करते हैं, अुन्हें अध्यात्म नित्य (१५-५) कहते हैं। जिनका मन अध्यात्म-परायण है (३-३०) वे ही जीवन-योगका यथार्थ स्वरूप सिद्ध कर सकते हैं। अिसीलिअे 'अध्यात्म ज्ञान नित्यत्वं'को ज्ञानका अेक लक्षण गिना गया है।

आत्मा तो प्रत्येक शरीरमें रहती ही है किन्तु प्राकृत लोग अुसे भूलकर शरीरको अपना समझते हैं और मन तथा अिन्द्रियोंके वश रहते हैं। जो ज्ञानी हैं वे आत्माको अपना स्वीकार कर अपना जीवनक्रम आत्माश्रित अनुकूल बना देते हैं। अैसोंको अध्यात्म नित्य (१५-५) कहना चाहिये।

अनन्यचेता [८-१४]

चेतस् = मन। जिसका मन अिधर अुधर दौड़ता है अेक ही बात पर स्थिर नहीं रहता है, अुसे अन्यमना अथवा अन्यचेता, absent minded कहते हैं। यह दोष जिसमें नहीं है वह 'अनन्यचेता' है। अपने ध्येयका ध्यान करनेमें जिसका मन अेकाग्र रहता है वही योगी है वही भक्त है। अैसा अेकाग्र ध्यान लगातार (सततम्) और शाश्वत तक हमेशा (नित्यशः) करनेसे भगवत् प्राप्ति सुलभ होती है।

केवल आध्यात्मिक ध्यानमें ही नहीं, किन्तु हरअेक काममें और हरअेक काजमें अेकाग्रताकी आवश्यकता है। जिस तरह बहिर्वृत्त (convex) काच (सूर्यकान्त मणि) के द्वारा सूर्य किरण अेकाग्र करने पर जबरदस्त तेज पैदा होता है, अुसी तरह मनको अेकाग्र करनेसे अलौकिक शक्ति पैदा होती है।

अनन्यभाक् [९–३०]

अनन्यभाक्‌का अर्थ होता है 'ऐकान्तिक'। जो मनुष्य अेक भगवानको छोड़कर और किसीकी शरण नहीं जाता, किसी दूसरेकी भक्ति नहीं करता वह अनन्यभाक् है। अैसा मनुष्य भी [illegible] पहले चाहे जितना दुराचारी क्यों न रहा हो, परन्तु अब अुसके सच्चे मार्ग पर आ जानेसे अुसकी प्रवृत्ति शुभ हो गयी है, जिसलिअे अुसे साधु ही मानना चाहिये। श्लोकमें जिस अर्थकी ओर [illegible] है — दुराचारीके लिअे भी अुज्ज्वल भविष्य हो सकता है और सदा पुण्यके लिअे भी हीन या गहरा भूलचूक हो सकता है।

अनन्ययोग [१२–६, १३–१०]

जीवनमें अनन्य-निष्ठा बहुत बड़ी चीज है। जो केवल अेक भगवानका ही आलम्बन लेकर चलता है अुसे अखण्ड शान्ति रहती है। यह सारा विश्व ही जिसका आद्य-अवतार है अैसे आत्म-देवका यानी आत्मारामका अेकनिष्ठासे ध्यान करना ही अनन्य-योग है। योगका अर्थ होता है लौ लगाना, ध्यान करना अथवा भक्ति करके भगवानसे अेकरूप हो जाना। अैसा अनन्य-योग जितना भक्तिमार्गमें आवश्यक है अुतना ही ज्ञानमार्गमें भी आवश्यक है। यही बतानेके लिअे भगवानने अनन्य-योगका अुल्लेख दोनों जगहों पर किया है।

अिस्लाममें भी अनन्य-योग पर सबसे अधिक जोर दिया गया है। अिस्लामकी बुनियादमें ही अीश्वरके अद्वैतका सिद्धान्त पड़ा हुआ है। 'अीश्वरकी भक्तिमें और किसीको या किसी चीजको शरीक मत करो' यह है अिस्लामका सबसे बुलन्द अुपदेश। और सब दोषोंकी क्षमा अिन्सानको मिल सकती है, किन्तु अेक और अद्वितीय अीश्वरकी निष्ठामें तनिक भी शिर्क या व्यभिचार हुआ कि मनुष्यका सम्पूर्ण नाश हुआ।

अनसूया [३–३१, ३२, ९–१; १६–१८; १८–६७, ७१]

'असूया'का अर्थ होता है अच्छे लोगोंके गुण सहन न होनेसे अुन्हें दोषरूपमें देखना; और अुनका बुरा चाहना। यह अत्यन्त हीन

वृत्तिका स्थान है। अच्छे रास्ते जो लोग जाते हैं अुनपर समाज पर जो प्रभाव पड़ता है अुसे देखकर जो आदमी जलता है वह अुनके गुणोंको भी दोषरूपमें देखता है और वैसा जाहिर करता है। डाह, अीर्ष्या, मत्सर और असूया ये सब कुछ हद तक भिन्न हैं किन्तु बहुत हद तक अेक-दूसरेसे मिलनेवाले दुर्गुण हैं।

जो स्वभाव या वृत्ति अिन दोषोंसे बिलकुल मुक्त है अुस वृत्तिको अनसूया कहते हैं। [जिस तरह पालीमें अनिरुद्ध का अनुरुद्ध हो गया है अुसी तरह हमारी देशी भाषाओंमें 'अनसूया' का अनसूया हो गया है।]

पुराणोंमें बताया है कि अत्रि ऋषिकी पत्नी अनसूयाके पेटसे ब्रह्मा, विष्णु, महेशकी त्रिमूर्तिका दत्तात्रेयके रूपमें जन्म हुआ। जो व्यक्ति अत्रि यानी गुणातीत है और जिसका अखण्ड सम्बन्ध अनसूया वृत्तिसे है वह परम शिवयोगी ऐसी तत्त्वका ही जन्म लेगा और वह तत्त्व चिन्तनमें ही अपना अर्पण यानी दान करेगा। यह बोध अथवा सिद्धान्त अिस पौराणिक कथासे हम पाते हैं।

औरोंका दोष ढूंढ़ते रहना यह स्वभाव कभी कभी बालकपटु मनस्विता रूप धारण करता है किन्तु मनुष्यको गिराता है। जब मनुष्य गुणोंको भी दोषरूपमें देखने लगता है तब अैसा मनुष्य अपनेको तो गिराता ही है किन्तु समाजमें अुसकी हस्ती भी शापरूप होती है। अिसलिअे अनसूया वृत्तिको अध्यात्म मार्गमें — आत्मोन्नतिके मार्गमें अत्यन्त महत्त्व बताया है।

अनहंवादी [१८–२६]

अहंवाद (यानी अहंकार) जिसमें नहीं है अुसे अनहंवादी कहते हैं। ज्योतिषशास्त्र कहता है कि बुध, शुक्र, मंगल, गुरु, शनि आदिके समान हमारी पृथ्वी भी अेक ग्रह ही है। और अुनके समान सूर्यके अिर्दगिर्द घूमती है। सूर्य स्वामी है और पृथ्वी परिचर है किन्तु चर्मचक्षुके अनुभवको सच्चा मानकर मनुष्यने पृथ्वीको विश्वका केन्द्र माना और सूर्यको भी चन्द्रके समान पृथ्वीकी परिक्रमा करनेवाला अेक परिचर मान लिया और अनन्त खगोलाकाशको अिस छोटेसे भूगोलके आसपास

घूमनेवाली ज्योतियोके रूपमे बता दिया। फलत मनुष्यका ज्योतिष-शास्त्र जटिल (अटपटा) और अयथार्थ हो गया।

जीवनमे भी जब मनुष्य अपनेको ही केन्द्रमे रखता है और अपना सुख-दु ख, लाभ-हानि सोचकर ही चलता है और अपना ही प्रभाव सिद्ध करनेकी कोशिश करता है, तब अुसकी जीवनविद्या भी भू-केन्द्रित ज्योतिष-विद्याके समान बेबुनियाद और व्यर्थ हो जाती है। अपनेको ही केन्द्रमे रखनेवाले आसुरी वृत्तिके लोगोको गीताने अहवादी कहा है। गीताके प्रारम्भमे दुर्योधन भी 'मदर्थे' का, अपने स्वार्थी हितका विचार करता है। अिस दोषसे जो मुक्त है वे दैवी वृत्तिके सात्त्विक लोग होते है। अुनकी श्रद्धा होती है कि सब कुछ करनेवाले हम नही है, भगवान ही है; और हमे जो जीना है वह भी अपने स्वार्थके लिअे नही किन्तु भगवानका कार्य करनेके लिअे ही।

अनामयम् [२–५१; १४–६], दुःखशोकामयप्रदाः [१७–९]

आमय कहते है रोगको। जिसमे मन रोगी अवस्थामे नही है अुस अवस्थाको सत्त्व कहते है। जो पुरुष मुक्त हुआ है अुसकी स्थिति भी अनामय है। रजोगुणकी प्रवृत्ति हर तरहके रोगोको प्रश्रय देती ही है। वासनाओसे मुक्त, अतअेव शात वृत्तिके मनुष्यका मन ही निरोगी रहता है। बाकी यह सारी दुनिया और यहाका मनुष्य-जीवन आमयमय ही है, अिसीलिअे तो अुसे दु खालय कहा है।

अनार्यजुष्ट [२–२]

अिसमे से 'आर्य' शब्दकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिये। भारतके अितिहासमे आजकल बताया जाता है कि 'आर्य नामक अेक वश था, जिसके लोग बाहरसे हिन्दुस्तानमे आये। अुनके पहले जो लोग अिस देशमें रहते थे अुनको अनार्यका नाम दिया गया। अुन्हे दस्यु भी कहते थे। विजेता अपनेको श्रेष्ठ समझे और जिन लोगोको जीते अुन्हे सस्कारशून्य, हीन समझे यह स्वाभाविक ही है।' किन्तु हमारे साहित्यमें आर्य और अनार्य ये दोनो शब्द जातिवाचक या वशवाचक

नहीं, किन्तु गुणवाचक पाये जाते हैं। वृत्तेन हि भवत्यार्यो न धनेन न विद्यया। जो सदाचारी है सज्जन है वह आर्य। आर्यता जिसने साधी है अथवा प्राप्त नहीं की है वह अनार्य। अैसे ही वंश या जातिमें पैदा होनेसे आर्य होगा या अनार्य होगा।

बौद्ध साहित्यमें आर्य और अनार्य शब्द गुणवाचक ही पाये जाते हैं, वंशवाचक नहीं।

आर्य वे हैं जो होश कम नहीं करते, दुराचरणसे परहेज रखते हैं, समय पर काम करते हैं, बहादुर होते हैं, आत्मसंयम सत्संगतिको ही पसन्द करते हैं, शासन करते हैं।

गीतामें आर्य शब्द अिसी अेक स्थान पर आया है और यहां पर वह गुणवाचक भी है।

अनिकेत [१२-१९]

निकेत अथवा निकेतन अर्थ होता है घर। अुसीको निकेत अथवा निकेतनम् भी कहते हैं। जैसे "शान्तिनिकेतन"। जो मनुष्य किसी खास घर या स्थानसे बंधा हुआ नहीं है वह अनिकेत है। अुसे अनगार अथवा अनगारिक भी कहते हैं।

मनुष्यके मुख्य बंधन हैं घर और पत्नी। अिन्हींके द्वारा गृहस्थाश्रम सम्पन्न होता है। पत्नीको भी गृह कहनेका रिवाज है। अनगारिक अथवा अनिकेत ये विशेषण परिव्राजक संन्यासीके लिअे योग्य हैं। किन्तु गीतामें भक्तोंके लक्षणमें अिस विशेषणसे अुपयोग किया गया है। अिसलिअे अिसका शब्दार्थ न लेकर किसी घरके साथ जिसकी आसक्ति नहीं है अितना ही अर्थ लेना चाहिये, यानी घरका स्वयं स्वामी होनेका भाव जिसके मनमें नहीं है और किसी विशिष्ट स्थानके साथ जिसका मन बद्ध नहीं है वही अनिकेत है।

महाभारतमें अेक ऋषिका वर्णन आता है, जो हमेशा पृथ्वीमें संचार करता रहता था। जहां शाम हो जाती अुसी स्थानको अपना घर समझकर वहां वह विश्राम करता था। अुसका नाम ही हो गया था 'यत्र-सायं-गृह मुनि'।

[क्या अैसा सिद्धान्त हम बना सकते है कि जिसका घर स्थिर हुआ अुसकी मति अस्थिर होती है और जिसका कोअी घर स्थिर नही है अुसीकी मति स्थिर होनेकी सभावना अधिक है?]

अनिर्विण्णचेतस् [६–२३]; निर्वेदः [२–५२]

अनुत्साह-शून्य यानी अुत्साहित मनसे। अनिर्वेद यानी अुद्वेग जिसमे नही है अैसा मन। निर्वेदका अर्थ होता है अुत्साहका अभाव, अरुचि या वैराग्य। विपादको भी निर्वेद कहा जा सकता है। वैराग्यके अर्थमे निर्वेद अिष्ट चीज है। अनुत्साह या अरुचिके अर्थमे निर्वेद दोष-रूप है। गीतामे अिस शब्दका प्रयोग दोनो अर्थोमें हुआ है।

योगकी साधना करते समय अनुत्साह आदि जो कषाय पैदा होते है, अुन्हे दूर करके अुत्साहपूर्वक योगकी साधना करनी चाहिये।

अनुद्विग्नमनाः [२–५६], अनुद्वेगकरम् [१७–१५]

दुःख प्राप्त होते हुअे भी जिसका मन प्रक्षुब्ध यानी अस्वस्थ नही होता अुसे कहते है 'अनुद्विग्नमना'।

सात्त्विक वृत्तिका मनुष्य जब किसीसे बातचीत करता है तव सत्य और हितकारी बोलते हुअे भी अैसे ढगसे बोलता है कि सुननेवालोको तनिक भी अुद्वेग पैदा न करे। अैसी वाणीके तपोयुक्त वचनको अनुद्वेगकर वाक्य कहते है। '**अनुद्वेगः श्रियो मूलम्**'।

मनुष्यको साधना द्वारा अैसी योग्यता प्राप्त करनी चाहिये कि प्रिय वस्तु प्राप्त हुअी तो हर्षमे वह अपना भान न भूले और अप्रिय या अनिष्ट वस्तु प्राप्त हुअी तो अुद्वेगके वश न हो जाय। हर्ष और विषादके वशमें जाना मनुष्यकी प्रतिष्ठाको शोभा नही देता (५–२०)।

मनुष्यको अपने जीवनमे अिस तरह चलना चाहिये कि न कोअी लोग अुसके आचरणसे सतप्त या क्षुब्ध हो—अुद्विग्न हो—और न वह स्वय किसीके आचरणसे या घटनासे अुद्विग्न हो जाय (१२–१५)।

हर्ष, अमर्ष (असहिष्णुता), भय और अुद्वेग ये चारो मनोवृत्तिया मनुष्यको अुसकी शानसे गिराती है, अुसे अप्रतिष्ठित करती है और अुसका मानसिक स्वास्थ्य नष्ट करती है।

अनुबंध [१८–२५, ३९]

Co-relation अनुबंधका एक अर्थ है आगेका भाग सिरा अथवा अन्त और दूसरा अर्थ है सम्बन्ध।

√बन्ध् (बन्धन) = बांधना जोड़ना बताना आकलन करना।
अनु + √बन्ध् = पीछे जाना जोड़ना विस्तार करना।

किसी एक घटनाके पीछे-पीछे जो दूसरी घटनायें आ ही जाती हैं अुन्हें अनुबंध कहते हैं। एक वस्तुका जिन जिन अन्य वस्तुओंके साथ निश्चित सम्बन्ध बना रहता है अुस सम्बन्धको अनुबंध कहते हैं। [किसी शास्त्रके अनुसार जब किसी एक वस्तुका ज्ञान देते हैं तब अुसके साथ अनुबद्ध दूसरी वस्तुओंका भी ज्ञान देनेसे मूल वस्तुका ज्ञान सम्पूर्ण होता है, उपयोगमें आता है, और अनुबद्ध वस्तुओंका ज्ञान आसानीसे हजम होता है और निरर्थक भार मालूम नहीं होता।]

न्यायशास्त्रमें चार प्रकारके अनुबंध बताये हैं। विषय प्रयोजन अधिकारी और सम्बन्ध ये हैं वे चार अनुबंध। कोअी भी कर्म करते समय अुसके परिणाम क्या क्या होंगे और कहां तक पहुंचेंगे यह देखना बुद्धिमानोंका काम है। ऐसा अनुबंध नहीं देखकर वह काम तामस गिना जाता है।

अनुमन्ता [१३–२२]

अनुमोदन देनेवाला। जो स्वयं कुछ नहीं करता किन्तु करनेवालेको अपना सन्तोष या खुशी बताकर प्रोत्साहन देता है, अुसे अनुमोदक या अनुमन्ता कहते हैं।

भगवान या अन्तरात्मा स्वयं कुछ न करता हुआ मन, अिन्द्रियादि जब कोअी कर्म करने लगते हैं तब अुनका निवारण नहीं करता, अुन्हें रोकता नहीं बल्कि तटस्थ साक्षीरूप रहता है। अिसलिअे भास होता है कि यह अुनके कर्मके अनुकूल है। अिसलिअे अुसे अनुमन्ता कहते हैं।

गीतामें अन्तरात्मा — महेश्वर — को अनुमंता कहा है। ईश्वरनिष्ठ भक्त भी अपना सारा कर्तव्य भगवानके हाथमें सौंपकर स्वयं निराग्रही रहता है। अुस समय भगवान अुससे जो कुछ कराता है

अुसमें अपनी ओरसे मानसिक और हार्दिक अनुगतिका भाव रखना और हमने सब कुछ भगवानके हाथमें सौंप दिया है अिस अर्पण-स्मृतिको जाग्रत रखना यही है भक्तकी साधना। अिस तरह भक्त भी अनुमता बन सकता है।

अनुशासितारम् [८–९]

शासनका अर्थ होता है अुपदेश देना, राज्य करना, नियमन करना, नियम बनाकर अुसके वशमे रखना। अिसीको अनुशासन कहते है। भगवान सम्पूर्ण विश्वका अनुशास्ता है। वह बोध भी देता है, नियमन करता है और तटस्थ रहते हुअे भी सबका अनुशासन करता है।

अनुस्मरणम् [८–७, १३]

अनुस्मरण अथवा अनुचिन्तन (८–८) का अर्थ होता है लगातार स्मरण, चिन्तन, मनन या ध्यान करना। जीवनकी विविध प्रवृत्तिया करते हुअे भी, भक्त अपना भगवत्-चिन्तन अेक क्षणके लिअे भी बन्द नही होने देता है। हिन्दू परिवारकी वहू घरका सब कामकाज करती है, अपनी आज्ञाकारितासे सास, ननद आदि सबको सन्तुष्ट करती है, तो भी अुसको अुत्कट और अखण्ड ध्यान अपने पतिका ही रहता है। अिसीलिअे अुसकी अुपमा भक्तोके अनुस्मरणके लिअे दी जाती है। दूसरी जो अुपमा दी जाती है वह भी वहूकी ही है। पनघटसे घडे भर कर वह अपने सिर पर रखती है और घर आते समय सारे रास्ते पर अपनी सहेलियोसे हास्य करते आती है, तो भी अुसका अखण्ड ध्यान सिर परके घडोका तोल सभालनेकी ओर ही रहता है। भक्तोका ध्यान-कौशल्य या अनुस्मरण अैसा ही रहता है।

अनेकजन्मसंसिद्धः [६–४५; ४–५ श्लोक भी देखिये]

'आत्मा है', 'आत्मा अमर है', 'कर्मका फल भुगतना ही पडता है' अिन तीन सिद्धान्तो पर विश्वास रखना आस्तिक्यका लक्षण है। भारतीय सस्कृतिकी यह बुनियाद ही है।

अिस तत्त्वको माननेके बाद पुनर्जन्मका सिद्धान्त आप ही आप फलित और साफ हो जाता है। गीताके अध्याय ४–५ में भगवानने स्पष्ट शब्दोंमें अिस पुनर्जन्मका सिद्धान्त मान लिया है। केवल कल्पनाके तौर पर नहीं किन्तु अपने ज्ञान और अनुभवके आधार पर।

अिस सिद्धान्तके अनुसार मृत्यु जीवनका पूर्णविराम नहीं किन्तु अेक स्वल्पविराम ही है। अेक जन्ममें हम जो कुछ भी करते हैं पाते हैं — साधनाके द्वारा सिद्ध करते हैं वह — अुसका सार — दूसरे जन्ममें वारिसी पूंजीके तौर पर हमें मिलता है और अुस पूंजीकी बुनियाद पर हम आगेका व्यापार कर सकते हैं। जीवन-शास्त्रका ज्ञान-समृद्धिका साधनानुभवका अेसा बड़ा पूंजीके कारण ही मनुष्य मोक्ष प्राप्त करनेकी आशा रख सकता है। अेक जन्मकी साधनाके द्वारा जो सिद्धि मिली वह दूसरे जन्मके लिअे साधनरूप बनती है। अिस तरह अनेक जन्मके प्रयत्नोंसे हम शुद्ध और सिद्ध हो जाते हैं। अिसीलिअे भगवान कहते हैं — पुण्यकर्मोंका नाश नहीं होता। और फिर बुद्धि क्रमागत संसिद्धि प्राप्त होती है। साधक संशुद्धकिल्बिष होकर परागतिको प्राप्त करता है।

अिहलोक और परलोक दोनों अेक-दूसरेके साथ संबद्ध हैं। दोनों मिलकर ही विशाल और सनातन जीवन संपूर्ण होता है और आखिरकार हरअेक जीवन सफलता प्राप्त करता ही है।

अन्तराराम [५–२४]

अन्तर (आत्मनि) अेव आराम: क्रीडा यस्य स:। जिसे अपने ही अन्दर सुख मिलता है वह। सुख और आराममें थोड़ा फर्क है। जब थकान दूर होनेके लिअे अुपाय हम करते हैं तब अुसे हम आराम कहते हैं। अन्तःसुख और अन्तराराम ये दो शब्द अिन्द्रियाराम (३–१६) के विरुद्ध हैं। अिन्द्रियाराम मनुष्य विषयोपभोगसे सुख पानेकी कोशिश करता है। योगी अिन्द्रियोंको छोड़कर केवल अपने ही हृदयमें आराम सुख पाता है। अिन्द्रियारामकी स्थिति छोड़कर अन्तराराम बननेका योगमार्ग ही गीतामें बताया है।

अन्तर्ज्योतिः [५–२४]

प्रकाशका जिसका साधन अन्दर ही हृदयमें है, अपनी अन्तरात्माको ही जिसने अपना प्रकाश बनाया है, अैसे मनुष्यको 'अन्तर्ज्योति.' कहते हैं। यह योगीका वर्णन है। जिसे प्रकाश बाहरसे नही लेना पडता है, जिसके अन्दर ही प्रकाश है, अैसा योगी 'अन्तर्ज्योति' है। बुद्ध भगवानने भी अपने अन्तिम अुपदेशमें अपने शिष्यको कहा था— 'आत्मदीपो भव'। दूसरे अेक कविने कहा है— "अपने अन्दरसे ही प्रकाश पाना आसान काम तो नही है किन्तु बाहरसे या दूसरे किसी भी तरहसे प्रकाश पाना बिलकुल ही अशक्य है।" यह बात जो समझेगा वह अपने अन्दरके ही प्रकाशको प्रज्वलित करनेमें लगेगा।

अन्तःसुख [५–२४]

जिसे सुख अन्दरसे ही मिलता है वह अन्तःसुख है, बाह्य पदार्थोंके साथ सन्निकर्ष साधकर भी जो अुदासीन है, बाह्य सुखोंकी जिसे रुचि नही रही है और जो अपना सारा सुख अन्दरसे ही पाता है, अैसा योगी अन्तःसुख कहा जाता है। अुसका सुख परावलम्बी न होनेके कारण वह पूर्णतया स्वतंत्र यानी मुक्त होता है।

अन्नम् [३–१४, १५–१४]

यह शब्द अद् धातुसे आया है, जिसका अर्थ है खाना, भक्षण करना। जो चीज खाने लायक है वह अन्न है। प्राण-धारणके लिअे या शरीरकी पुष्टिके लिअे जो खाया जाता है वह अन्न है। खानेके ढगका खयाल करके अन्नके चार विभाग किये गये है १ भक्ष्य— चबाकर खाने लायक, २ चोष्य—चूसकर खाने लायक, ३ लेह्य— चाटकर खाने लायक और ४ पेय—पीने लायक।

अिस तरह अन्न खाकर ही प्राणी जीते है और अन्नका ही लहू और शुक्र बनकर नये प्राणीकी अुत्पत्ति होती है। अैसे जीवनाधार अन्नकी अुत्पत्ति पर्जन्यसे होती है और पर्जन्य यज्ञके कारण ही हो सकता है। [यह कैसे होता है वह यज्ञ शब्दके विवरणमें देखा जाय।]

प्राण धारणके लिअे अन्नका भक्षण आवश्यक है। किन्तु यदि अन्नका अति भक्षण किया जाय तो वही अन्न मनुष्यको खा जाता है। (मनुष्यको ही अुद्देश्य अिसलिअे लिया है कि अन्य प्राणी अत्याहार या विरुद्धाहार करते अक्सर नहीं पाये जाते।) अुपनिषद्में अन्नकी निरुक्ति दी है

अद्यते अत्ति च भूतानि अिति अन्नम्।

अन्यदेवताभक्ता [७-२०, ९-२३]

अन्तरात्माको अर्थात् परमात्माको छोड़कर गौण स्वामीकी जो भक्ति करते हैं अुन्हें 'अन्यन्यासक्त' कहा है। गीतामें भगवान कहते हैं कि अेसे लोग भी मेरी ही भक्ति करते हैं किन्तु मेरी भक्तिकी विधिको और अपनी भक्तिवृत्तिका सच्चा स्वरूप वे नहीं जानते। अिसलिअे वे भजन पूजन और यजनके पूर्ण फलसे वंचित रहते हैं।

अिस्लामका सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त है कि अीश्वरके सिवाय दूसरा कोअी अीश्वर है नहीं। सामान्यतया अिसका अर्थ किया जाता है कि खुदा अेक ही होनेके कारण अुसके सिवा और किसीको खुदा मानकर अिबादत नहीं करनी चाहिये। अगर कोअी करता है तो वह सबसे बड़ा पाप करता है।

अेक मुस्लिम साधकने अिसी वचनका दूसरा रूप लिया है, जो गीताके वचनसे मिलता जुलता है और हृदयको पूरा सन्तोष भी देता है। अेक खुदाके सिवा और कोअी खुदा है ही नहीं यानी आप किसी भी खुदाकी अिबादत करने जायँ वह सच्चे खुदाकी ही अिबादत होती है। मनुष्य-जातिने आज तक किसी भी अेक खुदाकी पूजा नहीं की है जो सच्चे और अद्वितीय खुदासे भिन्न हो। किसी भी खुदाकी पूजा करने जायँ वह सच्चे खुदाकी ही अिबादत हो जाती है। क्योंकि दुनियामें अैसा कोअी भी खुदा माना या पूजा नहीं गया है जो सच्चे खुदासे जुदा हो।

गीतामें भगवान भी यही कहते हैं कि 'मुझे छोड़कर जो अन्य देवताकी भक्ति करते हैं वे गलत भले ही हों, किन्तु मेरी ही भक्ति

करते हैं—यह वस्तुस्थिति वे नहीं जानते तो क्या हुआ, मैं तो बराबर जानता हूं।"

अन्य देवताओंकी भक्ति करनेमें कौनसी न्यूनता आती है, वह भी भगवानने स्पष्ट किया है।

जो लोग अर्थार्थी है, सकाम भक्तिसे परे नहीं गये हैं, वे पुत्र, पशु, स्वर्ग, धन, मान, अधिकार अित्यादि कामनाओंके कारण मूढबुद्धि होते है, वे मुझ परमात्मा—अन्तरात्मा—को छोडकर अन्य देवताओंकी अुपासना करते है। अन्य देवताओंकी अुपासना आशुफलदायी होती है, लेकिन अुसका फल बिलकुल ही तुच्छ होता है तो भी हृदयमें भक्तिका अुदय होनेके कारण वे क्रमश भगवानके नजदीक ही जाते है।

अपरा [७–५]; परा [३–४२; ७–५]

अपरा—निकृष्टा, अशुद्धा, अनर्थकारी, ससारबन्धनात्मिका। पच महाभूत, मन, बुद्धि और अहकार ये आठ तत्त्व मिलकर अपरा प्रकृति होती है। अिससे अलग आत्मभूत अर्थात् जीवभूत परा प्रकृति है, जिसे क्षेत्रज्ञ भी कहते है। यह प्राणके लिअे आधारभूत परा प्रकृति पिंड और ब्रह्माड दोनोका धारण करती है। सामान्य तौर पर 'पर'का अर्थ होता हे श्रेष्ठ, अूचा, दूसरा, परेका। अपरका अर्थ भी हो सकता है दूसरा, बेनमून, श्रेष्ठ। किन्तु अुसका सामान्य अर्थ है नीचेका, पीछेका, दूरका। परा शब्द गीतामें गति, शान्ति, सिद्धि, भक्ति, अैसे शब्दोंके विशेषणके तौर पर आया है। वहा पर अुसका अर्थ श्रेष्ठ, परम, अथवा अूची अितना ही होता है। 'पर'का अर्थ सूक्ष्म भी होता है (३–४२)।

अपरिग्रह [६–१०]; परिग्रह [१८–५३]

√ग्रह (अुपादाने) पकडना, धारण करना, लेना। परिग्रहके अनेक अर्थ है। जिस किसी भी वस्तुको हम अपनाते है, पकड कर रखते है, वह हमारा परिग्रह है। सबसे पहला परिग्रह है हमारा शरीर। धन,

माल-मत्ता अस्टेटको भी परिग्रह कहते हैं। शादी विवाह भी परिग्रह है। पत्नी परिग्रह है। पतिको परिग्रहीता कहते हैं। लड़कोंको गोदमें लेनेवाले पिताको भी परिग्रहीता कहते हैं। दान लेनेको भी परिग्रह कह सकते हैं, किन्तु अुसके लिअे खास शब्द है प्रतिग्रह।

मनुष्य मानता है कि परिग्रह बढ़ानेसे अुसका सामर्थ्य बढ़ता है, अुसके सुखमें वृद्धि होती है। किन्तु अनुभव कहता है कि परिग्रह बढ़नेसे स्वतन्त्रता कम होती है, चिन्ता और बन्धन बढ़ते हैं और हमारे व्यक्तित्वका संकोच होता है। किसीने सही कहा है — 'Our possessions possess us.' अिसलिअे जो आध्यात्मिक स्वतन्त्रता चाहता है अुसे चाहिये कि सब परिग्रह छोड़ दे और सर्वत्यागी बने। बाह्य परिग्रह पूर्णतया नहीं छूटते हैं। किन्तु अुन्हें जहाँ तक हो सके कम करना चाहिये और आसक्तिरूपी आन्तरिक परिग्रहको तो बिलकुल शून्य करना चाहिये।

शरीर धारणके लिअे अेवं धर्म अनुष्ठानके लिअे बाह्य परिग्रह रखा जाता है, अुसे भी प्रयत्नपूर्वक कम करना ही योग्य है। अिसी अपरिग्रह-वृत्तिसे कहा गया है

धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वरं तस्य निरीहता।
प्रक्षालनात् हि पंकस्य दूरात् अस्पर्शनं वरम्॥

अपलायनम् [१८–४३]

पलायनम् यानी भाग जाना, हिम्मत हारकर हट जाना। क्षत्रियोंका मुख्य धर्म है युद्धमें मुँह नहीं मोड़ना। प्रतिकार करनेका समय आने पर कायर बनकर अन्यायकारीके सामने सिर नहीं झुकाना।

अिसका अर्थ यह नहीं है कि शत्रुका बल बढ़ने पर, बाजी अुलटने पर अथवा प्रतिकूलता टालनेके लिअे क्षत्रिय अपना व्यूह न बदले। पलायनका अर्थ होता है हिम्मत हारकर प्रतिकार-वृत्तिका त्याग करना — शत्रुओंके प्रति पराङ्मुख होना, पीठ दिखाना। क्षत्रियोंके लिअे यह लज्जाकर है।

लडाअीमें अकसर पाया गया है कि लडनेके समय या व्यवस्थित ढगसे पीछे हटनेके समय जितनी मनुष्य-हानि नही होती है, जितनी हिम्मत हारकर, घबराकर, अव्यवस्थित भगदड मचनेसे होती है। अुस भगदडको ही गीताने पलायन कहा है।

अपहृतचेताः [२-४४]

जिनकी बुद्धि चुराअी गअी है, जिन लोगोंके मनमें वासना भरी है और अपने सुखान्त भागके जो लोभी है, अैसे लोगोकी रोचक वाणीमें जो फस गये है और फलत. जिनकी विवेक-बुद्धि गुम हो गयी हे अैसे लोगोका यहा अल्लेख है।

अैसे लोगोकी बुद्धि व्यवसायात्मिका यानी स्थिर नही हो सकती है।

अपुनरावृत्तिः [५-१७]

पुनर्जन्मको पुनरावृत्ति कहते हैं। अपुनरावृत्तिका अर्थ होता है— मोक्ष, पुनर्जन्मसे मुक्ति, देह-बन्धनसे सदाके लिअे मुक्त होना। जब तक मनुष्यकी वासना नष्ट नही होती, अहकार नही जाता, मैं कर्ता हू यह भ्रम दूर नही होता, तब तक कर्मोंके बन्धनोके कारण अुसे बार-बार जन्म लेना पडता ही है। जब वह अहकार छोड देता है, कामनाओके सकल्पोसे मुक्त हो जाता है, और ज्ञानाग्निके द्वारा अपने पूर्व पापोको जला डालता है, तब वह पूर्णतया अीश्वराधीन बनकर बार-बार जन्म लेनेकी झझटसे छूट जाता है।

अपुनरावृत्तिका अेक नया अर्थ भी कर सकते हैं। आवृत्ति अथवा आवर्तनका अर्थ होता है किसी कामको बार-बार करना — *repetition* करना। कोअी काम जब तक कुशलतासे नही कर सकते है तब तक अुसे अधिकाधिक ध्यानसे बार-बार करना ही पडता है। चोरी करनेवाला सजा पानेके क्षणमें तो पश्चात्ताप ही करता है, किन्तु अगर वह पश्चात्ताप कच्चा रहा तो चोरी करनेकी वृत्ति फिरसे जागृत होगी और फिरसे सजा पाकर ही अुसका चित्त कुछ हद तक चोरीसे विमुख होगा। *मनुष्य बार-बार जन्म लेता है अिसीलिअे कि अुसकी जीवन-दृष्टि* कितनी गलत है अिसके विषयमें अुसकी प्रतीति दृढ नही होती है।

जीवन-स्वामी अुसे हर तरहका प्रमाद करनेकी स्वतंत्रता देता है। जब अिस तरहके मीठे और कड़वे अनुभव लेकर अुसको निश्चय होता है कि अीश्वर ही सत्य है, अुसकी शरण जानेमें ही कृतार्थता है, तब मनुष्यके सब प्रमाद खतम होते हैं और शिक्षा पूरी होकर वह अुन्नत स्थितिको प्राप्त करता है। अन्तर्गुरु [illegible] जाने पर कोअी खाड पाटनेका काम नहीं रहता।

अपैशुनम् [१६–२]

जो मनुष्य दूसरोंके छिद्रोंको ढूंढता है और अुन छिद्र प्रगट करनेमें जिसे आनन्द होता है अुसे पिशुन कहते हैं। किसीकी निन्दा करना, चुगली खाना यह अुसका स्वभाव ही होता है। असे मनुष्यमें दुष्टताकी जितनी मात्रा होती है अुससे अधिक होता है हीनभाव। परन्तु असा आदमी किसीके पीठ पीछे ही अुसकी निन्दा करता है और छिद्र प्रगट करता है। असा करनेसे समाजमें अुसकी प्रतिष्ठा घटती है और अन्तमें अपने हृदयके सामने भी वह अपमानित होता है। समाजमें प्रतिष्ठा खोनेसे मनुष्यका अुतना नुकसान नहीं होता है जितना अपने हृदयके सामने सम्मान खोनेसे होता है। असे मनुष्यको शेर या भेड़ियेकी अुपमा नहीं दी जाती। पासमें छुपकर किसीके पैरको काटनेवाले सर्पकी ही अुपमा अुसे योग्य होती है। अिसीके लिअे कविने कहा है

अहो खलभुजङ्गस्य विचित्रोऽयं वधक्रमः।
अन्यस्य दशति श्रोत्रं अन्यः प्राणैर्वियुज्यते॥

समाजमें दुष्ट और क्रूर लोगोंके प्रति अितनी घृणा और अितना तिरस्कार नहीं होता है जितना पिशुनके प्रति होता है।

कभी कभी पिशुन मनुष्य अपने मनमें मानता है और कहता भी है कि 'मैं सत्यकी ही सेवा कर रहा हूं, असा कटु कर्तव्य करनेके लिअे समाजको मुझे धन्यवाद देना चाहिये परन्तु अुसकी जगह लोग मेरी निन्दा करते हैं, असी निन्दा सहन करके भी मैं कठोर और नम्र होकर सत्यको प्रगट करता हूं यह मेरी वीरता है, मेरा बलिदान है।

अन्य लोग सत्यनिष्ठाको शिथिल करके और अपनी भलाओी दिखानेके लिअे चुपकी साधकर बैठ जाते हैं। अिसलिअे दुर्जनोको अवकाश मिलता है और हमारे जैसे सत्य-सेवक समाजमे कम होनेके कारण हमें अुनकी कद्र सहन करना पड़ती है। और समाज भी कैसा विचित्र है कि हमारी सेवासे लाभ भी अुठाता है और हमें हीन भी लेखता है।"

सच्ची कसौटी यह है कि मनुष्य पहले यह सोचे कि पर-छिद्रका अुद्घाटन करनेकी सचमुच आवश्यकता है या नही और छिद्र खुला करनेका, प्रकट करनेका अुसे अधिकार है या नही।

पिशुनके गुणको पिशुनता कहते हैं। जिस समाजमें पिशुनता वढती है और सर्व-सामान्य बनती है, अुस समाजका अुत्कर्ष कभी भी नही होता। अुसके सब सद्गुण मटियामेट हो जाते हैं। अिसीलिअे पिशुनताको असामाजिक वृत्ति कहा है। दैवी वृत्तिवाले समाजमे अिस दोपका अभाव होता है। 'अपैशुनम्' दैवी सपद्का अेक मुख्य लक्षण है।

अपोहनम् [१५–१५]

√अूह (वितर्के) — धातु परसे यह शब्द आया है। कल्पना या अनुमान करना, अेक तर्कके विरुद्ध दूसरा तर्क करना — यह अुसका स्वरूप है। किन्तु गीतामें अपोहनका अर्थ होता है अभाव। स्मृति और अुसका अभाव, ज्ञान और अुसका अभाव, अिन सबकी अुत्पत्ति मुझसे होती है अैसा भगवानने कहा है। जो लोग पुण्यकर्मा हैं अुनका ज्ञान और अुनकी स्मृति वढती है। जो पापकर्मा हैं अुनका ज्ञान भी नष्ट होता है और अुनकी स्मृति भी गायव होती है। गायव होनेको ही अपोहन कहते हैं।

[भगवानकी यह कितनी कृपा है कि घायलको जिस तरह दु.ख असह्य होने पर भगवान सज्ञाशून्य (वेभान) करता है, अुसी तरह पापीको वचानेके लिअे अुसे भगवान ज्ञान और स्मृति दोनोसे वचित करता है।]

अप्रवृत्ति [१४-१३], निवृत्ति [१४-२२, १६-७, १८-३०], प्रवृत्ति [११-३१, १४-१२, २२, १५-४, १६-७, १८-३०, ४६]

√वृत् (वर्तते) होना बनना रहना। प्रवृत्तिका अर्थ होता है उद्योग क्रिया यत्न, आरम्भ प्रगति, प्रवाह। और अप्रवृत्तिका अर्थ होता है प्रवृत्ति नहीं करना, या क्रियाका रुकना। प्रवृत्तिका विरोधी शब्द है अप्रवृत्ति। निवृत्तिमें क्रियाका अभाव नहीं है, किन्तु क्रियाका परिवर्तन है। निवृत्तिपरायण मनुष्य निष्क्रिय नहीं रहता है किन्तु प्रवृत्तिसे छूटनेकी प्रवृत्ति करता है। अप्रवृत्त मनुष्य तमोगुणको ही बढ़ाता है।

प्रवृत्ति यानी आगे बढ़ना और निवृत्ति यानी अपने स्थानकी ओर लौटना। दोनोंमें चलना तो है ही। अंग्रेजीमें जिसे evolution कहते हैं वेदमें जिसे विसृष्टि कहा है उसीको प्रवृत्ति भी कहा जा सकता है। अगर प्रवृत्ति evolution है तो निवृत्ति involution है। दोनों मिलकर अेक चक्र पूरा होता है। प्रवृत्ति अगर उलझन पैदा करती है तो निवृत्ति उसीको सुलझाती है। प्रवृत्ति अगर बोनेका काम करती है तो निवृत्ति फसल काटकर कोठारमें भर देती है। जो आसुर वृत्तिके लोग हैं वे प्रवृत्ति निवृत्तिका यह रहस्य नहीं जानते। जिसलिये उनका जीवन प्रयोजन-शून्य होता है। जो योगी है वह न तो अकेली प्रवृत्तिको महत्त्व देता है न अकेली निवृत्तिको। जो गुणातीत है वह दोनोंकी ओर उदासीन रहता है।

अफलप्रेप्सु [१८-२३], अफलाकाङ्क्षी [१७-११, १७]

फलकी प्रेप्सा यानी तृष्णा यानी लिप्सा जिसे है उसे फलप्रेप्सु कहते हैं। असी तृष्णासे जो मुक्त है वह है अफलप्रेप्सु। जो मनुष्य स्वार्थरहित है अनासक्त है, ज्ञानयोगी है वह अफलप्रेप्सु होता है। उसीको कर्मयोग सिद्ध होता है। फलप्रेप्साको फलाकाङ्क्षा भी कहते हैं। अैसी काङ्क्षा या आकाङ्क्षा जिसने छोड़ दी है वह अफला-काङ्क्षी है। असेका किया हुआ यज्ञ अथवा तप सात्त्विक ही हो सकता है।

अबुद्धि [७–२४]

अबुद्धिका यहा अर्थ होता है अैसे अज्ञानी मूर्ख लोग जिनमें बुद्धि नही है। गीतामे अिस शब्दका यही अर्थ आया है। अबुद्धिका सामान्य अर्थ है बुद्धिका अभाव, अज्ञान। हमारे देशमे ज्ञानका प्रचार कम होनेसे और अन्ध रूढि तथा वहमोका साम्राज्य वढनेसे देशमें सर्वत्र अबुद्धिका रोग फैला हुआ है। पढे हुअे लोगोमे भी यह कम नही है।

बुद्धि [२–३९, ४९ अित्यादि]

√बुध (बोधने) जानना, समझना। बुद्धिका अर्थ होता है समझनेकी शक्ति, जानी हुअी बातोके बारेमे निर्णय करनेकी शक्ति। निश्चयात्मक-वृत्तियुत अन्त करणम् = बुद्धि । गीतामे बुद्धि तीन प्रकारकी बताअी है — सात्त्विकी, राजसी और तामसी (१८–३०, ३१, ३२)। अिस बुद्धिके सात गुण बताये जाते है

शुश्रूषा, श्रवणं चैव, ग्रहणम् धारणं तथा ।
अूहापोहोऽर्थविज्ञानं, तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः ॥

अिस बुद्धिको नष्ट करनेवाले बारह दोष बताये गये है

शोकः क्रोधश्च लोभश्च कामो मोहः परासुता ।
अीर्ष्या मानो विचिकित्सा हिंसाऽसूया जुगुप्सता ॥

बुद्धिनाशः [२–६३]

बुद्धिनाशके जो अनेक कारण बताये है अुनमे गीताने बुद्धिनाशका कारण स्मृति-भ्रंश बताया है। (स्मृतिका अर्थ होता है जागृति, alertness, memory, विवेक)। अिसके नाशसे बुद्धिनाश होना स्वाभाविक है। (विशेष विवेचनके लिअे ‘बुद्धियोग’ शब्द देखिये।)

अभक्तः [१८–६७]; **भक्तः** [४–३ अित्यादि]

√भज् (सेवायाम्) सेवा करना, पसद करना, आदर करना, आश्रय लेना। अभक्त वह है जिसके मनमे भगवानके प्रति या गुरुओके प्रति भक्ति नही है। अैसेको आत्मज्ञान देनेसे वह अुसका दुरुपयोग ही करता है, और रहस्य नही पा सकता।

अगर कोई वध या हिंसा करनेको कहना जाय कि मैं ही वधकर्ता हूँ तो यह बड़ाभारी पागलपन होगा। और लोगोंके मनमें अपने प्रति अश्रद्धा हो सकेगी। लेकिन जरा इसका या विनयके कारण अपना स्तुति न करोगे तब भी कभी कभी पचगये हुअे सरीखा कह सकता है कि आपके सबका निवारण करनेका सामर्थ्य मुझमें है। आप निश्चिंत रहिये। मैं आपका अनन्य शरणागत बच्चा ही। अगर आत्मविश्वासके वचन अपना अभिमान प्रकट करनेवाले मालूम हो पड़े जा सकते हैं अविनयवाले रहे। अपने गुण या सामर्थ्यका कथा कहना पातक तो है लेकिन स्वयं भगवानने अर्जुनको अपने विषय आत्मश्लाघाकी बात कही है। अससे ज्यादा ऊंची बात नहीं हो सकती। यह तो अिस बातमें आत्मश्लाघाका दोष हो लगता।

अभयम् [१०-४, १६-१], भयाभये [१८-३०]
भयम् [१०-५, १८-३५]

√भी (भय) डरना चिन्तित होना। चित्तकम्पनम् भयम्। वैक्लव्यम् अस्थिरत्वम्। अनिष्टकी आशंका और अपना अपाय नहीं हो जाय इससे होनेवाली अस्वस्थताको भय कहते हैं। जिसको आग्रह भय पैदा होता है उसे टालनेकी वृत्ति भयमें विशेष होती है। जहां शान्ति पैदा हुआ वहां प्रीति आसक्तिता नष्ट हुआ। अुपनिषद्में कहा है "द्वितीयाद् वै भयं भवति", यहां दूसरी या भिन्नता है वहां भयका कारण है ही। अिसलिये सच्चा अभय अद्वैतमें ही है। दाहिना हाथ बायें हाथसे नहीं डरता अिसलिये कि दोनों अेक शरीरके होनेके कारण दोनोंमें अैक्य है।

अभय दो प्रकारका है (१) मैं किसीसे न डरूं (२) मुझसे कोई डर सके अैसा कारण मैं नहीं दूं (१२-१५)। श्रद्धा सिद्धिके द्वारा ही यह अभयता पैदा हो सकता है। जहां देह-बुद्धि है वहां निद्रा, राग भय और क्रोध रहते ही (२-५६ ४-१० ५-२८)। जिन तीनोंके चले जानेसे मनुष्य मुक्त होता है। अुसीका चिन्ह अवस्था

कहते है। भयकी बुनियादमे अहंता और ममता होती है। अिसीको देह-बुद्धि कहते है।

अभिक्रमः [२–४०]

अभिक्रमका अर्थ होता है किसी चीजकी ओर जाना, किसी कार्यका प्रारम्भ करना। कअी कर्म अैसे होते है कि जिन्हे आरम्भ करनेके बाद अन्त तक ले जानेसे ही अुनका फल मिलता है। बीचमें छोड देनेसे सारीकी सारी प्रवृत्ति बेकार हो जाती है। खेती करने लगे और बीचमे ही छोड दी तो बीज भी नष्ट हुआ और जमीन भी बिगड गयी और हाथमें कुछ नही आया अैसा होता है। दूसरी चन्द प्रवृत्तिया अैसी होती है जो जितनेका अुतना ही फल देती है, जैसे पानी पप करनेकी या कपडा धोनेकी प्रवृत्ति। जितना किया अुतना फल मिल गया। मोक्ष-प्राप्तिकी दृष्टिसे जो कर्म किये जाते है अुनका और फल कुछ भी हो, चित्त-शुद्धिका फल तनिक भी खतरेमें नही रहता। जितना किया अुतनी चित्त-शुद्धि हो गयी। अुसमे नुकसान कुछ भी नही होता। थोडेसे कर्मका भी महान फल मिलता है। बडे सकटमे हम बच जाते है, क्योकि अुसमे कर्मके प्रारभका अभिक्रम-नाश नही होता है।

अभिजातः [१६–३, ४, ५, १५]

अभिजात यानी जन्मा हुआ। गीतामे दैवी और आसुरी अैसी दो सम्पद् यानी सस्कृतिया बताअी है। जिसका जन्म दैवी सम्पद्मे हुआ है अुसके गुण अलग होते है। आसुरी सम्पद् लेकर जो जन्मा हुआ है अुसके गुण अलग होते है। असली 'अभिजात' शब्द अितना ही अर्थ बतलाता है कि जन्मा हुआ, किन्तु आगे जाकर अुसका अर्थ होता है अच्छे सस्कारके साथ जन्मा हुआ यानी सस्कार-सम्पन्न।

'अभिजात वाङ्मय' जैसे शब्द-प्रयोगमे अभिजातका अर्थ होता है सुरुचि-युक्त, श्रेष्ठ वाङ्मय, 'Classical literature'। अिसी शब्द परसे आभिजात्य शब्द आया है जिसका अर्थ है सस्कारिता। परम्परागत खानदानमे जिसका जन्म हुआ है अुसे 'अभिजनवान्' कहते

है। आसुरी सम्पत्तिमें जन्म लेनेवालोंको अभिजनवान मानकर और धनाढ्य मनुष्योंको नजरमें हाम्भाण बनो है।

अभ्यासयोग [६–३५, ८–८, १२–९ १० १२, १८–२६] पूर्वाभ्यास [६–४४] अभ्यासेन [१७–१५]

अभ्यास यानी पुनरपि पुनरावर्तन अध्ययन गुणाकार सामान्य ध्यान आदत रिवाज।

अभि + √अस जाना बार बार करना। किसी चीजको बार बार करनेसे असरा करना आसान होता है उसमें कुशलता आती है गुण होता है और इसके कारण वह स्वभावका अंग बन जाता है। अभ्यासका महत्त्व कलाके अनुशीलनके लिए और चरित्र-गठनके लिए बहुत है।

अभ्यासो नाम चित्तभूमौ कस्यांचित् समानप्रत्ययावृत्ति चित्तस्य। अभ्यासके द्वारा हम चित्तको किसी वस्तुमें जिस तरह भर देते हैं कि अन्य किसी वस्तुका वहां स्थान ही नहीं मिलता।

चित्तस्य एकस्मिन आलम्बन सर्वत समाहृत्य पुन पुन स्थापन अभ्यास, तत्पूर्वको योग समाधानलक्षण अभ्यासयोग।

चित्तको सब ओरसे खींचकर बार बार एक ही अवलम्बनमें स्थापित करनेको अभ्यास कहते हैं। इस अभ्यासरूपी योगसे समाधान होता है समाधि सिद्ध होती है। इस अभ्याससे प्राप्त की हुई सिद्धि जन्मान्तरमें भी काममें आती है (६–४४)।

अभ्यासकी यह असाधारण शक्ति समझकर मनुष्यको चाहिये कि अगर भूलसे कोई बुरा काम हो गया हो तो उसका पुनरावर्तन न करे बुरी वासनाको मनमें बार बार न लावे—यहां तक कि पश्चात्तापके नामसे भी बुराईको और कुवासनाको बार बार स्मरण न करे।

अमानित्वम [१३–७], अतिमानिता [१६–३]

√मान् (स्तम्भे पूजायाम) गर्व करना, किसीका बहुमान करना। मान यानी अभिमान, गर्व। अत्यय मान अतिमान आत्मन श्लाघनम

मानित्वम् तत् अभाव अमानित्वम् अर्थात् नम्रता, आत्मस्तुतिका अभाव।

जिस तरह आत्मश्लाघा बुरी है अुसी तरह आत्मनिन्दा भी बुरी है। अिसीलिअे कहा है—'न आत्मान अवसादयेत्'।

अमृतम् [२–१५, ४–३१, ९–१९; १०–१८, १२–२०; १३–१२, १४–२०, २७; १८–३७, ३८]

'मृ' यानी मरना। मरे हुअेको मृत कहते हैं। मृत्युसे जो मुक्त हो गया है अुसे अमर कहते हैं। जिस साधनके द्वारा अमरता प्राप्त होती है अुसे अमृत कहते हैं। पौराणिकोंका कथन है कि स्वर्गवासियोंको 'अमृत' नामक स्वादिष्ट पेय मिलता है जिसके सेवनसे सुख तो होता ही है, किन्तु अिसके अलावा जरा और मरण दोनों टल जाते हैं।

अिस परसे जो चीज रोचक भी है और हितकर भी है अुसे अमृतकी अुपमा देते हैं।

श्रीकृष्णके अुपदेशको 'धर्म्यामृतम्' कहा है। द्वन्द्वरहित सर्वहितकारी अनासक्त, साम्यवृत्तिको स्वय भगवानने 'धर्म्यामृत' कहा है। स्मृतिकार कहते है कि प्राणियोका द्रोह किये विना और जिनकी सेवा करना आवश्यक है, अुनकी पूर्ण सेवा करनेके वाद जो कुछ खानेका हम पाते हैं वह अमृत है। (अिसी सिलसिलेमें 'विघस' शब्द देखने लायक है।) गीताका कहना है कि जो वुद्धिमान मनुष्य सुख-दु ख दोनोसे पर हुआ वह अमृतत्व-प्राप्तिका, मोक्षका अधिकारी वना।

गीतामे अमृत शब्द भिन्न भिन्न अर्थोमे आया है। जव स्वर्गीय अश्व अुच्चै श्रवाको अमृतोद्भव कहा है तव अुसका अर्थ यह नही कि अमृतमे से यह घोडा पैदा हुआ है। अमृत-प्राप्तिके लिअे देव-दानवोंने जो समुद्र-मथन किया अुसमे से अिस घोडेकी अुत्पत्ति हुअी थी। अिसलिअे अमृतोद्भवका अर्थ अमृतमे से पैदा हुआ अैसा न करके 'अमृतके साथ पैदा हुआ' अैसा करना चाहिये।

नौवे अध्यायमें अपना स्वरूप या अपनी विभूति समझाते हुअे जव भगवान कहते है कि मैं सत् भी हू और असत् भी हू, मैं अमृत

भी हूँ और मृत्यु भी हूँ तब शंकराचार्य अर्थ करते हैं कि देवोंकी अमरता और मानवोंकी मरणशीलता दोनों मैं हूँ। अथवा अिस श्लोकका सम्बन्ध देखकर हम व्यापक अर्थ कर सकते हैं कि अिस विश्वमें जो अमृत यानी अविनाशी तत्त्व है वह भी मैं हूँ और जो अस्थायी क्षणभंगुर तत्त्व है वह भी मैं हूँ।

जानने लायक वस्तुओंमें सबसे श्रेष्ठ तो आत्मतत्त्व है, जिसे जाननेसे मनुष्य अमर तत्त्वको प्राप्त होता है। यहाँ अमर तत्त्वका अर्थ केवल इतना ही नहीं है कि वह फिरसे नहीं मरता। अिस अर्थमें परम ज्ञानी तो मर चुके हैं। पुराणोंमें जिन सात व्यक्तियोंको चिरंजीवी बताया है वे भी जीवित रूपमें नहीं [illegible] पड़ते। स्वयं कृष्णको भी अवतारलीला समाप्त हो जाने पर देह छोड़ना पड़ा। अिसलिअे मृत्यु और अमरताका दूसरी ही भूमिका पर जाकर अर्थ करना चाहिये।

आत्मा अमर है। किन्तु आत्माको भूल जाना, अपने आत्मतत्त्वकी विस्मृति होना यही महान और दीर्घ काल तक चालू रहने वाली मृत्यु है। आत्माका सार्वभौमत्व और प्रभुत्व भूलकर देहके बन जाना, वासनाओंकी भूमिका पर अुतर जाना यही मृत्यु है। अिसी मृत्युसे कुछ समयके लिअे नहीं किन्तु स्थायी रूपसे मुक्त होना यही अमृतत्व है।

परमात्माका साक्षात्कार होने पर मनुष्यको जो अलिप्तता, अनासक्ति और स्वतन्त्रता प्राप्त होती है, तीन गुणोंके बाहर जो स्थिति मिलती है वही अमृतत्व है (१४–२०)। अैसी अमरता प्राप्त होने पर हम जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा और विविध प्रकारके दुःख आदि सब अनर्थोंसे विमुक्त हो जाते हैं।

भगवान जब अपनी विभूतियोंका वर्णन करते हैं तब अर्जुन भगवानकी वाणीको ही अमृत कहता है। अुस अर्थमें सारी गीता ही जाननेका परमामृत है।

(सब मानते हैं कि अमृत कोअी स्वादिष्ट चीज है और बड़ा दुष्प्राप्य है किन्तु गीताने सात्त्विक सुखकी व्याख्या की है वही अमृतत्व

लिअे त्याग् करनी चाहिये। अमृतका स्वाद जहरके समान कडुआ है और अुसका फल अत्यन्त मीठा है। अिस अमृतकी मात्रा दुष्प्राप्य नही है, किन्तु अुसके सेवनकी हिम्मत रखनेवाले पानवीर ही मुश्किलसे पाये जाते है।)

अयज्ञः [४–३१]; **यज्ञः** [३–९, ४–२३ से ३२; १७–११, १८–५]

√यज् (देवपूजा-सगतिकरण-यजन-दानेषु) यज्ञ करना, आहुति देना, पूजा करना, सम्बन्ध रखना, दान करना। यज्ञका असली अर्थ है कर्तव्य-भावसे अर्पण करना, स्वार्थत्याग करना। प्राचीन कालमे अग्निको प्रज्वलित करके देवताओके नामसे अुसमे आहुति देनेको यज्ञ कहते थे। **तानि प्रथमानि धर्माणि आसन्।** यज्ञ ही आर्य-धर्मका प्रथम और प्रधान स्वरूप था। अिस यज्ञका प्रतीक स्वरूप छोटा था, किन्तु अुसकी भावना विशाल थी। जिस तरह यज्ञ मनुष्यका धर्म था अुसी तरह सारे विश्व-व्यापारका भी यज्ञ अेक सार्वभौम धर्म था। गीतामे यज्ञ-धर्मका अत्यन्त व्यापक स्वरूप पाया जाता है।

अिस विश्वमे जो कुछ है वह सब कुछ परस्पर सबद्ध है। हरअेकका अेक-दूसरेके प्रति अुत्तरदायित्व है। अिस अुत्तरदायित्वको ऋण कहते है। अिस ऋणसे अुऋण होनेके लिअे प्रजापतिने प्रजाको यज्ञ-धर्म दिया है।

अिस यज्ञ-धर्मको जो नही मानता, अुसका पालन नही करता है अुसे गीताने अयज्ञ कहा है। अयज्ञ मनुष्य समाज-धर्मका द्रोही है। अुसके लिअे यह लोक भी नही है, फिर परलोककी तो बात ही क्या? (४–३१)

आजकल समाजवादी लोग समाज-सत्ताकी स्थापना करना चाहते है। सम्पत्ति पर समाजका ही कम या अधिक अधिकार स्थापित करना चाहते है। अिधर गीता तो लोगोके हृदयको ही समाजधर्मी बनाती है, जिसके बिना समाज-सत्ताकी सच्ची स्थापना असम्भव है, और अगर हरअेक मनुष्यका हृदय समाजधर्मी यानी यज्ञधर्मी हुआ, तो मनुष्य

मनुष्यका सम्बन्ध कौटुम्बिक आश्रम धर्मका और फिर किसी प्रकारका मतलबकी स्थापना हो नहीं करना पड़ता। आजकलकी दुनिया स्वभावसे ही अशान्त है। अुसे मन यम सिखाना और मनचर्या बनानेको शान्ति करना यह सबसे श्रेष्ठ काम है।

अयति [६-३७] **यति** [५-२८]

√यत् प्रयत्न करना, मेहनत करना। जो मेहनत करता है वह यति है। √यम् (अुपरम) रोकना संयम करना। संयम करनेवालेको भी यति कहते हैं। गीतामें जो अयति शब्द आया है अुसका अर्थ होता है जो प्रयत्नशील नहीं है। अैसे पुरुषोंमें जो लोग होते हैं जो श्रद्धावान हैं किन्तु अुनका प्रयत्न नहीं होता और इसलिए मनोयोगसे विचलित हो जाते हैं। अर्जुनने भगवानसे पूछा है कि अुनकी गति क्या है?

पांचवें अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें जो यति शब्द आया है वहां यतिका अर्थ है संयमी संन्यासी और जिसने अपने मन वाणी और सब अिन्द्रियोंको काबूमें रखा है। अिसी शब्दसे हमारी भाषामें यति जति शब्द आये हैं।

अयुक्त [२-६६, ५-१२, १८-२८]

अ + √युज् जोड़ना, लगाना, नियन्त्रण करना, मनको अेकाग्र करके ध्यान करना अथवा काममें लाना। योग शब्द अिसी धातुसे आया है। संयोग, योजना, जानना, योगायोग, अुपयुक्त, जोड़ी (yoke) अित्यादि सब शब्द अिसी धातुसे आये हैं। जो मनुष्य अपने आपको भगवानके साथ जोड़ लेता है और अिन्द्रियोंसे बाहरकी सब चीजोंमें अपने मनको रोक रखता है वह योगी अथवा युक्त कहा जाता है।

जो प्राकृत मनुष्य अपनी वासनाओंके अधीन होता है वह योग युक्त न होनेके कारण बंधनमें पड़ता है। अुसे अयुक्त कहते हैं। जिसने अपने जीवनमें समतोल (balance) सम्हाला है वह युक्त है। जिसका तोल बिगड़ गया है वह अयुक्त है। गीतामें योगीके अर्थमें युक्त शब्द अनेक बार आया है। जो चंचल है अव्यवस्थित है अस्थिर

है, जिसका समत्व नही रहा, वह अयुक्त है, और जिसने ओिश्वरके साथ लौ लगाओी है, जिसके जीवनमे समता है, वृत्तियोंका यथायोग्य विनियम है, ओैसा योगी 'युक्त' कहलाता है। यह स्थिति स्थिर होने पर अुसे नित्ययुक्त अथवा सततयुक्त कहते हैं। अुसे योगयुक्तात्मा भी कहते है।

अरतिर्जनसंसदि [१३–१०]

'विविक्तदेशसेवित्वम्' का ही यह दूसरा रूप है। मनुष्योंकी — प्राकृत जनोंकी — भीडमे जाकर बैठनेकी अरुचि भी ज्ञानियोंका लक्षण है। सस्कार-शून्य अविनीत मनुष्योंकी सेवा करनेके लिअे ज्ञानी अुनके बीच अवश्य जायगा। किन्तु अुनकी असस्कारी गोष्ठीमे और जल्सोंमे शरीक होनेकी रुचि अुसमे नही रहेगी।

असस्कारी लोगोंके ओैसे अुत्सवोंको सम्राट् अशोकने अपने शिलालेखमे 'समाज' कहा है और अुनका निषेध किया है।

अर्थकामः [२–५]

अिस शब्दके अनेक लोगोंने भिन्न भिन्न अर्थ किये है। अर्थ यानी सम्पत्ति और काम यानी अिन्द्रिय-तृप्ति। ओैसा अर्थ लेकर 'अर्थकामान्' शब्द 'रुधिर-प्रदिग्धान्' के साथ 'भोगान्' का विशेषण मानकर लोग अर्थ करते हैं कि गुरुओंको मारकर सपत्ति और कामोपभोगवाले किन्तु लहूसे भरे हुअे भोगोंका हम अुपभोग करे अिससे बेहतर है कि अिन महानुभाव गुरुओंको न मारकर युद्धको छोडकर हम वैरागी बने और भिक्षान्नका सेवन करे।

(२) अन्य लोग 'अर्थकामान्' को 'गुरून्' का विशेषण समझते है। अुनका अर्थ होता है ये हमारे गुरु अर्थकाम हुअे है यानी धनके लालची बने है। ओैसा देखकर हम अुनको मारे और अुनके खूनसे लिपटे हुअे भोगोंका अुपभोग करे, अिससे बेहतर है कि हम अिन महानुभावोंको न मारते हुअे भिक्षा मागनेका रास्ता ले लेवे।

(३) अर्थकामको 'गुरून्' का विशेषण मानकर चद लोग और ओेक अर्थ निकालते हैं। अर्थ यानी हित, कल्याण। ये आचार्य, गुरु,

दुर्योधनका आदर करते रहे हैं तो भी क्या हुआ? मनमें तो मरे ही हैं — अथवा — बात कर रहे हैं अब समाप्त-काम गुरुओंको मारकर इत्यादि।

(४) अर्थकामान् पर से कुछ लोग 'अर्थकामान्' ऐसा पाठ लेकर यह अर्थ करते हैं धन सम्पत्ति और राज्यकी प्राप्तिकी (भावना) कामना मनमें रखकर हम लोग इन गुरुओंको मारें और खूनसे भरे भोगोंको भोगें इससे बेहतर यह है कि इत्यादि।

पर इनमें से अर्थकामोंका भोगोंका विशेषण बताना भाषाकी दृष्टिसे ठीक है किन्तु इससे दूरान्वयका दोष आ जाता है।

अर्थकामको गुरुओंका विशेषण करना ही ठीक है। इससे तो अर्थकामका अर्थ सभी कल्याणकी कामना करनेवाले ऐसा करनेसे गुरुओंके प्रति सद्भाव भी व्यक्त होता है और उनको मारनेमें कृतघ्नताका दोष भी स्पष्ट होता है।

अर्थकाम माना धनके लोभी बन हुये। ऐसा अर्थ लेकर उन गुरुओंका विशेषण करनेसे इस श्लोकके दो विकल्पोंका भाव अच्छा स्पष्ट होता है। ये हमारे आचार्य और गुरु धनके लोभी बन गये हैं, उन्हें न्याय और धर्मका खयाल नहीं रहा है ऐसा मानकर उन्हें मार डालना और स्वजनोंके रक्तसे भरे हुए भोग भोगना यह एक रास्ता हमारे सामने है। दूसरा रास्ता यह है कि ये हमारे गुरु हैं पूजनीय हैं इस पर सद्भाव है। यह ध्यानमें रखकर हम उन्हें मारनेसे इनकार करें और फलतः धर्मयुद्धसे भी निवृत्त होकर इस दुनियामें अपमानित जीवन व्यतीत करें। दोनों मार्ग अच्छे तो नहीं लगते किन्तु यह दूसरा मार्ग बेहतर है। परन्तु दुःख यह है कि इन दोनोंमें से कौनसा श्रेष्ठ है यह हम नहीं जानते (न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयः २–६) और हम यह भी नहीं जानते हैं कि उनकी जीत होगी या हमारी (यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः)।

अर्थ [१–३३, ३८ २–५, ६६, २–१८]

√अर्थ् (उपयाञ्चायाम्) मांगना, आशा करना, चाहना, ढूंढ़ना, समझना। अर्थके अर्थ अनेक हैं। अर्थ यानी हेतु, इच्छा, कारण, प्रयोजन

द्रव्य, सम्पत्ति, प्रयोजन। 'मदर्थे' यानी मेरे लिये, 'येषामर्थे' यानी जिनके लिअे; अर्थसंचय यानी द्रव्यसंचय; अर्थकाम यानी द्रव्यकी अिच्छा रखनेवाला। मनुष्य-जीवनके प्रधान हेतु चार माने गये है। अुन्हें पुरुषार्थ कहते है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष अिनमें काम और मोक्ष 'साध्य-रूप' है। धर्म और अर्थ साधन-रूप है। काम शरीरका साध्य है। मोक्ष आत्माका साध्य है। धर्म मोक्षका साधन है। अर्थ कामका साधन है। अर्थ यानी अुपभोगके सर्व साधन, द्रव्य, सम्पत्ति आदि बाह्य पदार्थ।

गीताका समाजशास्त्र कहता है कि काम धर्मका अविरोधी रहना चाहिये (७–११)। मोक्षशास्त्र कहता है कि अर्थ, धर्म और काम भले ही साधन हो, किन्तु मोक्षकी दृष्टिसे अर्थ अनर्थ ही है (अर्थमनर्थम् भावय नित्यम्।)।

पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश अिन पाच महाभूतोके गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द ये गुण अिन्द्रियोके अर्थ है, क्योकि अिन्द्रिया अिन्हे ढूढती है, चाहती है।

(नीचेका अर्थार्थी शब्द भी देखिये।)

अर्थार्थी [७–१६]

भक्तोके चार प्रकारोमे यह नाम आता है। चार प्रकारके भक्त होते है — आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। अिन शब्दोके जो सामान्य अर्थ किये जाते है वे संतोपकारक नही है। क्योकि गीताने चारोको अुदार यानी अुत्कृष्ट कहा है (७–१८)। वे (अर्थार्थी) केवल धनके लोभी अथवा (आर्त) चोर, शेर, बीमारी आदिसे डरे हुअे मतलबी भक्त शायद ही हो सकते है।

भक्तोके आर्ति-स्तोत्र देखनेसे पता लगता है कि वे भवपाशसे पीडित होकर अपने हृदयकी व्याकुलता प्रगट करते है। अिसलिये

आर्तभक्तका स्वरूप है भव-बन्धनसे पीडित।

अर्थार्थी भक्त अपने हितकी साधनाके लिअे प्रयत्न करता है, वह कर्ममार्गी है।

जिज्ञासु भक्त बुद्धिप्रधान होनेके कारण ज्ञानके द्वारा ईश्वर प्राप्ति चाहता है (स्वस्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते — आत्माके स्वरूपका सतत चिन्तन रहना यहाँ भक्ति कहा जाता है)। और ज्ञानी तो ईश्वरके साथ एकरूप हुआ होनेसे (ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्) भक्ति उसका निर्हेतुक स्वभाव ही बन जाता है।

अर्पितमनोबुद्धि [८-७ १२-१४]

ईश्वरके लिए अपना धन-दौलत और अपनी सेवा अर्पण करना मामूली बात रही है। तो भी कीर्ति या प्रतिष्ठाके लोभसे अथवा दुनियासे ऊब कर भी मनुष्य उनका त्याग कर सकता है। किन्तु अपना मन और अपनी बुद्धि (अर्थात् अपना हृदय भी) ईश्वरको अर्पण कर देना यह तो आत्म-निष्ठाके सिवाय हो नहीं सकता। मन बुद्धि ईश्वरको अर्पण करनेसे ही जीवनमें और जीवन-दृष्टिमें भी आमूलाग्र परिवर्तन हो सकता है। अगर उनका अर्पण पूर्णरूपसे हो गया तो भक्तिभावका चरम उत्कर्ष होकर मनुष्य निःसंशय ईश्वरके पास पहुँच जायगा।

मनका काम है तरह तरहके संकल्प विकल्प पैदा करना और बुद्धिका काम है उनका विचार करके निर्णय देना। जिसलिए जब मन और बुद्धि दोनों ईश्वरको अर्पण हुए तब सारे संकल्प भी ईश्वर परक ही होंगे और बुद्धि जो निर्णय देगी वे भी सब ईश्वरपरायण होंगे क्योंकि दोनोंकी दृष्टिमें आध्यात्मिक दृष्टि होती है।

अलोलुप्त्वम [१६-२]

जो चीज स्थिर नहीं है हिलती डुलती है बहती है उसे संस्कृतमें लोल कहते हैं। घण्टेके अन्दर बजानेके लिये जो धातुका छोटा टुकडा लटकता रहता है उसे लोलक कहते हैं। झूमरके लोलक तो सब जानते ही हैं।

कोई आकर्षक वस्तु देखकर अथवा अपने विषय पाकर हमारी अिन्द्रियाँ जब अपनी स्थिरता खोकर उनकी ओर अग्रसर होती हैं और प्राप्तिके लिए अधीर होती हैं तब उन्हें लोलुप कहते हैं। अपना

स्वास्थ्य, अपनी प्रतिष्ठा और अुचित सयम खोने पर लोलुपता प्रगट होती है। अिष्ट वस्तुका आकर्षण होना अेक चीज है और अुस आकर्षणके अत्यधिक प्रभावमे वह जाना, अपनी प्रतिष्ठा खोना दूसरी वात है। लोलुपता दोष-रूप है। जिस समाजमें लोलुपता वढती है, अुसमे चारित्र्यकी मात्रा कुछ भी नही रहती है। अिस दोपसे जो समाज मुक्त है वही दैवी सम्पत्तिका अधिकारी है।

'अलोलुप्त्वम्'की व्याख्या अिस तरह की है — अिन्द्रियोके विषय नजदीक होने पर और प्राप्य होने पर भी जव अिन्द्रिया अपनेको सभाल सकती है, अपनेमे विक्रिया यानी विकार नही होने देती, तव अुस स्थितिको अलोलुप्त्वम् कहते हैं। लोलुपताके कारण सव तरहकी हीन वृत्तिया वढ आ सकती है और आत्म-गौरवका नाश होता है।

अल्पमेधाः [७–२३]; दुर्मेधाः [१८–३५]

मेधाका मूल अर्थ है स्मरण-शक्ति। जो कुछ भी देखा-सुना हो अुसे मनके अदर स्थिर रखना, गायव नही होने देना, अैसी शक्तिको मेधा कहते है। धारणावती धी मेधा। अिसी अर्थको व्यापक करके मेधा शव्दका अर्थ किया है 'वुद्धि'। (मेधा शव्दमें मेध्, मेद्, मेथ् धातु है जिसका अर्थ होता है जानना, हिसा करना अथवा मिलना।) गीतामें मेधाका अर्थ सामान्यतया वुद्धि ही किया है। दसवे अध्यायके चौतीसवें श्लोकमे स्मृति और मेधा दोनो शव्दोको साथ लाकर वताया है कि मेधा शव्द स्मृतिके अर्थमे नही लेना है।

जिनकी वुद्धिकी पहुच अधिक दूर तक नही है अैसे मनुष्य तात्कालिक लाभको देखकर छोटे-मोटे देवोकी (अन्यदेवता) अुपासना करते है और छोटासा तथा अन्तवान फल पाते है। अिनको गीताने अल्पमेधस् कहा है।

आगे जाकर धृतिका वर्णन करते हुअे भगवान कहते है कि तामस प्रकृतिके मनुष्योंमे धृति यानी जिदसे किसी चीजको पकडकर रखनेकी शक्ति तो वहुत कुछ होती है, किन्तु किस चीजको पकडकर वैठना योग्य है अिसका विवेक अुनमे नही होता। क्योकि वे दुर्मेधा

होते हैं। जो चीजें दिखाई नहीं देतीं अथवा दिखाई देती हैं अैसी चीजोंका ख्याल करनेके बजाय अटकलका पाकर अुनमें अपनी बुद्धिसे ठीक निर्णय नहीं किया। अैसी बुद्धिको दुर्मेधा अथवा कुबुद्धि कहते हैं और अैसे मनुष्यको भी दुर्मेधा कहते हैं।

अविधिपूर्वकम् [९–२३, १६–१७]

यह शब्द गीतामें दो बार आया है। जो लोग प्रतिष्ठाके लिये दाम्भिक बनकर यज्ञ करते हैं वे आसुरी वृत्तिके होते हैं। अुनके अुस यज्ञमें आस्तिक भाव अथवा धर्मभाव न होनेसे अुसे यज्ञको अविधिपूर्वक कहा है। शास्त्रविधिका शायद पूरा पालन हुआ भी हो किन्तु श्रद्धारूपी आन्तरिक विधिका अुसमें अभाव रहता है।

ईश्वरकी पूजा श्रद्धा और ज्ञानसे युक्त होना चाहिये। जिनमें भी श्रद्धा मुख्य है। अगर श्रद्धा है तो भगवान अुस पूजाको आदरपूर्वक स्वीकार करते ही हैं। किन्तु पूजा ज्ञानके साथ हो तभी वह अुत्तम पूजा मानी जाती है। जो लोग ईश्वरका स्वरूप न जाननेके कारण छोटे-मोटे अन्य देवताओंकी पूजा करते हैं अुनकी अैसी पूजा भी अन्तमें भगवानके पास ही पहुंचती है। भगवान अुसका स्वीकार भी करते हैं। किन्तु ज्ञानकी कमीके कारण वह अविधिपूर्वक होती है। अुतना दोष कभी न कभी दूर करना ही पड़ता है। अुस दोषको दूर करनेमें भगवान स्वयम् सहायक होते हैं।

अविभक्तम् [१३–१६, १८–२०], विभक्तम् [१३–१६, १८–२०]

विविधतामें अेकता यही जिसका नियम है जो मूलमें अेक है और आखिर तक अेक ही रहता है अुसका आनन्द जिसमें है कि अनन्त और विविध रूप धारण करते हुअे भी अुसकी अेकता खण्डित या बाधित नहीं होती। जिसका सम्प्रयोग अनुभव करनेमें विशेष आनन्द मिलता है। (रबड़का लम्बा पतला टुकड़ा हाथ आने पर बच्चे लोग अुसे खींच-तानकर देखते हैं कि यह टूटे बिना कहां तक खींचा जा सकता

है। अुन्हे अिमीमे आनन्द आता है कि स्वत गीनने पर न तो टूटता है और न अपने असली आकारमें लौटने हुअे अुमे कोअी कठिनाअी होती है — अद्वैतसिद्धिका ही यह आनन्द है।)

ज्ञानी पुरुष जब अिस विश्वका रहस्य ढूंढता है तब अुमे प्रथम सर्वत्र विविधता दीख पडती है। भेद, भिन्नता, पृथक्ता, असंबद्धता ही अुसकी नजरमें आती है। किन्तु ज्यादा खोज करने पर अुसके ध्यानमें आता है कि अिस भासमान अथवा प्रतीयमान भेदके पीछे सर्वव्यापी, सर्वसमर्थ, सार्वभौम, अभेदकारी व्यवस्थाका राज्य है।

विशेष गवेषणा करनेके बाद वह आश्चर्यसे बोल अुठता है कि यहा पर भेदके जो तत्त्व है वे परिमित है, छिछले है और विशेष तो वे अस्थायी है। अिसके विपरीत जो अभेदके तत्त्व है वे अनेक है, अपरिमित है, अधिक है और गहरे तथा स्थायी है (चिरतन)।

जिसकी दृष्टि रजोगुणी है, जिसका ज्ञान राजस है, अुसका ध्यान पृथक्ताके अूपर ही बैठ जाता है, विविधता, भेद और विरोध ही अुसे सत्यरूप दीख पडता है।

जिसका ज्ञान सात्त्विक है वह समझता है कि भेद तो भासमान ही है। असली वस्तु-स्थिति अभेदकी ही है। अिस अभेदको गीताने अविभक्त भी कहा है (१८-२०)।

यह दृश्य जगत यानी बाहरी दुनिया भेदसे भरी हुअी है। किन्तु अुसके अदर जो परमतत्त्व, परमात्मतत्त्व वास करता है, वह स्वय अविभक्त, अखण्ड-दडायमान, अव्ययभाव अेकधारिक अद्वैत तत्त्व ही है। यही सर्व ज्ञानका विषय है यानी ज्ञेय है।

अव्यक्तः [२-२५, ७-२४, ८-१८, २०, २१, १२-१, ३, ५' १३-५]; **व्यक्तः** [७-२४, ८-१८, १०-१४]

वि+ √अज् (विशेषणे, व्यक्ति-म्रक्षण-कान्ति-गतिषु) व्यक्त करना, प्रगट करना, दिखाना। व्यक्त = प्रगट, स्पष्ट, अिन्द्रियोके द्वारा जिसका अनुभव हो सकता है अैसा। और समान पदार्थोंसे अपनी विशेषताके कारण जुदा पडनेवाला।

इस परसे अव्यक्त यानी अस्पष्ट अज्ञात अप्रगट इन्द्रियातिरिक्त अगोचर। शास्त्रीय परिभाषामें अव्यक्तका अर्थ होता है प्रधान। आत्मा इन्द्रियगोचर नहीं है इसलिए अव्यक्त कहा जाता है। यह सारा विश्व अव्यक्तमें से प्रकट होता है। युग बाद प्रलय होकर फिर अव्यक्तमें ही लीन हो जाता है। इसलिए इसके स्वरूपका पूरा ज्ञान नहीं हो सकता (२-२८ ८-१८)। अतः इसे अव्यय शास्त्र मानते हैं। उपासनामें अव्यक्तकी उपासना करना अत्यन्त कठिन है। इसलिए साकार (मूर्ति) का ध्यान किया जाता है। (१२-५)

अव्यभिचार [१३-१० १४-२६ १८-३३]

भाषामें व्यभिचारका अर्थ होता है स्त्री या पुरुषका विवाह सम्बन्धके प्रति द्रोह, परस्त्री या परपुरुषके साथ अनुचित सम्बन्ध। मूलमें इस शब्दका अर्थ व्यापक है। नियमका उल्लंघन, निष्ठाका भंग, अनायनाम विचलन यह उसका व्यापक अर्थ है। पहले अध्यायमें कुलधर्मका नाश होने पर स्त्रियाँ दुष्टा बनती हैं, स्त्रियाँ दुष्ट होने पर वर्णसंकर होता है ऐसा विवेचन अर्जुनके भाषणमें आया है। वहाँ व्यभिचार शब्दका प्रयोग नहीं हुआ है। तीन स्थानों पर अव्यभिचार शब्दका प्रयोग आया है। एक स्थान पर (१३-१०) वह भक्तिका विशेषण है दूसरे स्थान पर (१४-२६) वह भक्तियोगका विशेषण है और तीसरे स्थान पर (१८-३३) धृतिके विशेषणके रूपमें वह आया है — (अव्यभिचारिण्या धृत्या)।

भगवानकी यदि भक्ति हो गयी तो फिर किसी और देवी-देवताकी भक्ति नहीं करनी चाहिये। शुद्ध भगवद् भक्तिके लिये और किसीकी भक्ति करना गुनाह है। इसे इस्लाममें शिर्क कहते हैं। भक्ति करते समय भगवानके साथ किसी और तत्त्वको शरीक करना यही है शिर्क जो सब गुनाहोंमें बड़ा या खराब माना गया है। भक्ति हो तो वह अव्यभिचारिणी हो। शरण लेना है तो एक भगवानकी ही लें। उसकी शरण लेने पर और किसीकी आशा नहीं रखनी चाहिये।

धृति यानी मन, प्राण, अिन्द्रिय अिन सबकी क्रियाओंको गलत रास्ते पर जानेसे रोकनेवाली शक्ति अव्यभिचारिणी यानी अविचल रहनी चाहिये (१८–३३)। चारित्र्यमें अेक आध्यात्मिक साधनामें निष्ठा ही सबसे बडी चीज है। निष्ठाको ही अव्यभिचार कहते हैं।

अव्यवसायी [२–४१]; **व्यवसायात्मिका** [२–४१, ४४]; **व्यवसाय** [१०–३८, १८–५९]

व्यवसायका अर्थ होता है प्रयत्न, अुद्योग और निश्चय। गीतामें अेक स्थान पर (१८–५९) अुसका अर्थ लिया है निश्चय। दसवें अध्यायमें अपनी विभूतियां कहते हुअे भगवानने व्यवसायको अपनी अेक विभूति बताया है। वहां अुस शब्दका अर्थ होता है प्रयत्न अथवा अुद्योग। वहां पर निश्चयका अर्थ भी लिया जा सकता है।

दूसरे अध्यायमें (२–४१, ४४) व्यवसायका अर्थ लिया है निश्चय। जिसके मनमें निश्चय हुआ है, अपने निश्चयके अनुसार चलनेका जिसका स्वभाव है, अुसका रास्ता ठीक अेक ही रहता है। अिससे विपरीत जो लोग विवेक-बुद्धिसे रहित होते हैं, मनमें कोअी अेक निश्चय नहीं कर सकते, अुनके मनमें विचारोंकी, संकल्पोंकी और संशयोंकी अनेक शाखायें अुठती हैं, वे क्षण-क्षण अपना निश्चय बदलते हैं। अुनकी बुद्धिके रास्ते अनन्त होते हैं। फलतः अुनके कार्यमें निष्फलता ही आती है। जो लोग भोगैश्वर्यमें फंसे हुअे हैं अुनके मनमें कोअी अेक दृढ निश्चय नहीं होता। अैसोंको अव्यवस्थितचित्त भी कहते हैं। अैसे लोगोंने किसीका भला करना चाहा तो भी अुसमें खतरे पैदा होते हैं। **अव्यवस्थितचित्तानां प्रसादोऽपि भयंकरः।**

अशास्त्रविहितम् [१७–५]; **शास्त्रम्** [१५–२०, १६–२४]; **शास्त्रविधिम्** [१६–२३, १७–१]

विद्या और शास्त्र अिन दो शब्दोंका अेक साथ विचार करना चाहिये। विद् धातुका अर्थ होता है जानना। अनुभवसे या तर्कसे, निरीक्षण, परीक्षण या अनुमानसे जो कुछ जाना जाता है अथवा गुरुमुखसे जो पाया जाता है, वह सब जानकारी विद्यामें अन्तर्भूत

होती है। जानकारी व्यवस्थित रूपमें जब पेश की जाती है तब अुसे विद्या कहते हैं, जैसे गणितविद्या, रसायनविद्या और ज्योतिर्विद्या।

शास्त्र में जानकारी तो होती है, रचना और व्यवस्था भी होती है। किन्तु शास्त्रका अुद्देश्य व्यक्ति और समाजका अनुशासन करनेका होता है। विद्या प्रदान करनेके बाद तुम्हें अिस तरह चलना चाहिये अिस तरह नहीं चलना चाहिये अित्यादि सूचनाओं देकर जहां विशेष नियमन किया जाता है, आचारका रास्ता बनाया जाता है वह सब शास्त्र है। सलाह या अुपदेश देकर, नसीहत या हुक्म देकर जहां लोगोंको ठीक रास्ते पर रखनेकी या चलानेकी कोशिश होती है वहां शास्त्र पैदा होता है (√शास् अनुशिष्टौ)। शासक, शास्ता, अनुशासन, शासित ये सब शब्द शास् धातुसे आये हैं। शास्त्र भी अिसी परिवारका शब्द है। विद्या अथवा विज्ञानमें जानकारीका सम्बन्ध आता है। शास्त्रमें अनुशासनका, नियमनका। [आजकल गणित शास्त्र, पदार्थविज्ञान शास्त्र, अित्यादि शब्द प्रयोग पाये जाते हैं किन्तु वे ठीक नहीं हैं। मनुस्मृति जैसे धर्मशास्त्र, क्रिश्चियनोंका गिरिप्रवचन, हैमुराबीका कोड, चाणक्यका अर्थशास्त्र ये सब शास्त्र-ग्रंथके नमूने हैं।]

गीतामें भगवान कहते हैं कि मनुष्य जब कर्म करनेके लिअे प्रवृत्त होता है तब कौनसा कर्म योग्य है और कौनसा कर्म अयोग्य है, अिसका निर्णय करना कभी कभी बहुत कठिन होता है।

न्याय और अन्यायकी व्यवस्थिति कोअी बनावे तो अुसके प्रति मनुष्य बड़ा ही कृतज्ञ होता है। गुरुका काम ही न्याय अन्यायका विवेक बतानेका होता है। अैसे अनेक गुरुओंकी ओरसे जो विधि और निषेधकी व्यवस्था की जाती है अुसीके संग्रहको शास्त्र कहते हैं। शास्त्रमें ज्ञानियों तथा समाज हित चिंतकोंकी धर्मबुद्धिका निचोड़ पाया जाता है। (अुपनिषद्में कहा है—धर्मशास्त्र महर्षीणां अन्तःकरण सम्भृतम्।) अिसलिअे भगवानका कहना है कि कार्याकार्यकी व्यवस्थितिके बारेमें — क्या करना और क्या नहीं करना जिसका सवाल अुठने पर शास्त्रको ही प्रमाण मानना चाहिये। शास्त्रका विधान (आज्ञा, व्यवस्था) जानकर ही कर्म करना चाहिये (१६–२४)।

शास्त्रोंमें सबके हितका पक्षपात-रहित विचार करके सांस्कृतिक रास्ता बताया जाता है। जो लोग असी शास्त्र-विधिको छोड़कर स्वार्थ-मूढ वासनाओंके वश होकर शास्त्रोंके विरुद्ध चलते हैं, अुन्हें कामसे न सिद्धि प्राप्त होती है, न अुन्हें सुख होता है, न समाजका कल्याण साधनेसे मिलनेवाली अुत्तम गति अुन्हें मिलती है (१६–२३)।

अब यहां ध्यानमें रखना चाहिये कि भगवानने सम्मति दी है, शास्त्रको प्रमाण माननेकी, किसी ग्रन्थ-वचनको प्रमाण माननेकी नहीं। शास्त्र-ग्रन्थ अपने अपने समयके और पक्षके शास्त्रके अंशोंको संगृहीत करते है। अिसलिअे शास्त्र-ग्रन्थ अपने आदरके भाजन होते है। किन्तु ग्रन्थ मर्यादित होते हैं। वे अपने जमानेकी बातें बताते हैं, नयी परिस्थितिका नयी दृष्टिसे विचार करनेकी शक्ति ग्रन्थोंमें आ नहीं सकती। शास्त्र तो जीवित वस्तु है। धर्माधर्मका रहस्य जाननेवाले श्रेष्ठ व्यक्तियोके हृदयमें शास्त्र जीवित रूपसे रहता है। जो मनुष्य कल्याणार्थी है, श्रेयार्थी है, वह सर्वहितैषी शास्त्रको अवश्य प्रमाण मानेगा। किन्तु पुराने शास्त्र-ग्रंथोंका प्रामाण्य स्वीकार करनेके लिअे वह तैयार नही होगा। ग्रन्थ-वचन कालग्रस्त हो सकते है। जीवित शास्त्र अद्यतन परिस्थितिका पूर्ण विचार करके अपना निर्णय देता है। शास्त्र-प्रामाण्य और ग्रन्थ-प्रामाण्य अेक नही है। अितनी सीधी बात ध्यानमे नही आनेसे बडी विडम्बना होती है।

अशुचिव्रताः [१६–१०]

शुचिका अर्थ होता है स्वच्छ, निर्मल, पवित्र। (शुच् धातुके अनेक अर्थ है — दु ख करना, पश्चात्ताप करना, गीला होना, पवित्र होना, सड जाना अित्यादि।) शुचिके अर्थमे जो स्वच्छता आती है वह शारीरिक भी है और मानसिक भी है। जो निर्मल है अुसे भी शुचि कहते है और जो निष्पाप है अुसे भी शुचि कहते है। सदाचारी, पवित्र पुरुषको शुचिव्रत कहते है। जो लोग शुद्ध आचारका पालन नही करते, जिनका वर्तन अमगल है अुन्हे अशुचिव्रत कहते है।

शौचाचारविहीनस्य समस्ता निष्फलाः क्रिया.।

व्रत शब्दके अनेक अर्थ होते हैं। धार्मिक व्रत तो हम जानते ही हैं। प्रतिज्ञा और निश्चयको भी व्रत कहा है (अुदाहरणार्थ दृढव्रत)।

पतिव्रता स्वव्रत सत्यव्रत आदि शब्दोंमें व्रत शब्द निष्ठाके अर्थमें आता है। सामान्य तौर पर जीनेके ढंगको भी व्रत कहते हैं जैसे ब्रह्मचर्य व्रत। गीतामें दृढव्रत संशितव्रत जैसे भी शब्द आये हैं। अशुचिव्रतके दो अर्थ हो सकते हैं (१) जिनका जीवन क्रम असंगत अस्वच्छ अथवा गन्दा है (२) मलिन हेतु मनमें रखकर जिन्होंने अैसा व्रत करनेका निश्चय किया है जो अयोग्य है।

असक्तात्मा [५–२१], असक्तबुद्धि [१८–४९], असक्त [३–७, १९, २५]

√सज् (संग) चिपटना बांधना संग करना। सक्त माने चिपटा हुआ। अ-सक्त यानी अनासक्त अलिप्त। आत्मा देहसे भिन्न है किन्तु मोहके कारण देहके साथ अपनेको बंधा हुआ मानता है। अिन्द्रियोंके द्वारा पदार्थोंके गुणोंके साथ बंधन पाकर वह आसक्त होता है। अनासक्तिकी साधना करनेसे वह मुक्त होता है।

बुद्धिका काम निर्णय देनेका है। सत् क्या है असत् क्या है, योग्य क्या है अयोग्य क्या है कल्याणकारी क्या है अकल्याणकारी क्या है — यह बतानेका काम बुद्धिका है। जिस तरह न्यायाधीश तभी न्याय दे सकता है जब कि वह पक्षपात रहित और तटस्थ रहता है अुसी तरह बुद्धि अपना काम तभी कर सकती है जब वह आसक्ति रहित असक्त, अनासक्त हो। वासनाओं और स्वजनोंका मोह जब बलवान होता है तब मनुष्य अपने सच्चे कर्तव्यको नहीं पहचान सकता कर्म-बंधनसे मुक्त नहीं हो सकता। जिसे मोक्ष पानेकी अिच्छा है अुसे चाहिये कि वह अपने हृदयसे सब तरहकी आसक्ति दूर करे।

असक्तात्मा शब्दमें आत्माका अर्थ होता है अन्तःकरण। बाह्य अिन्द्रियोंका शब्द स्पर्श रूप रस, गंध अिन विषयोंसे सम्बन्ध होगा ही। किन्तु अगर हम आन्तर अिन्द्रिय — अन्तःकरणको अलिप्त अनासक्त अथवा असक्त रखेंगे तभी हम सुख-दुःखसे परे जो सुख या आनन्द है अुसे प्राप्त कर सकेंगे।

अनासक्तिका लाभ समझाते हुअे पुराने लोग हाथको खोपरेका तेल लगाकर कटहल काटनेकी कला समझाते थे। भारतके पश्चिम किनारे पर नारियल भी बहुत होते हैं और कटहल भी। कटहलके फलमें सफेद दूधके जैसा गोंद होता है। कटहल काटते समय वह अुंगलियोंको पकड़ लेता है और परेशान करता है। अिसलिअे चतुर लोग पहले हाथको खोपरेका तेल लगाते है और बादमें कटहल काटते हैं। अिस खोपरेके तेलके जैसी ही अनासक्ति है।

असंगशस्त्रेण [१५–३]

√शस् (हिंसायाम्)। तोड़नेमें, काटनेमें जो मदद करता है, हिंसाका जो साधन है अुसे शस्त्र कहते हैं।

लकडीके, पत्थरके, तांबेके और लोहेके शस्त्र हम जानते ही हैं। वाणी भी कभी कभी शस्त्रका काम करती हैं।

अब अैसा देखा गया है कि दुनियामें जो पाप होता है, अन्याय होता है, अुसमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपमें हमारा कुछ न कुछ हाथ होता ही है। अगर किसीने मेरे प्रति अन्याय किया, तो अुसे सहन करनेमें मैंने अुसके साथ सहयोग किया ही है, अगर मैं अपना सहयोग पीछे खींच लूं, तो अन्यायकारी मनुष्य मुझे अपने अन्यायका शिकार नहीं बना सकता। अिस रहस्यको जो लोग समझ गये अुन्होंने आत्मरक्षाके लिअे 'असहयोग' या असंगका शस्त्र ढूंढ निकाला है। अेक पापका विरोध करनेके लिअे दूसरा पाप करनेका तरीका बहुत पुराना है। असंग-शस्त्रका प्रयोग करनेवाला स्वयं पापसे मुक्त रहकर विरोधीके पापका नाश कर सकता है। यह शस्त्र अमोघ होनेके कारण अुसे दृढ कहा है।

असत् [९–१९, ११–३७, १३–१२; १७–२८]; असतः [२–१६]

सत् = सच्चा, स्थायी, अच्छा, व्यक्त, सत्य वस्तु, ब्रह्म, योग्य हितकर, साररूप, सुन्दर। अिस परसे असत्का अर्थ होता है अस्थायी,

अव्यक्त अिन्द्रियरहित, अग्राह्य दृष्ट, अज्ञेय अित्यादि। परमात्मा सत् भी है और असत् भी है अैसा जब कहते हैं तब असत्का अर्थ अस्तित्व शून्य अैसा नहीं हो सकता है। यहां समझना चाहिये कि परमात्मा व्यक्त भी है और अव्यक्त भी है। सत् और माया दोनों अुसीके रूप हैं। जो परिवर्तनशील है विकारी है अस्थायी है, अव्यक्त है अुसे असत् कहते हैं। असत्में से सत् पैदा हुआ अैसा भी वचन अुपनिषद्में आता है। पहले असत् था अुसने सत्को जन्म दिया अैसा वचन स्मृतियोंमें आता है। यहां पर भी असत्का अर्थ अस्तित्व शून्य अैसा नहीं कर सकते। "नामरूपाभ्याम् अव्याकृतम् कारणात्मना स्थितम् सूक्ष्मरूपम् अव्यक्तम्=असत्" अिति मायावादिनः। नाम और रूप द्वारा जो व्यक्त नहीं हुआ है कारणरूपमें ही जो स्थित है सूक्ष्म होनेके कारण जो अव्यक्त है अुसे मायावादी लोग असत् कहते हैं।

असत्कृतम् [१७-२२], असत्कृत [११-४२], सत्कार [१७-१८]

सत्कारका अर्थ होता है आतिथ्य पूजन बहुमान स्वागत अित्यादि। किसीके अस्तित्वकी महत्ताको और योग्यताको स्वीकार करना सत्कार है। अिसके विपरीत वर्तन असत्कार है। योग्य पुरुषका सत्कार करना मनुष्यका धर्म है। किन्तु सत्कारकी अपेक्षा करना अथवा अुसी अपेक्षासे तप दान आदि करना रजोगुणका लक्षण है। अुसमें भावना नहीं है। किसीका असत्कारके साथ, अपमानके साथ दान करना यह तो पूरी हीनता ही है। अिसकारण कुछ भी नहीं देना चाहिये। अिस हीन दानको गीतामें (१७-२२) तामसी कहा है।

समान योग्यता और अुम्रके मित्रोंमें, जहां प्रेम दृढ़ है विनोद व परिहासके लिअे असत्कार यानी अपमान किया जाता है। अुससे न कोअी नुकसान होता है और न किसीको बुरा लगता है बल्कि प्रेमकी दृढ़ता सिद्ध होती है। जब अर्जुनको अनुभव हुआ कि श्रीकृष्ण विश्वरूपधारी परमात्मा हैं तब अुपहासके लिअे किये गये असत्कारकी अुसे शर्म आअी और अुसने क्षमा मांगी।

असद्ग्राहान् [१६–१०]

√ग्रह् (अुपादाने) लेना, पकड़ना। अिस परसे ग्राह शब्द आया है, जिसका अर्थ होता है जोरसे या मजबूतीसे पकड़ी हुअी चीज। अिसके दूसरे अर्थ होते है समझना, ज्ञान, निश्चय। मगरको भी ग्राह कहते है, क्योंकि अुसकी पकड़ जबरदस्त होती है। 'आग्रह' भी अिसी परिवारका शब्द है। जब लोग किसी अेक विचारको, अिच्छाको बड़ी जिदसे पकड़कर रखते है तब अुसे ग्राह कहते है। अैसी जिदमें जब विवेक नही रहता तब अुस जिदको मूढग्राह कहते है (१७–१९) और अैसी जिदसे पकड़े हुअे अशुभ निश्चयको, दुष्ट अिच्छाको 'असद्ग्राह' कहते है।

गीताके पहले जो गीता-माहात्म्य गाया जाता है, अुसमें 'भीष्म-द्रोण' आदि श्लोकमे ग्राह शब्द आया है। वहा अुसका अर्थ है 'मगर'। गज-ग्राह शब्दमे भी ग्राहका वही अर्थ है।

अहंकार [३–२७, ७–४; १३–५, १६–१८, १८–५३, ५८, ५९]

कार प्रत्यय जिस शब्दके साथ आता है अुसीके प्रति ध्यान खीचता है, जैसे — अकार, अुकार, मकार, फूत्कार। 'मै हू' अैसा जो सतत अनुभव मनुष्यको होता है और जिस अनुभवकी अनुपस्थिति पायी नही जाती है अुसे अहकार अथवा अह प्रत्यय कहते है (प्रत्यय = अनुभव); अुसीको सविद् भी कहते है।

केवल 'मै हू' अैसे अनुभवको भी अहकार कहते है और अपने बड़प्पनके खयाल यानी गर्व, घमडको भी अहकार कहते है अैसे अहकारसे यानी अपनेसे होनेवाली क्रियाये करनेवाला मै हू अैसे अभिमानसे जिसकी बुद्धि मोहवश होती है और प्रकृतिके कार्यको जो नही पहचानता, अुसे अहकार-विमूढात्मा कहते है (३–२७)। अहकारमे अविद्याका प्राधान्य होता है। जब वह अविद्या दूर होती है तब अह-कारकी जगह आत्म-प्रत्यय प्रगट होता है। श्री शकराचार्यने अहकारके बारेमे लिखा है — **अहकारः अविद्याख्यः; कष्टतमः सर्वदोषाणा मूल सर्वानर्थप्रवृत्तीनाम्।**

अहंकार और अस्मितामें जो सूक्ष्म फर्क है वह समझ लेना चाहिये। केवल अस्तित्वको मानना अस्मिता कहते हैं। 'मैं हूँ' इस अनुभवमें जब 'मैं' पर जोर आता है तब वह अहंकार होता है और 'हूँ' पर जोर आता है तब वह अस्मिता है (योगसूत्र २–१७ और २–४८)।

अहंकृत [१८–१७]

'मैं करता हूँ' इस प्रकारका भाव जिसमें लेप और बन्धन पैदा होता है।

(अनहंवादी शब्द भी देखिये।)

अहिंसा [१०–५, १३–७, १६–२, १७–१४]

मन वचन और कायासे किसीको नुकसान नहीं पहुँचाना यह अहिंसा है। यह हुई उसकी नकारात्मक व्याख्या। इसकी भावात्मक व्याख्या दी है ज्ञानेश्वरने — मन वचन और कायासे संसारको सुखी करनेके हेतु काम करना यही अहिंसाका रूप है।

√हिंस् (हिंसायाम्) मारना पीटना नुकसान पहुँचाना और हत्या करना। [कहा जाता है कि सिंह शब्द हिंसक अक्षर उलटानेसे बना है (सिंहो वर्णविपर्ययात्)] जहाँ अभय है वहाँ हिंसा संभव नहीं है (१३–२८)। सब प्राणियोंके साथ आत्मीयताका अभेदका अद्वैतका अनुभव करना ही अहिंसाकी उत्तम साधना है और अहिंसा आत्मानुभवकी सर्वश्रेष्ठ साधना है। गांधीजी कहते हैं कि अहिंसाके बिना सत्यका साक्षात्कार नहीं होता है। किसीको पीड़ा नहीं देना यह अहिंसाका लक्षण है सही किन्तु वैद्य जब रोगीके हितके लिये उसकी सम्मतिसे शस्त्रक्रिया करता है तब वह पीड़ा हिंसा नहीं है। इसी तरह जब किसी अन्यायकारीको हम अन्याय करनेसे रोकते हैं तब उसे जो दुःख होता है वह भी हिंसा नहीं है। अगर किसीने अन्यायसे किसीकी सम्पत्ति ले ली है तो उस अन्यायकारीसे वह सम्पत्ति छीन कर उसके सच्चे मालिकको देनेसे अन्यायकारीको दर्द होता है शायद बल प्रयोग भी आ पड़े, किन्तु वैसा करनेमें हिंसा नहीं है। किन्तु फर्क इतना है कि अहिंसक वृत्ति अन्यायकारीका भी भला चाहनेक

कारण अुसका सर्वनाश न हो जाय अैसे ढगसे न्याय देगी। अद्वैत वृत्तिके विना अहिंसाका कार्य पूर्णतया जगतमें नही आवेगा।

अहिंसा यद्यपि सर्वश्रेष्ठ अद्वैतामृतवर्षिणी मनोवृत्ति है, तो भी यह मनोवृत्ति कार्यान्वित किये विना वह सच्ची अहिंसा नही होती। अेक प्रवाद है कि अपने शिकारको खा जानेके वाद मगर सहानुभूतिमे रोता है। अुसके अैसे दभी अश्रुको नक्राश्रु कहते है। हमारी अहिंसा नक्राश्रुका रूप न ले, अकर्मण्य न वने अैसी सूचना देनेके लिअे गीताने हिंसाको शारीर तपमे स्थान दिया है। (१७–१८)

आचारः [१४–२१; १६–७]

गीतामे आदर्श पुरुषकी जहा चर्चा आती है वहा अर्जुन व्याख्या नही पूछता है, किन्तु अुसके आचरणके वारेमे पूछता है। स्थितप्रज्ञके वारेमे अुसने वैसा ही पूछा है कि वह कैसा वोलता है, कैसा वैठता है, कैसा चलता हे। तीन गुणोके जो परे गया है अैसे गुणातीतका आचार कैसा होता हे, यही अर्जुनकी जिज्ञासा है। मनुष्य मननशील तो है सही, किन्तु जैसा अुसका कर्म है वैसा ही वह वनता है। जो क्रियावान् है वही पडित है। आचार ही मनुष्यकी योग्यताका प्रमाण है। जो आचारमे कुशल है वही आचार्य है। आचर् शब्दका अर्थ होता है— काममे लाना। जिसका ज्ञान आचारमे परिणत हुआ है वही सच्चा ज्ञानी है। [गीतामे (१३–२ से १३–११) ज्ञानकी जो व्याख्या दी है, अुसमे ज्ञानीके स्वभावका और अुसके कर्मोका ही वर्णन दिया है।] चारित्र्य शब्द ही आचार-प्रधान है।

अैसे आचारमे अदरकी निष्ठा और वाहरका अिद्रिय-व्यापार अिन दोनोमे समन्वय रहना चाहिये। जिसका वाह्य आचरण नियमयुक्त है किन्तु अुसके साथ मनका और हृदयका योग नही है, अैसे मनुष्यका कार्य मिथ्या यानी निष्फल होता है। अैसे आदमीको गीताने मिथ्याचारी कहा है। जिसने कर्मेन्द्रियोका तो सयम किया है, परन्तु मनको कावूमें रखनेकी शक्ति न होनेके कारण मनके द्वारा विषय-सेवनका ही जो स्मरण करता है, अैसे मूढ मनुष्यको मिथ्याचारी कहा है (३–६)। दभमे और मिथ्याचारमें फर्क है। दभी मनुष्य विषयोका सेवन चाहता

ही है। किंतु समाज पर संयमी हाजरी छाप डालनेके लिअे वह अपरग्रह संयम बताता है। तभी मनुष्य बगैर ठग होता है मिथ्याचारी मनुष्य दुर्बल अथवा शिथिल होता है।

जिसने अपना ज्ञान आचार द्वारा कार्यान्वित किया है और जिस तरह जो आचार्य बना है असे चारित्र्यवान श्रेष्ठ पुरुषके पास रहनेसे ही ज्ञानप्राप्ति वीर्यवान बनती है।

आचार्योपासनम [१३–७]

महाभारतमें भीष्माचार्य द्रोणाचार्य कृपाचार्य अित्यादि बड़े बड़े आचार्योंका जीवन और पुरुषार्थ वर्णित है। आचार्योंकी व्याख्या शास्त्रोंमें अिस प्रकार है

आचिनोति हि शास्त्रार्थान्, आचारे स्थापयत्युत ।
स्वयं आचरते यस्तु स आचार्य प्रचक्षते ॥

सब शास्त्रोंका आलोडन करके अुनका मन्थन करके अर्थोंका और अुपन्यासोंको जो अिकट्ठा करता है फिर अुन शास्त्रोपन्यासोंको आचरणमें किस तरहसे लाया जाय जिसका रास्ता बताकर जो समाजमें सदाचारकी स्थापना करता है और स्वयं अुसीके अनुसार चलकर अपने अुदाहरणके द्वारा जो मार्ग-प्रदर्शन करता है असे (समाज हितकारी ज्ञानी और कर्मनिष्ठ) पुरुषको आचार्य कहते हैं।

अुस आचार्यके निकट रहनेसे अुनके जीवनक्रमका निरीक्षण करनेसे और अपने जीवनके हर कठिन समय पर अुनकी सलाह पूछकर तदनुसार चलनेसे शिष्य ज्ञानी चारित्र्यशील और धर्मविद् बनता है।

अुपासनाका शब्दार्थ होता है नजदीक जाकर बैठना, दूसरा अर्थ होता है सेवा करना अथवा ध्यान करना। जो युवक आचार्योंके नजदीक रहता है अुसे अंतेवासी भी कहते हैं।

अंतेवासीको गुरुका समग्र जीवन ध्यानपूर्वक देखनेका असाधारण मौका मिलता है अिसलिअे अुसकी अुपासना सफल होती है। आचार्यकी सेवा करके वह अुनकी अनुकूलता भी प्राप्त कर लेता है। जमीन खोदनेवालेको जिस तरह पानी मिलता है अुसी तरह सेवा द्वारा गुरुका हृदय अनुकूल कर लेनेवालेको गुरुकी अमोघ विद्या मिलती है।

अिसी सिलसिलेमें 'शुश्रूषा' शब्द भी समझ लेना चाहिये। शुश्रूषाका मूल अर्थ सेवा नही है। √श्रु यानी सुनना। शुश्रूषा यानी सुननेकी अिच्छा। जो शिष्य गुरुकी कही हुअी बातें सुननेके लिअे तत्पर है या अुसके अनुसार चलनेके लिअे जो तत्पर है अुसे 'शुश्रूषु' कहते है। शिष्यका धर्म था कि वह गुरुकी सेवा भी करे और तत्परतासे शुश्रूषा भी करे। अिस परसे शब्द आया सेवा-शुश्रूषा। फिर सेवाका भाव ही रह गया और शुश्रूषाका अर्थ सेवा ही होने लगा। जिस अन्तेवासीमे शुश्रूषावृत्ति है अुसीका 'आचार्योपासनम्' सफल होता है।

गीताने ज्ञानकी व्यापक व्याख्या करते हुअे ज्ञानप्राप्तिके साधन, ज्ञानोपासनाके फल और ज्ञानका व्यापक स्वरूप ये सबके सब अेक साथ दे दिये है। (१३–७ से १३–११)

महाभारतमे अेक सुदर प्रसग है जहा धर्मकी चर्चा करते हुअे अर्जुनको श्रीकृष्ण डाटते है "हे अर्जुन! तुम धर्मका रहस्य क्या जान सकते हो? तुमने वृद्धोकी सेवा थोडे ही की है?" भगवानका कहना यह था कि जो लोग वयोवृद्ध है, ज्ञानवृद्ध है, तपोवृद्ध है अैसे ही लोग जीवनके सब पहलू जानते है। अैसे जीवन-वृद्धोके निकटतम सहवासमे ही धर्म जाना जाता है, क्योंकि वे समय समय पर भिन्न भिन्न दृष्टिसे धर्म-रहस्य समझाते है। अिस तरह आचार्योंकी अुपासना और वृद्धोकी सेवा धर्म-ज्ञानप्राप्तिका अेक महत्त्वका साधन माना गया है।

विद्यार्थियोके लिअे सस्कृतमे छात्र शब्द आया है। यह अेक अजीब शब्द है। 'छतात् त्रायते अिति छात्र' अैसी अिसकी निरुक्ति बताअी है। जिस शिष्यको गुरुने अतेवासी होनेका अधिकार दिया है, अुसके सामने गुरुके गुण-दोष छिप नही सकते।

गुरुकी छोटी-मोटी सब बातोका शिष्य साक्षी रहता है। अैसा शिष्य अगर गुरुको बदनाम करना चाहे तो आसानीसे कर सकता है। अैसे सकटसे – छतसे – गुरुको जो बचाता है वह छात्र है। हरअेक नुकसानसे जो गुरुको बचाता है वह छात्र है, यह भी छात्रका अर्थ हो सकता है। अन्तेवासी बनकर जब विद्यार्थी विद्या पाते थे और फीसकी

जगह गुरुने गरबी सेवा करके परिश्रम द्वारा पुण्य अर्जन करते थे, ऐसे कामोंमें द्रोण शस्त्रकी अरुचि हुआ होगी।

आततायिन् [१–३६]

समाज जिसे अपराधको सहन नहीं कर सकता, असे घोर अपराध करनेवालेको आततायिन् कहते हैं। आग लगानेवाला, जहर पिलानेवाला अथवा जैसा आदमी जिस पर खून चढ़ा हो या जो मनुष्य किसीका धन स्त्री या जमीन लूट लेता है असको आततायी कहते हैं।

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।
क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते ह्याततायिनः ॥

अंग्रेजी गुनहगारोंको अंक तरहसे Outlaw समझते थे। यानी जिसे शिकार जैसे देख लिया वह असे मार सकता था। असके बारेमें शास्त्रका वचन है

आततायिनम् आयान्तम् हन्यात् अेव अविचारयन्।

अगर कोओ आततायी सामनेसे हमला करनेकी कोशिशसे आ जाय तो विशेष सोचे बिना (यानी न्यायाधीशके सामने विचारके लिअे असे खड़ा किये बिना) मार ही डालना चाहिये।

अर्जुनकी दलील यह है कि आततायियोंको मारनेमें पाप नहीं है अस शास्त्रवचनके आधार हम स्वजनोंको और गुरुजनोंको मारनेमें कम न सकते हैं? हमें तो पाप लगेगा ही।

आत्मतृप्त [३–१७]

जो मनुष्य आत्मासे आत्मामें ही तृप्त है सन्तुष्ट है असे आत्मतृप्त कहते हैं। जो मनुष्य भूखा है वह अस्वस्थ होता है। भोजन मिलने पर असकी क्षुधा निवारण होने पर वह तृप्त होता है। किन्तु वासना-पूर्तिके द्वारा प्राप्त हुओ तृप्ति स्थायी नहीं होती फिरसे अतृप्ति, तृष्णा बार-बार अुत्पन्न होती है।

(तृप् और तृष् ये दोनों धातुअें मनुष्य-जीवनमें अेकके पीछे अेक आती ही रहती है।) असलिये बाह्य वस्तुकी तृप्तिके द्वारा मनुष्य

कभी नित्यतृप्त (४–२०) होता ही नही। कर्मफलकी आसक्ति छोड देने पर ही मनुष्य नित्यतृप्त वनता है। ज्ञान, विज्ञानके द्वारा आत्मतत्त्वके सच्चे स्वरूपका ज्ञान और साक्षात्कार होने पर ही अिन्द्रिय-विजयी तृप्तात्मा वनता है (६–८)। आत्माका साक्षात्कार जिसे हुआ अुसीकी वासनाये निर्मूल हो जाती हैं और किसी भी प्रकारकी आकाक्षा न रहने पर वह तृष्णा-रहित आत्मतृप्त वन जाता है।

आत्मबुद्धिप्रसादः [१८–३७]

प्रसाद = प्र + √सद् (विशरण-गति-अवसादनेषु)। प्रसादस्तु प्रसन्नता यानी निर्मलता। सुख दो प्रकारके होते हैं। अगर किसी आदमीको खुजली हुअी तो चमडी खुजलानेसे अुसे सुख होता है। यह हुआ अेक प्रकारका सुख, जो असलमे जघन्य है। वही मनुष्य जब निरोगी वनता है तव अुसके आरोग्य और यौवनके कारण शरीरकी चमडीके अूपर कान्ति प्रगट होती है। अैसा मनुष्य जब सुवह व्यायाम करके ठडे पानीसे नहा लेता है तव अुसके सारे शरीरसे मानो सुख फूट निकलता है। यह दूसरे प्रकारका सुख सात्त्विक अतअेव श्रेष्ठ है।

अव अिन्द्रियोके द्वारा जो विषय-सुख मिलता है वह मानो खुजलानेका सुख है और आत्मावलम्वी वुद्धिके द्वारा जो अनासक्तिका निर्मल सुख मिलता है वह मानो आरोग्य और यौवनका सुख है, मानो ब्रह्मचर्यका सुख है।

ज्ञान, वैराग्य, ध्यान, समाधि आदिकी साधना जब चलती है तव प्रारभमे वडा ही कष्ट होता है। किन्तु आगे चलकर अुसीमे से अमृत-तुल्य सुखकी प्राप्ति होती है। अैसे सुखको सात्त्विक सुख कहा है।

(अिसके साथ 'प्रसाद' और 'मन प्रसाद' शब्द देखिये।)

आत्मयोगात् [११–४७]

'आत्मयोगात्'का अर्थ होता है अपने योगके द्वारा। यहा योगका अर्थ होता है योगवल अथवा अैश्वर्य (ओश्वरस्य भाव अैश्वर्यम्)। भगवान तो योगेश्वर है ही।

आत्मरति [२-१७]

रति √रम् (रती) रमना आनन्द पाना आराम करना ठहर जाना। अिस परसे रतिका अर्थ होता है आनन्द सुख प्रीति।

प्राकृत मनुष्यको विषय-भोगमें रति मिलती है। कर्ममार्गी मनुष्यको कर्मोंके विस्तारसे सन्तोष होता है। किन्तु ज्ञानमार्गी मनुष्यको कोअी चाहना ही नहीं रहती। अुसका सन्तोष अुसकी रति और अुसकी तृप्ति किसी बाह्य वस्तु व्यक्ति या घटना पर निर्भर नहीं रहती। अुसके लिअे ये सब अन्दरसे ही स्वयंसिद्ध होते हैं। विरक्त निःस्पृह, ज्ञानीको आत्मरति कहते हैं।

अिसीके लिअे कर्तव्यका कोअी बंधन नहीं होता।

आत्मवान् [२-४५, ४-४१]

हरअेक जीव आत्माकी ही अभिव्यक्ति है। लौकिक भाषामें हम कहते हैं कि हरअेक जीवमें आत्मा है। तब भगवानने अर्जुनको तुम आत्मवान् बनो (आत्मवान् भव) असा क्यों कहा होगा? अिसका अुत्तर यह है कि सब जीव आत्मवान होते तो हैं किन्तु प्रमादके कारण वे आत्माको भूल जाते हैं। अगर कोअी धनी आदमी अपनी सम्पत्तिको भूल जाय तो अुसकी दृष्टिसे वह दरिद्री है। अुसके लिअे अपनी सम्पत्तिकी याद आना नयी सम्पत्ति पानेके बराबर है। अिस अर्थमें 'आत्मवान् भव' का अर्थ लगाना चाहिये।

यों तो हरअेक आदमीके मा-बाप होते हैं तो भी जिसे अुसके मा बापकी ओरसे अच्छी शिक्षा व संस्कारिता प्राप्त हुअी है अुसे मातृमान् पितृमान् कहनेका रिवाज है। जिसने अपने गुरुके पाससे विद्या लेकर अुस विद्याका सदुपयोग किया है अितना ही नहीं किन्तु अपने जीवनमें अुस विद्याको आत्मसात् करके दिखाया है अुसे आचार्यवान् कहते हैं। जैसे कि — मातृमान् पितृमान् आचार्यवान्, वेदवान्। जिसने मा-बापसे और अपने गुरुओंसे अच्छी संस्कारिता प्राप्त की है असा ही मनुष्य रहस्य विद्या समझ सकता है। आत्मवान् मनुष्य अपने आत्म-स्वरूपको नहीं भूलता, आत्मपरायण रहता है आत्महितके विपरीत कुछ भी काम

नही करता। सतत सत्त्वगुणका ही आश्रय करता है। सुख-दुखादि द्वन्द्वोके आघातसे पराभूत नही होता। अैसे आत्मवान्को कर्मोका बन्धन हो नही सकता (४–४१)।

आत्मसंभाविताः [१६–१७]

यहा आत्म शब्दका सम्बन्ध अन्तरात्मासे नही है। आसुरी सम्पत्तिके लोगोके वर्णनमें यह शब्द आया है। जो लोग घमडमें अपनेको ही सर्वगुण-सम्पन्न मानते है, अपने बडप्पनका अभिमान रखते है किन्तु सत्पुरुषोने जिन्हे सज्जन या श्रेष्ठ नही कहा अैसोको 'आत्मसभाविता' कहते है।

आत्मकारणात् (३–१३)शब्दमे भी आत्माका अर्थ केवल 'स्वय' अितना ही है। अपने ही लिअे जो पकाते है वे पाप खाते है। आत्म-सभाविता शब्द Self-righteous के जैसा है। पाश्चात्य लोगोमे यह वृत्ति हम हमेशा पाते है। अुच्च वर्गके लोगोमे भी यह दोष पाया जाता है।

आत्मा [६–५, ६, ७–१८; ९–५, १०–२०; १३–३२, आदि आदि]

गीतामें यह शब्द स्वतत्र रूपसे या समासमे या विशेषणके तौर पर अनेक वार आया है। अिस शब्दकी व्युत्पत्ति अनेक ढगसे बनायी गअी है। अेक अिटालियन सस्कृत पडितने कल्पना की है कि अथर्व-वेदमें 'तन्मयि' आता है। अुसी परसे आत्मा शब्द आया होगा— "यह जो मेरे अन्दर है।" आप्नोति, आदत्ते, अत्ति सर्वम्—सब कुछ प्राप्त करता है, ले लेता है और अुपभोग करता है अिसलिअे अुसे आत्मा कहते है अैसा शाडिल्यका कहना है। श्री शकराचार्यने आत्माकी व्युत्पत्ति आप्, आदा, आ + अद् और आ + अत् अैसे अनेक तरहसे बतायी है। अत् (सातत्य-गमने) हमेशा जाते रहना, जीते रहना, हमेशा होना अिन परसे आत्मा निकला हुआ दीख पडता है।

जो शरीरमें रहता है, किन्तु शरीरसे बद्ध या सीमित नही है, जो अविनाशी और अविकारी है, जो सर्वत्र और सर्वदा अेकना

विद्यमान है और जो अनेक रूपोंमें प्रगट होते हुअे भी अेक है, वह आत्मा है। अुसके असीम सामर्थ्यको और व्यापकताको ध्यानमें रखकर अुसे परमात्मा या विश्वात्मा भी कहते हैं। हृदयके अन्दर वह पाया जाता है, अिसलिअे अुसे अन्तरात्मा कहते हैं। जब देहके अन्दर रहनेसे वह मर्यादित हुआ है अैसा भ्रम पैदा होता है, तब अुसे जीवात्मा कहते हैं।

आत्माका अर्थ होता है हम स्वयं। अिसलिअे आत्माका अर्थ शरीर भी होता है। मन, हृदय, अन्तःकरण, प्राण, अिन्द्रिय अित्यादि अुसके अनेक अर्थ होते हैं।

आत्मौपम्य [६–३२], सर्वभूतात्मभूतात्मा [५–७]

अैक्यका अनुभव दो प्रकारसे किया जाता है। तत्त्वज्ञानके चिन्तन यानी ज्ञान-साधनाके द्वारा सबमें अेकता और अभेदका दर्शन करना यह अेक प्रकार हुआ। दूसरा प्रकार जीवन-साधनाका है। जिसमें हृदयमें सब प्राणियोंके साथ निष्काम प्रेम बढ़ानेकी साधना होती है। दूसरेके सुखसे सुखी होना, दूसरेके दुःखसे दुःखी होना और फलतः किसीके प्रति प्रतिकूल आचरण नहीं करना यही है अहिंसा। अिस अहिंसाके द्वारा भी अद्वैतकी अनुभूति दृढ़ होती है। जिसने स्वार्थ छोड़ दिया, द्वेष आदिसे जो परे है, सत्ता और सत्ताकी लालच जिसमें नहीं है, जिसने अिन्द्रियोंको जीत लिया है, वही पक्षपात रहित होकर आत्मौपम्यका अनुभव करता है। अैसा मनुष्य जानता है कि जिस सारे विश्वमें जो जो व्यक्ति या चीज है अुसकी आत्मा और अपनी निजकी आत्मा अेक ही है (५–७)। आत्मौपम्यकी अैसी साधना द्वारा वह आत्मैक्य यानी सर्वात्मैक्यका अनुभव करता है। अुसी अनुभवको विश्वात्मभाव भी कहते हैं।

सर्वत्र अेक ही आत्मा विराजमान है। अिस सारे विश्वमें अेक ही सत् भिन्न भिन्न रूपसे अपना व्यापार चलाता है। सबका हृदय अेक ही है। और जिस हृदयसे ही सत्यका ज्ञान होता है। (हृदयेन हि सत्यं जानाति)।

अब बाद आसनोंके द्वारा शरीरके सभी दोष दूर करनेकी तरकीब पाओी गओी। आगे जाकर विशिष्ट ढंगसे बठनसे कुंडलिनी शक्ति जाग्रत करना आसान है अेसा देखा गया। गीतामें अेक ही आसन पसंद किया है जिसमें सारा शरीर — पीठकी रीढ़ सीधी रहे सिर और गर्दनमें भी कहीं टेढ़ापन न आ जाय। प्राणायामके लिअे अनुकूलता प्राप्त करना यह भी आसन पसंद करनेमें अेक मुद्दा रहता था।

असुर [७–१५ ९–१२ १६–४, ५, ६, ७, १९, २०],
देव [४–२५ ७–१४ ९–१३, १६–३, ५, ६, १८–१४]

√दिव् (क्रीडा विजिगीषा व्यवहार द्युति स्तुति मोद मद स्वप्न कान्ति गतिषु)। जो प्रकाशमान हैं प्रभावशाली हैं जिनकी कान्ति अप्रतिहत है अुन्हें देव कहते हैं। देव शब्दका अर्थ नक्षत्र तारे भी होता है और अिन्द्रिय भी होता है। राजा और स्वामीको भी देव कहते हैं।

असुर शब्दकी अुत्पत्ति अनिश्चित है। कोओी कहता है असून् राति अिति असुर' अर्थात् जो प्राण देता है वह असुर है। पारसियोंके धर्मग्रन्थोंमें देवोंको अहुर अथवा असुर कहा है। वेदमें अेक जगह अिन्द्रको भी असुर कहा है। अितिहासिक कहते हैं कि आर्य और अीरानी शाखायें जब अेकत्र रहती थीं तब आर्य लोग सोम या शराब पान करते थे अिसलिअे अुन्हें सुर कहते थे और आरानी लोग शराबका परहेज रखते थे अिस वास्ते अुन्हें असुर कहते थे (सुरा = शराब)।

सुरा प्रतिग्रहात् देवा सुरा अित्यभिविश्रुता ।
अप्रतिग्रहणात तस्या दतेयाश्च असुरास्तथा ॥

(रामायण)

देव और असुर भाओी भाओी थे। अुपनिषद्‌में कहा है कि असुर बड़े भाओी तथा देव छोटे भाओी थे (बृहदारण्यक १–३–१)।

गीतामें ये शब्द नैतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक गुणोंके द्योतक हैं। जो लोग सत्त्वगुण प्रधान हैं अुनके स्वभावको देव कहा है

और जो रजोगुणी है अुनके स्वभावको आसुरी कहा है। सोलहवे अध्यायमे अिन दोनोके स्वभावका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।

सम्पत् शब्दके नीचे तथा भूतसर्गके नीचे अिसका विशेष विस्तार देखे।

दैवी सम्पत्तिके लोग दीर्घदर्शी होते है। वे अिस लोक और परलोक दोनोका खयाल रखते है। अभ्युदय और नि श्रेयस् दोनोको ध्यानमे रखकर अपना जीवन-क्रम निश्चित करते है। व्यक्तिका हित और समाजका हित दोनोमे विरोध नही आने देते। पशु, पक्षी, सरीसृप, कृमि, कीट, वनस्पति आदि सबके चैतन्यकी अेकताका स्वीकार करते है। अिनके गुणोकी फेहरिस्तसे ही सोलहवा अध्याय शुरू होता है।

आसुरी वृत्तिके लोग रजोगुणी होनेसे अदूरदर्शी, स्वार्थी और अहकारी होते है। अिसी कारण अुनमे दम्भ भी आ जाता है। अुनके जीवन-क्रममे द्रोह भरा रहता है। गीतामे अिनका जो वर्णन आया है अुसे पढते समय खयाल होता है कि साम्राज्यवादियोका ही वर्णन हम सुन रहे है।

आस्तिक्यम् [१८–४२]

√अस् (भुवि) होना, रहना। अिस धातुका तृतीय पुरुष अेकवचन है 'अस्ति' यानी 'है'। अिस परसे आस्तिक्यका अर्थ होता है किसी वस्तु, व्यक्ति, घटना, सम्बन्ध या गुणके बारेमे 'यह है' अैसा विश्वास। अिसका विपरीत शब्द है नास्तिक्य या नास्तिकता।

आस्तिक्य शब्दका आजकल विशेष अर्थ होता है 'अीश्वर है' अैसी श्रद्धा। किन्तु हमारे धर्मग्रथोमें आस्तिक्यका सम्बन्ध अीश्वरके अस्तित्वसे नही है। वेद और धर्म-ग्रन्थोके बारेमे जिसकी प्रामाण्य-बुद्धि है अुसे आस्तिक कहते है। मनुका वचन है 'नास्तिको वेदनिन्दक'। अगर आप वेदको प्रमाण मानते है और अीश्वरको नही मानते है तो भी आप आस्तिक ही है। अगर आप अीश्वरको मानते है किन्तु वेदको प्रमाण नही मानते है तो आप नास्तिक है। आजकल यह विशेप अर्थ नही रहा है। गीतामे जहा आस्तिक्य शब्द आता है (१८–४२) वहा भी भाष्यकारने अुसका अर्थ

किया है 'अस्तिभाव अर्थात् श्रद्धा' 'आगमार्थेषु' — शास्त्रके अर्थ पर श्रद्धा विश्वास।

शास्त्रदर्शी लोगोंके लिअे असी श्रद्धा स्वाभाविक होगी। किन्तु अगर शास्त्रका इतना अर्थ किया जाय तो सामान्य मनुष्यको असी श्रद्धा स्वाभाविक नहीं हो सकती। शास्त्र और आगमका अर्थ अगर अनुभूत और स्वयंसिद्ध ज्ञान है तब तो असी श्रद्धा अुत्पन्न होना स्वाभाविक है।

आजकल आस्तिक्यका अर्थ है अीश्वरके अस्तित्व पर विश्वास। यह तो केवल श्रद्धाका ही विषय है। अगर किसीका अीश्वरके अस्तित्व पर विश्वास नहीं बैठता है तो अुसे हम दुःखी या कमनसीब कह सकते हैं किन्तु दुराचारी या पापी नहीं।

आस्तिक्यका असली अर्थ होना चाहिये सौजन्य पर विश्वास, मनुष्य हृदयके विकास पर विश्वास, जीवनके कल्याण-स्वरूप पर विश्वास, आध्यात्मिक सिद्धान्तोंकी अटलता पर विश्वास अथवा आत्मा पर विश्वास।

आहार [१७-७, ८, ९]

आ + √हृ। जो लिया जाता है वह आहार — खुराक। जो खाया जाता है (अद्) अुसे अन्न कहते हैं। अन्न और आहार अेक ही अर्थके शब्द हैं।

मनुष्य जो अन्न खाता है अुसीसे अुसके शरीरके रसादि सप्त धातु बनते हैं। अिसलिअे निश्चय आहारका शरीर पर, स्वास्थ्य पर, मन पर और स्वभाव पर बहुत कुछ असर होता है। यह देखकर धर्मकारोंने साधकोंके लिअे आहारका बहुत कुछ विवेक बताया है। अिस विश्वमें जो कुछ है अुन सबमें सत्त्व रज और तमका भेद दीख पड़ता है।' गीताने अपने गुणसंख्यानमें त्रिविध आहारोंका विस्तारसे वर्णन किया है। हमारे आयुर्वेदमें भी अिसी दृष्टिका अवलम्बन किया गया है।

अुपनिषदोंमें "आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः" आहार शुद्ध रहने पर मनुष्यका सत्त्व याने चारित्र्य शुद्ध होता है अैसा स्पष्ट कहा है। सत्त्वका अर्थ शरीरकी रचना भी होता है। आहार शुद्ध होने पर शरीर

निर्दोष बनता है। आहारकी प्राप्ति प्रामाणिक हो और निष्पाप हो, समाजद्रोही न हो तो चारित्र्य अुज्ज्वल बनना ही चाहिये।

अिसके अलावा आहारकी मात्रा भी सप्रमाण रहनी चाहिये (६-१७)। जो अधिक खाता है अथवा बिलकुल खाता ही नही (६-१६) अुसे जीवनसिद्धि नही मिलती। जो युक्ताहारविहार है अुसीको योगका फल मिलता है।

जो मनुष्य आहार ही छोड देता है, निराहारी बनता है (२-५९) वह आहारसे तो परे रहता है किन्तु अुसकी आहारकी वासना दूर नही होती। वह तो रहती ही है और कभी कभी बढती भी है। (यहा आहारसे मतलब केवल अन्नसे नही है। किन्तु तमाम अिद्रियोके अपने अपने विषयोके सेवनसे है।)

सात्त्विक, राजसिक और तामसिक अैसे आहारके तीन भेद बताये है। अिसमे अन्नके गुणका भी विचार किया गया है और खानेवालेकी अभिरुचिका भी। जो आहार स्वादिष्ठ है, घी या तेल जैसे चिकने तत्त्वोके कारण पौष्टिक है, सारयुक्त होनेसे स्थिर है और हृदयको प्रसन्नता देते है वे सात्त्विक है। अैसे पदार्थ आयु, सत्त्व (Vitality), बल, आरोग्य, सुख, प्रीति और स्वाद या रुचि बढानेवाले होते है। राजस वृत्तिके लोगोको अति तीखे, खट्टे, खारे, बहुत गरम गरम, कडवे, रूखे और जलन करनेवाले पदार्थोकी ओर रुचि होती है। अैसे पदार्थोके सेवनसे दु.ख, कष्ट और रोग पैदा हुअे तो भी वे अुसकी परवाह नही करते।

तामस प्रकृतिके लोग हिस्र जानवरोके जैसे होते है। अुन्हे तो बासे, सडे, दुर्गन्धियुक्त और नीरस पदार्थ ही अच्छे लगते है, फिर वह जूठन हो और फेंकने लायक ही क्यो न हो वे तो खायेंगे ही।

अिच्छाद्वेषसमुत्थ [७-२७]

जो लोग अिद्रियोके वश रहते है अुनके मनमे सुखकारक वस्तुओंकी अिच्छा रहती है और दु खदायक वस्तुओके प्रति द्वेष। सामान्य जीवनके अनुभवसे हम यह नही कह सकते कि सुखदायक वस्तुअे हितकारी ही होती है और जिनसे शरीरको दु ख होता है वे

हानिकारक ही होता है। अिसलिअे ज्ञानी पुरुषको — सयाने मनुष्यको — सुख-दुःखकी प्रेरणाको मानकर नहीं चलना चाहिये। जो लोग अिच्छा और द्वेषसे अुत्पन्न होनेवाले मोहके चक्करमें फंस जाते हैं वे संसृतिके प्रवाहमें बह जाते हैं।

सुख और दुःख जीवनके पथप्रदर्शक होनेका दावा करते हैं। किन्तु अुनके पीछे जानेसे व्यावहारिक दुनियाका सामान्य मतलब भी सिद्ध नहीं होता फिर परमार्थसिद्धिकी बातें क्या साधनी हैं।

अिच्छा द्वेष भय और क्रोध प्राकृतिक शरीरमें होते ही हैं। अुनके अूपर विजय पाना सत्कारी पुरुषका मुक्त पुरुषका लक्षण है। (५-२८)

अिन्द्रियकर्माणि [४-२७]

अिन्द्रियकर्माणि का अर्थ होता है अिन्द्रियोंके कर्म अर्थात् अिन्द्रियोंके द्वारा होनेवाले कर्म। गीताने अिन्द्रिय-कर्म और प्राण-कर्म अैसा कर्मोंका भेद माना है। अिनमें से प्राण-कर्म तो बेअिख्तियार होते ही रहते हैं अिन्द्रियोंके कर्मोंमें मनोयोग रहता है। ज्ञानसे प्रज्वलित हुआ आत्मसंयमरूपी योगाग्निमें अिन दोनों कर्मोंका हवन किया जाता है।

अिन्द्रिय-कर्मोंमें ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनोंके व्यापारका अन्तर्भाव होता है।

अिन्द्रियग्राम [६-२४, १२-४]

√ग्राम् (आमन्त्रणे) ग्रामका अर्थ है समुदाय। जिसके अनेक अर्थ हैं— गांव, जाति, समुदाय, संगीतमें सप्त स्वरोंका ग्राम (Scale Gamut)।

अिन्द्रिय शब्दकी व्युत्पत्ति ध्यानमें रखने लायक है। अिन्द्रकी जिन्हें प्रेरणा है अिन्द्र जिनके अधिपति हैं अुन्हें अिन्द्रियां कहते हैं। अिन्द्र शक्तिका देव है। अुसीकी शक्तिसे अिन्द्रियां अपना अपना काम करती हैं।

अब अिन्द्र शब्दकी व्युत्पत्ति भी देखना चाहिये। अिस सारे विश्वको संस्कृतमें 'अिदम्' कहते हैं क्योंकि वह हम साक्षात् देख सकते हैं अनुभव कर सकते हैं। वैदिक साहित्यमें 'अिदम्' की जगह 'अिम्' भी आता

निर्दोष बनता है। आहारकी प्राप्ति प्रामाणिक हो और निष्पाप हो, समाजद्रोही न हो तो चारित्र्य अुज्ज्वल बनना ही चाहिये।

अिसके अलावा आहारकी मात्रा भी सप्रमाण रहनी चाहिये (६-१७)। जो अधिक खाता है अथवा बिलकुल खाता ही नही (६-१६) अुसे जीवनसिद्धि नही मिलती। जो युक्ताहारविहार है अुसीको योगका फल मिलता है।

जो मनुष्य आहार ही छोड देता है, निराहारी बनता है (२-५९) वह आहारसे तो परे रहता है किन्तु अुसकी आहारकी वासना दूर नही होती। वह तो रहती ही है और कभी कभी बढती भी है। (यहा आहारसे मतलब केवल अन्नसे नही है। किन्तु तमाम अिंद्रियोके अपने अपने विषयोके सेवनसे है।)

सात्त्विक, राजसिक और तामसिक अैसे आहारके तीन भेद बताये है। अिसमें अन्नके गुणका भी विचार किया गया है और खानेवालेकी अभिरुचिका भी। जो आहार स्वादिष्ठ है, घी या तेल जैसे चिकने तत्त्वोके कारण पौष्टिक है, सारयुक्त होनेसे स्थिर है और हृदयको प्रसन्नता देते है वे सात्त्विक है। अैसे पदार्थ आयु, सत्त्व (Vitality), बल, आरोग्य, सुख, प्रीति और स्वाद या रुचि बढानेवाले होते है। राजस वृत्तिके लोगोको अति तीखे, खट्टे, खारे, बहुत गरम गरम, कडवे, रूखे और जलन करनेवाले पदार्थोकी ओर रुचि होती है। अैसे पदार्थोके सेवनसे दु.ख, कष्ट और रोग पैदा हुअे तो भी वे अुसकी परवाह नही करते।

तामस प्रकृतिके लोग हिंस्र जानवरोके जैसे होते है। अुन्हे तो बासे, सडे, दुर्गन्धियुक्त और नीरस पदार्थ ही अच्छे लगते हैं, फिर वह जूठन हो और फेंकने लायक ही क्यो न हो वे तो खायेंगे ही।

अिच्छाद्वेषसमुत्थ [७-२७]

जो लोग अिंद्रियोके वश रहते है अुनके मनमें सुखकारक वस्तुओकी अिच्छा रहती है और दु खदायक वस्तुओके प्रति द्वेष। सामान्य जीवनके अनुभवसे हम यह नही कह सकते कि सुखदायक वस्तुअें हितकारी ही होती है और जिनसे शरीरको दु ख होता है वे

अनुभव होने पर आत्माकी अिच्छामें हमारी अिच्छा विलीन हो जाती है। जब तक हमारी बाकी स्वतंत्र अलग अिच्छा रहती तो अन्तमें अुलझना पुनरा रहा। अभेद सिद्ध होने पर हम सबके सार्वभौम शासक हो रह जाते हैं।

सज्जन वृत्ति और सत्कृतिमें त्याग और संयमकी प्रधानता होती है। अिन्द्रियोंको तृप्त करना और दूसरों पर अधिकार जमाना अुनसे स्वार्थ लाभ अुठाना यही है अुस संस्कृतिका लक्षण।(२-४३ ४४)

अुत्सन्नकुलधर्म [१-४४]

अुत्सन्न हुआ है यानी नष्ट हुआ है कुलधर्म जिनका अुन्हें अुत्सन्नकुलधर्मा कहते हैं। अैसे लोगोंका मरने पर नरकमें निश्चित वास होता है। जो लोग कुलका घात करते हैं वे और अुनसे भ्रष्ट हुअे कुल और भ्रष्टकुलके सब लोग अिन सबको नरकमें रहना पड़ता है। असी अुस समयके समाजशास्त्रियोंकी राय था।

स्वर्ग-नरक

स्वर्ग-नरकके बारेमें प्राचीनोंकी जो राय थी वह आज नहीं पायी जाती। तो भी समाजविज्ञानकी दृष्टिसे अिन कल्पनाओंमें कुछ तथ्य है।

जहां अप्सरायें रहती हैं जहां अुनका गान और अमृतका पान अखण्ड चलता है और जहां जरा-मृत्युका डर नहीं है अैसे स्वर्गकी कल्पना हम भले ही छोड़ दें, जहां यमदूत पीटते हैं अग्निमें डालते हैं तेलमें जलाते हैं और सड़सीसे पकड़कर चमड़ी निकालते हैं और अितनी विडम्बना होते हुअे भी मृत्यु द्वारा छुट्टी मिलनेकी गुंजाअिश नहीं है अैसे नरककी कल्पना भी हमारे ध्यानमें भले ही न बैठे किन्तु स्वर्ग और नरककी कल्पना नये ढंगसे सोचनी ही होगी।

अगर मनुष्यका आचरण समाजविरोधी हुआ और अुसी तरह से निरन्तर कारण दुराचार मनुष्यका स्वभाव ही बन गया तो मनुष्यकी अवनति अवश्य होती है। अुस स्थितिमें न तो अुसे सुख मिलता न शान्ति। असी अवनत ग्लानिपूर्ण अवस्थाको ही नरक कहना चाहिये।

होनके कारण असका वर्णन असने अलग खण्डमें किया है। किन्तु दर्शन तो भगवानकी कृपासे सर्वथा स्वतंत्र ही हुआ।

अकाग्रता [६–१२, १८–७२]

जिस तरह सूक्ष्म-दर्शक काच (Convex lens) में प्रकाशकी किरणें केन्द्रीभूत होकर अनकी शक्ति बढ़ती है यहां तक कि अकाग्र हुई किरणोंमें रखी हुई बारूद अथवा रुआ अकाअक जल अठती है अिसी तरह जब मनको अेक ही वस्तुमें लगाया जाता है, अकाग्र किया जाता है तब सृष्टिके और मानस तत्त्वके गूढ़के सब रहस्य असके सामने अनायास प्रगट होते हैं। योगशास्त्रमें अस अकाग्र ध्यानको संयम कहते हैं। (ध्यान धारणा समाधि तीनोंके समुच्चयके लिअे यह पारिभाषिक शब्द है।) किसी विज्ञानशास्त्रीने कहा है कि अेकाग्र मनकी शक्ति Dynamite बारूदके समान है। किसी पहाड़के नीचे सुरंग लगाया जाय तो असके जलनेसे सारा पहाड़ टूट जा सकता है।

मनको अकाग्र करनेकी शक्ति सिद्ध होनेके बाद असमें दूसरी अेक शक्ति पैदा होती है जिसे विकिरण शक्ति कहा जा सकता है। (The power of radiating in all directions from the centre)

जब मनुष्यका मन भिन्न भिन्न अिन्द्रियोंके साथ अनके अुन अुन विषयोंके पीछे दौड़ता है तब असकी शक्ति क्षीण होती है। जब वही मनुष्य अपने चित्तको और अिन्द्रियोंको विषयोंसे खींचकर वापस लाता है तब ध्यानकी शक्तिसे मन अेकाग्र होता है। असा होनेसे अन्तःकरणकी शुद्धि भी हासिल होती है।

अेकाग्र मनको अेकसाथ अनेक दिशाओंमें सोचनेके लिअे और काम करनेके लिअे हम भेज सकते हैं। जैसे ज्योति अपने किरण बिखेरती यानी सब दिशाओंमें भेज सकती है।

ओषधी

वृक्ष वनस्पति और ओषधियोंका भेद समझना चाहिये। ओषधि वह है जो फूल, फल आदि देकर अेक वर्षके अंदर सूख जाती है।

वृक्ष और वनस्पति दीर्घजीवी होते हैं और अनेक बार फल, फूल आदि देते हैं।

ॐ [८–१३, ९–१७, १७–२३, २४], प्रणव [७–८]

ॐ अेक ही अक्षर है। किन्तु अुसमें अ अु म जिन तीनोंकी ध्वनि मिली हुअी है। अ का स्थान कंठ है, अु का ओष्ठ है और म का ओष्ठ और नासिका है। जिस तरह ॐ की हृदयगत ध्वनि गलेसे निकल कर नासिका द्वारा मस्तिष्कमें घूमती है, गूंजती है। मंत्रशास्त्रमें बताया है कि जिस अेक अक्षरमें सब शक्तियां भरी हुअी हैं। गीतामें ॐ को परब्रह्मका नाम कहा है — 'ब्रह्मण अभिधानभूतम् ॐ कारम् अेकाक्षरम् व्याहरन्' अित्यादि (८–१३)। दूसरी जगह (१७–२३ २४) कहा है कि 'ॐ तत् सत्' ये परब्रह्मके तीन निर्देश हैं। जिनमें से ॐ का अुच्चारण करके यज्ञ दान तप आदि सब पवित्र क्रियायें की जाती हैं।

मंत्रशास्त्र कहता है कि हरअेक मंत्रके प्रारम्भमें और अन्तमें ॐ का अुच्चारण करना चाहिये। तभी मंत्रशक्ति सुरक्षित रहती है, अन्यथा जैसे छिद्रवाले बरतनसे पानी बह जाता है अुसी तरह मंत्रकी शक्ति बह जाती है।

योगमें ॐ को जागृति स्वप्न सुषुप्ति और तुरीयावस्थाका द्योतक माना है। पौराणिक कहते हैं कि ॐ में ब्रह्मा विष्णु महेश तीनोंका अन्तर्भाव होता है। वेदत्रयीका भी ॐ द्योतक है। वैदिक कहते हैं कि ॐ में सब देवताओंका अन्तर्भाव होता है। अिसीलिअे अुपासना-मार्गमें ॐ का महत्त्व है। ॐ का सविस्तार वर्णन माण्डुक्यमें और छान्दोग्यमें आया है और अुसीका विस्तार गार्ग्यायणके प्रणववादमें हुआ है (डॉ॰ भगवानदासकी किताब The Science of the sacred words)। ॐ का रहस्य जो जानता है वही वेद जानता है।

ओमका असली अुपयोग 'जी हां' कहनेके लिअे होता था। जिस तरह आकार नकारका विरोधी होनेसे आस्तिकताको व्यक्त करता है। ओमका ही दूसरा रूप है आम्, जो तमिल भाषामें

आमा के रूपमें पाया जाता है। प्रणव आरम्भ स्वीकारे अनुमतौ मगल शुभ ब्रह्मणि आम् आता है। (आम् और अुमामें भी गाय घनिष्ठ सबध है।)

अुपनिषदमें कहा है कि जब सूय आकाशमें घूमता दौडता है तब असमें स ल्टट्टूके गुजनके जसी ओमकी ध्वनि निकलती है। अप आदित्य ओम अिति हि स्वरन अति। (छांदोग्य १–५–१)

(प्रणव शब्द भी देखिये।)

करणम [१८–१४ १८]

न्यायशास्त्रम करणकी व्याख्या की है प्रकृष्टतमम् कारणम् करणम — जो सर्वोत्कृष्ट कारण या साधन है अस करणम् कहते ह। गीताम अिसी अथमें करण शब्द आया है। पाच कम अिद्रिय पाच ज्ञान अिद्रिय मन और बुद्धि अिन्हें अवसाय लेकर करण कहते ह। जो शक्ति अदरसे सब अिद्रियाको प्रेरित करती है अुसे अन्त करणम् कहते ह।

कतव्य [३–२२ १८–६] **काय** [३–१७ १९ ६–१ १८–५ ९ ३१] **करणीय**

√कृ (करण)। य तव्य अनीय अिन तीन प्रत्ययोंसे धमका या योग्यताका बोध होता है। काय कतव्य और करणीयका अथ होता है करने लायक। यज्ञ दान और तप त्यागने लायक नही बल्कि करने लायक हो ह। (न त्याज्यम कायमेव तत १८–५) (कायमित्येव यत्कम नियतम क्रियते १८–९)।

कार्याकायकी मीमांसाम सारा नीतिशास्त्र (धमशास्त्र) आ जाता ह। गीतान अुसीका मोक्षशास्त्र बनाया है। धमशास्त्र समाज हितका रास्ता बताता है। मो क्षशास्त्र बधमोचनका (मुक्तिका) माग बताता है।

काय शब्दका कतव्य या करणीय अथ हमेशा नही लिया जाता है। कायका अथ क्रिया अथवा परिणाम अितना ही अवसर लिया जाता है। धम अथवा योग्यता बतानके लिअ ज्यादातर कतव्य

शब्दका अुपयोग यानी व्यवहार किया जाता है। करणीय शब्द जिससे कुछ सौम्य है।

कर्ता [३–२४, २७, १८–१४, १८, १९, २६, २७, २८]

√कृ (करणे)। करनेवालेको कर्ता कहते हैं। करनेवाला सचमुच तो भगवान ही है। किन्तु मनुष्य भूलसे अपनेको कर्ता समझता है।

कर्तारम् [४–१३, १४–१९, १८–१६]

मनुष्य भूलसे अपनेको कर्ता समझता है। तात्त्विक दृष्टिसे देखा जाय तो किसी भी कर्मकी सिद्धिके लिअे पाच कारण होते हैं। अधिष्ठान (शरीर), कर्ता करण (अिन्द्रिय-साधन), चेष्टा-कलाप और दैव (१८–१३ १४, १५)। असा होते हुअे भी अज्ञानी मनुष्य असंस्कारी बुद्धिके कारण केवल अपनेको ही कर्ता समझ लेता है।

कर्म

गीतामें यह शब्द सर्वत्र भरा हुआ है। अिसके स्थान 'गीता पदार्थ-कोष'में देख लीजिये।

अन्य प्राणियोंकी अपेक्षा मनुष्यमें दो बातें विशेष हैं — विकसित मन और अंगूठेवाला हाथ। मनन करना और कर्म करना ये अुसके जीवनके प्रधान अंग होते हैं। अिसलिअे कहा गया है कि ज्ञान और कर्म मिलकर सम्पूर्ण जीवन होता है। जिस तरह दो पंखोंके विना द्विज (पक्षी) अुड नहीं सकते, अुसी तरह द्विज (संस्कारी लोग) ज्ञान और कर्मके समुच्चयके विना आध्यात्मिक गगनमें अुड नहीं सकते, प्रगति अुन्नति नहीं कर सकते। अिनमें भी बुद्धि कर्मके पीछे पीछे जाती है (बुद्धि कर्मानुसारिणी)। किन्तु ज्ञान और अनुभवकी वृद्धि ही सब कर्मोंका प्रयोजन होनेके कारण ज्ञानमें सब कर्म कृतार्थ होते हैं परिसमाप्त होते हैं। (**सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ४–३३**)

जिस तरह कर्म ज्ञानकी बुनियाद है। कर्मके द्वारा जीवन विकसित और समृद्ध होता है। जीवन-शुद्धिके लिअे भी ध्यानके साथ तपस्या रूपी कर्म करना आवश्यक है। कर्म ही जीवन है। धर्मका अर्थ भी

अन्तमें कर्म ही है। सत्कर्म शुभ कर्मके द्वारा ही जीवन सफल और कृतार्थ बनता है। अिसलिअे जीवनमें अगर साग त्यागकी सम्भावना और साधनकी बात हो तो वह है कर्मयोग विचार।

अैसा देखा गया है कि कर्म ही जीवन होते हुअे भी कर्म जीवन सर्वस्व नहीं है। जीवन-सर्वस्व है [illegible] आत्मानुभूति। अिस अनुभूतिमें बहुत हद तक सत्कर्म सहायक होता है। किन्तु अिस आत्मा साथ आत्माके लिअे बन्धन भी पैदा करता है। किन्तु यह बाधा किस तरह दूर किया जाय यही बतानेका काम मोक्षशास्त्रका है। गीताने यह रास्ता अच्छी तरहसे और पूर्णतया बताया है अिसलिअे गीता जीवन-मुक्तिशास्त्रका सर्वोच्च ग्रन्थ है। गीता कर्मयोग है जीवनयोग है अनासक्ति-योग है और मुक्तियोग है। कर्म-[illegible] द्वारा ही गीता यह कह सकी है।

कर्म शब्दकी गीताकी व्याख्या अत्यन्त व्यापक है। भूत भावोद्भवकरो विसर्ग कर्मसंज्ञित (८-३)। विसर्ग शब्दका अर्थ है Evolution Creation

√सृज् (विसर्ग) बाहर फेंकना पैदा करना (वि यानी बाहर) Evolution शब्दकी भी व्युत्पत्ति यही है— E = Out बाहर Volvo मैं फेंकता हूँ। जो बाहर फेंका जाता है नये नये रूपमें प्रगट किया जाता है अुसे Evolution कहते हैं। अिस विसर्ग शक्तिके द्वारा ही भूत मात्रोंकी अुत्पत्ति होती है। अिस विसर्ग शक्तिको ही गीताने कर्म कहा है।

कर्मके अिस सार्वभौम सामर्थ्यसे प्रभावित होकर कई तत्त्वज्ञोंने कहा है—— कर्म ही आत्मा है। भर्तृहरि कर्मका सार्वभौमत्व स्वीकार कर कहता है—'नमस्तत् कर्मभ्यो विधिरपि न यम्य प्रभवति।' यह कर्म प्रत्येक मनुष्यके लिअे अुसके स्वभावके अनुसार निश्चित होता है (१८-४७)। अिस परसे सहजकर्म नियतकर्म आदि शब्द आये हैं।

कर्मबन्ध [२-३९, ३-९ ९-२८]

कर्मसे ही जीवनकी सिद्धि है। कर्मके द्वारा ही जीवनका साक्षात्कार होता है। और कर्मके द्वारा ही मनुष्य कर्मके परे जा

ना है। अितना समझनेके बाद ही कर्म-बंधन क्या है? अिस
का महत्त्व ध्यानमें आता है।

गीता कहती है कि समाज-कल्याणरूपी यज्ञके लिये जो कर्म
स्वार्थ भावसे किया जाता है अर्थात् अीश्वरार्पण बुद्धिसे किया
ता है अुसे छोड़कर बाकीके सब कर्म धर्म और अधर्म, शुभ और
शुभ आदि भेदोंसे युक्त होनेके कारण आत्माको बंधनमें डालते
। सात्त्विक कर्म भी सात्त्विक बंधन पैदा करते हैं (१४–६)।
सलिअे बंधनका स्वरूप सूक्ष्म बुद्धिसे समझना चाहिये।

जब मनुष्य कर्म करता है तब मैं अुसका कर्ता हूं अैसा अहंकार
समें पैदा होता है। यह बड़ा ही कठिन बंधन है। प्रत्येक कर्म कुछ
कुछ फल तो देता ही। फलका सोचे बिना कर्म करना पागलोंका
म है। जो कर्म करेगा अुसका अुस कर्मके फलके अूपर कुछ आंशिक
धिकार अवश्य रहता ही है। किन्तु वह अधिकार ही बंधन पैदा
रता है। अिसलिअे मोक्षार्थीको चाहिये कि कर्मफलके अूपर अुसका
कुछ भी कमावेश अधिकार हो अुसे वह छोड़ दे। अिस तरह अहंता
र ममता छोड़ देनेकी वृत्तिको ही अनासक्ति कहते हैं। अहंता और
ममता ही आसक्ति है और अैसी आसक्ति ही बंधन है।

जब हम कोअी शुभ या अशुभ कर्म करते हैं तब हम अकेले अुसे
रा कर सकते। अुसमें अनेक तत्त्वोंका सहयोग रहता है। अिसलिअे
र्ममें हरअेक तत्त्वका असर और अधिकार रहता है। हम केवल
भी कर्ता नहीं हो सकते। दूसरी बात यह है कि कर्मका फल
सा हम चाहते हैं वैसा रूप भी धारण नहीं कर सकता है।
मने अपने हिस्सेका कर्म किया किन्तु फल तो अनेक तत्त्वोंके हाथमें
हा, फलनिष्पत्तिका प्रवाह हमारे हाथमें नहीं है।

अब यदृच्छया जो कुछ भी फल पैदा हुआ वह तो अस्थायी
क्षणभंगुर और असार है। अुसमें से हमारा हिस्सा अल्पमात्र है। वह
ल मिला भी तो अुसका सदुपयोग करना हमसे बहुत कम होता है
और फलकी लालच रखकर हम बहुत ही बड़े बंधनमें आ फंसते
। अिसलिअे गीता कहती है कि 'कृपणाः फलहेतवः' (२–४९)।

फलका हेतु या लोभ रखनेवाले कृपापात्र होते है। थोडेसे लाभके लिअ बहुत बडी हानि मोल लेते है। गीताका अुपदेश है कि 'मा कर्मफलहेतुर्भूः' (२-४७) अर्थात कर्मफलहेतु मत बनो। कर्मफलकी अिच्छा या लाभ (हेतु) रखनेवाला न बन। कर्मफलकी आसक्ति छोड दो। कर्मफलासंगम (४-२०) छोडनेसे कर्म करते हुअे भी मनुष्य कर्मरहित बनता है।

कर्मयोग [३-३, ७, ५-२, १३-२४]

योग और संन्यास जिन दो शब्दोंका विवरण अुनके स्थानों पर देखिये। कर्म शब्दका विवरण अूपर आ ही गया है। अुसे भी फिरसे देखना अच्छा होगा।

पुराने धर्मग्रंथोंमें कहीं कहीं कर्म शब्दका अर्थ वेदोंमें बताया हुआ यज्ञयागादि क्रिया-कलाप या विधि-विधान होता है जिसे कर्मकाण्ड या Ritual कहते है। स्वर्ग प्राप्तिके लिअे होम-हवन करना चाहिये पाप धोनेके लिअे या कामना सिद्धिके लिअे जप जाप्य चलाना चाहिये असे विश्वाससे जो काम्य कर्म किये जाते है वे ही कर्म है। असे कर्मोंका मान-सम्मान निषेध किया है। होम-हवन करनेसे और पशुओंकी बलि देनेसे स्वर्गकी प्राप्ति नहीं होती असा तो मानियान साफ कहा नहीं किन्तु अैसा सकाम कर्म करना तुच्छ प्रवृत्ति है स्वर्गादि फल भी तुच्छ है असा तो कहकर लोगोंको निवृत्त करनेकी कोशिश की है। गीतामें जिस कर्मयोगका अुपदेश है वह Ritual या धार्मिक विधियोंको लेकर नहीं है। गीता कहती है कि कर्मके बिना जीना ही अशक्य है (३-८)। समाज धर्मके अनुसार जो कुछ भी स्वधर्म कर्म निश्चित हो वही कर्म सोचनेकी बात है। शिक्षा द्वारा ज्ञानकी अुपासना करना और आचरणके द्वारा ज्ञानका प्रचार करना लोगोंको सन्मार्गमें प्रवृत्त करना दीनोंका रक्षण करना दुबलोंको अनाथोंको और अबलाओंको जबरदस्तोंसे और दुराचारियोंसे बचाना सज्जनोंके लिअे सब तरहकी सुविधायें पैदा कर देना मनुष्य हितके लिअे आवश्यक चीजें पैदा करना और सब लोगों तक अुन्हें पहुंचा देना मनुष्यके आश्रित पशु-पक्षियोंका रक्षण और पालन करना आसमानी और सुल्तानी

आपत्तियोंसे समाजको बचाना वृद्ध, व्याधित, अनाथ और बालकोंकी परिचर्या करना साहित्य, संगीत और कलादिका विकास और प्रचार करना ओीश्वर भक्तिका और मोक्ष-मार्गका रास्ता साफ करके सब-सुलभ बना देना अित्यादि जो हितकर कर्म हैं जिनके द्वारा व्यक्तिका विकास होता है और समाज प्रगति करता है, अिन कर्मोंका जो शास्त्र है और अुसकी जीवन-कला है वही कर्मयोग है। ये सब कर्म हम अिस तरहसे करें जिससे सबका भला हो और हम बंधनमें न आ पड़ें अिसीकी तरकीब बतानेका काम कर्मयोगका है।

कर्म-बंधनका जो अितना डर बताया है अुसके दो कारण हैं (१) कर्म-बंधनके कारण हमारा मोक्षका रास्ता रुक जाता है (२) कर्मके बंधनमें फंसनेसे मनुष्यका कर्मकौशल भी बिगड़ जाता है और अुसके कर्म पूरी तरहसे समाजहितकारी नहीं बनते। सर्वभूतहिते रत रहनेके लिअे जो अलिप्तात्मकता चाहिये वह हम खो बैठते हैं। विश्वके साथ तादात्म्य रखते हुअे अुसके साथ तादात्म्य रखनेकी योग-युक्ति हम खो बैठते हैं। फलतः सेवा करते हमारे हाथों अनेक सवाल पैदा होते हैं। सवाल हल करनेकी जगह हम नये और जटिल सवाल पैदा करते हैं।

दोनों दृष्टियोंसे कर्मबंध मार्गके लिअे बाधक होता है। व्यक्तिका मोक्ष और समाजका मोक्ष दोनों खतरेमें आते हैं।

कर्मसंन्यास [४–४१, ५–२, १८–७]

कर्म किये बिना हम जी नहीं सकते हैं। कर्मके द्वारा ही जीवनकी सफलता है किन्तु कर्म ही बंधन पैदा करता है। कर्मके त्यागके बिना मुक्ति नहीं। अैसी विषम स्थितिमें जीवनकी साधना किस प्रकार की जाय यह सबसे बड़ी समस्या है। अिसमें रास्ता तो अेक ही है किन्तु स्वभावकी विशेषताके कारण दो प्रकारके लोग दो तरहसे अिस अिलाजका अमलमें लाते हैं। जो लोग ज्ञान प्रवीण या ज्ञान परायण होते हैं वे क्रमसे कर्म कम करके अपना काम चलाते हैं और जो लोग कर्म-परायण हैं वे कर्मके द्वारा ही ज्ञानका साक्षात्कार करके कर्मसे मुक्ति पाते हैं। ज्ञानी चिंतक कर्म-संन्यासी होते हैं

सेवा-परायण लोग कर्मयोगी होते हैं। जिस तरह दोनोंका प्रस्थान भिन्न है किन्तु दोनोंकी साधना पूरी होने पर ज्ञानमार्गी और कर्ममार्गी एक ही स्थान पर पहुंचते हैं (५–५)। इतना ही नहीं किन्तु दोनोंका स्वरूप भी एक ही हो जाता है।

ज्ञानियोंका कर्म मानसिक होता है चिन्तन रूप होता है। कर्मयोगियोंकी भी साधना चरम पर अनके भी चिन्तनमें असाधारण कर्मशक्ति आती है। कर्मका अन्तिम उद्देश्य सर्वभूतोंका हित है। अगर हम शरीरसे किसीका हित करने जाते हैं तो अवश्य भंग करते दूसरे किसीका कुछ न कुछ नुकसान हो ही जाता है। जब हम 'सर्वभूतात्मभूतात्मा' बनते हैं किंवा तादात्म्य तक पहुंचते हैं तब शरीरसे नहीं किन्तु केवल चिन्तनसे मानसिक संकल्पसे सबकी शुद्ध सेवा कर सकते हैं और जिस तरह कर्मयोगके द्वारा कर्म-संन्यास तक पहुंच जाते हैं।

कल्याणकृत [६–४०]

कल्याणकृतका अर्थ होता है कल्याण करनेवाला शुभ हेतुसे सर्वजनोंके हितमें जो रत हैं वे ही कल्याणकृत हैं। कल्याण शब्द केवल सुखवाची नहीं है सबका जिसमें हित है ऐहिक और पारलौकिक उत्कर्ष है वही कल्याण है। कल्याणो धर्मो (धर्म सभीका कल्याण करनेवाला होता है)। कल्याणका असली अर्थ है नीरोगी स्वस्थ आरोग्यवर्धक वायव्य आनन्ददायक। जिस परसे कल्याणका विशेष अर्थ होता है सौभाग्ययुक्त धर्म सुन्दर हितकर उत्कर्षयुक्त भाग्यशाली गुणाढ्य। जो मनुष्य किसी एक पक्षका नहीं किन्तु सभीका आत्यन्तिक कल्याण चाहता है और वही करनेका प्रयत्न करता है उसकी कभी भी दुर्गति नहीं हो सकती।

कवि [४–१६ ८–९ १०–३७, १८–२]

कवि शब्दमें कव धातु है जिसका अर्थ क्रिया है स्तुतौ वर्णने च। जो स्तुति करता है या वर्णन करता है वह कवि यहां आजकलका अर्थ है। प्राचीन कालमें कविका अर्थ होता था ज्ञानी बुद्धिमान

चतुर, सर्वज्ञ क्रान्तदर्शी। गीतामें अुसका अर्थ होता है मेधावी सर्वज्ञ पंडित। ओश्वरको कवि भी कहा है।

कामधुक् [१०–२८, ३–१०]

√कम (कान्तौ) चाहना।

कामका अर्थ होता है अिच्छा, वासना।

√दुह् (प्रपूरणे) दूध देना। सामान्य गायें अपने बछडेको और दुहनेवालोंको केवल दूध ही देती हैं, किन्तु स्वर्गकी कामधेनु अुसकी सेवा करनेवालेको वह जो चाहता है सब देती है, अुसकी सब अिच्छायें सम्पन्न करती है अिसलिअे अुसको कामधुक कहते हैं। [कामधेनु, कल्पवृक्ष और चिन्तामणि तीनोंका अेकसा ही कार्य है। अलादीनका दिया' भी यही काम करता था।] अपनी विभूतियोंका विस्तार करते हुअे भगवानने कहा है कि धेनुओंमें मैं अिष्टफल देनेवाली कामधेनु हूं (१०–२८)। किन्तु गीताकी असली कामधेनु तो यज्ञ ही है। प्रजापतिने प्रजाको पैदा करके अुसको यज्ञधर्म दे दिया और कहा कि अिस धर्मके अनुसार अपनी वृद्धि साध लो। यज्ञ ही तुम्हारी कामधेनु है [३–१०]। विस्तारके लिअे यज्ञ शब्द देखिये।

कामरागबलान्विता [१७–५], **कामरागविवर्जितम्** [७–११]

मनुष्यमें जो सर्वश्रेष्ठ और स्थायी बल है वह आत्मबल ही है। शरीरबल सत्ताबल या असा ही दूसरा बल आत्मबलके सामने तुच्छ है। किन्तु आत्मबल हवाके दबावके समान सर्वव्यापी और सब-समय होते हुअे भी स्पष्ट रूपसे अनुभवमें नहीं आता। वासना और अनुरागका बल अस्थायी भले हो किन्तु बाढके बलके समान जोरोंसे आता है, कभी कभी बडा विनाश भी कर सकता है। जिन लोगोंकी श्रद्धा आसुरी है वे काम यानी वासना और राग यानी आसक्ति अिन दोनोंके द्वारा ही बल पाते हैं और बडे बडे काम कर डालते हैं। यह बल आत्मप्राप्तिकी साधनामें पोषक नहीं होता।

दैवी सम्पत् कामरागविवर्जित होती है। आसुरी सम्पत् कामराग बलान्वित होती है।

काम [२–५५, ६२, ७१, ३–३७, ७–११, १६–२१]
कामात्मा [२–४३], कामोपभोगपरमा [१६–११]

चार पुरुषार्थके विवरणमें काम शब्द आ ही गया है। देह और देही मिलकर जीवयोनि होती है। शरीर और आत्मा परस्पर विरुद्ध धर्मी होते हुअे भी दोनोंका सहयोग अखंड चलता है। अिसमें देहका खिंचाव अिंद्रिय-सुखकी ओर रहता है और वह जड तत्त्वकी अुपासना करता है। आत्माका खिंचाव मोक्षकी ओर रहता है और अुसमें चैतन्यकी अुपासना रहती है। अिंद्रिय-सुखकी ओर जो खिंचाव रहता है अुसे काम कहते हैं। देहधारी कामके खिंचावके बिना रह नहीं सकता अिसलिअे मनु भगवानने कहा है—हालांकि "कामात्मता न प्रशस्ता।" तो भी "न च अेव अिह अस्ति अकामता"। यह बडा अनुभव बताकर फिर कामात्मताको काबूमें लानेके लिअे और शुभ मार्ग पर ले जानेके लिअे अुन्होंने सारा धर्मशास्त्र अुपदेशा है। धर्मशास्त्रकी सहायतासे काम पर विजय पाकर मोक्षमार्गका प्रारम्भ किया जाता है। जो मनुष्य कामके ही वश रहता है अुसे कामात्मा कहते हैं क्योंकि वह कामोपभोगको अर्थात् विषयोपभोगको सबसे श्रेष्ठ चीज मानता है (१६–११)। गीताको धर्मका अविरोधी काम मान्य है (७–११)।

कामरूप शब्दमें कामका अर्थ है जिस क्षण जैसी अिच्छा हो वैसा आकार धारण करनेकी शक्ति।

काम्य [१८–२]

काम्यका अर्थ होता है कामप्रेरित यानी कामनाकी प्रेरणासे किया हुआ। कर्मोंके दो विभाग होते हैं। धर्म्य कर्म और काम्य कर्म। यज्ञ दान तप आदि समाजहितके आत्मोन्नति-कारक कर्म धर्म्य कर्म हैं। अिनका त्याग करना अनुचित होगा। जो कर्म स्वार्थी वृत्तिसे अपना कोअी लाभ देखकर किया जाता है वह काम्य कर्म है। अुससे अनेक झंझट पैदा होती हैं और मनुष्यकी सर्वलोकहित करनेकी शक्ति अुससे क्षीण होती है। अिसी दोषको कर्मबंध कहा है।

मनुस्मृतिने प्रजोत्पादनके बारेमें भी यही भेद बताया है। प्रजातन्तु अविच्छिन्न चलानेके लिअे कुल-परम्पराको अविच्छिन्न रखनेके लिअे जो जेष्ठ पुत्रको जन्म दिया जाता है अुसे धर्म्य कहते हैं। अुसके बाद जो सन्तानोत्पत्ति की जाती है वह कामके वश होकर की जाती है जिसलिअे अुसे काम्य कहते हैं। धर्मज और कामज ये विशेषण सन्तानको अिसी दृष्टिसे लगाये जाते हैं। (मनु० ९–१४२) प्रथम पुत्रकी अुत्पत्तिके पीछे धर्मकी आज्ञा है कि अमुक बाद पुत्रोत्पत्ति करना या न करना काम्य यानी optional है। गीताने युद्धके भी धर्म्य और अधर्म्य असे भेद किये हैं।

कायक्लेशभय [१८–८]

शरीरको तकलीफ अुठानी होगी कष्ट होगा, दुःख होगा जिस डरसे कर्मको छोड़ देना रजोगुणी त्याग है। (अिस त्यागसे त्यागका फल नहीं मिलता।) कर्मोंका जो त्याग बताया है वह ज्ञानपूर्वक होना चाहिये। शरीरको आराम देनेकी नीयतसे या कष्टके डरसे कायर बनकर कर्मोंको छोड़ देना कभी कर्म-संन्यास नहीं है। असे त्यागसे मोक्ष मिलनेवाला नहीं है। जिन लोगोंमें कर्म-कुशलताका अभाव है जिनका अुत्साह क्षीण है निर्वीयताके कारण जो कर्म-संन्यास है असे लोग कभी कभी सात्त्विक से दीख पड़ते हैं। असी स्थितिको ध्यानमें रखकर ही टीकाकार कहते हैं —– 'असमर्थो भवेत साधु', जो दुर्बल है वह साधुकी भूमिका धारण करके अपनी दुर्बलताको छिपा सकता है।

कार्पण्यदोष [२–७], कृपण [२–४९]

'अुत्तररामचरित में वचन है 'पाल्याश्च कृपणाः प्रजाः।' प्रजा तो बेचारी दीन है कृपापात्र है (कृपण है) अुसकी रक्षा करनी चाहिये। अिस वचनमें कृपण शब्दका प्रयोग मामूली कंजूसके अर्थमें नहीं है। कृपण यानी कृपापात्र अितना ही अर्थ है।

कोअी मनुष्य संकटमें पड़ा हो और आर्योचित धीरोदात्त रीतिसे संकटका वर्णन नहीं कर सकता हो, तो सज्जन लोग अुसकी दीनता देखकर अुसके प्रति दयार्द्र बनते हैं कृपार्द्र बनते हैं। आयवृत्तिके लोग

कभी भी असा दयाका पात्र बनना पसन्द नहीं करते। वे मानते हैं कि दया और कृपा तो तिरस्कारका ही सजावटी स्वरूप है। मनुष्य कृपाका पात्र बननेके लिअ तैयार है अथवा औरोंके प्रति कृ भावसे भरा हुआ है यह अगर मनुष्य ठीक ठीक नहीं समझता।

भारतीय युद्धके प्रारम्भमें प्रतिपक्षियोंमें स्वजनों और गुरुजनों देखकर अर्जुनके मनमें दया और कृपा पैदा हुआी और अपना नियत स्वभाव कायम न रहा। अिसीलिअ वह भगवानसे कहता है कि कार्पण्यके कारण मेरा स्वभाव खो गया है। मैं धर्मका निर्णय नहीं कर पाता। मैं धर्मसमूढ बना हूँ। अिसलिअ मेरा निश्चित धर्म क्या है आप ही बताअिये।

यदि कोअी डॉक्टर शस्त्रक्रिया करते समय रोगीका चिल्लाना दुःख देखकर अितना दयार्द्र अस्वस्थ होगा तो उसका हाथ काँप जायगा और उसकी शस्त्रक्रिया असफल होगी। रोगीका दुःख बढ़ेगा और शायद उसकी मृत्यु भी होगी। वही डॉक्टर योगयुक्त रहकर अपना काम सफाअीसे करेगा तो रोगीको लाभ होगा और कष्ट भी कम होगा। जिस उदाहरणसे हम समझ सकते हैं कि कृपणता या दयार्द्रता कितनी तरह पापरूप बनती है।

कृपण यानी कृपापात्र जिस अर्थका प्रयोग 'कृपणाः फलहेतवः' (२-४९) अिस गीता-वचनमें भी आया है। जो लोग फलका लोभ मनमें रखते हैं वे दयापात्र हैं, कृपण हैं अर्थात् तुच्छ हैं।

कार्याकार्य व्यवस्थिति [१६–२४]

कार्याकार्य-व्यवस्थितिका अर्थ होता है नीतिशास्त्र सदाचारका शास्त्र — Ethics। अपनिषदमें अिसीको कर्मविचिकित्सा अथवा वृत्त विचिकित्सा कहा है। अिसीको धर्मशास्त्र भी कहते हैं। जीवनमें समय पर क्या करना योग्य है, क्या करना अयोग्य है अिसका निर्णय करनेमें कठिनाअी आती है अिसलिअ बार-बार धर्मशास्त्र अथवा आचारशास्त्रके पास जाना पड़ता है। यदि आचार उचित रहा तो मनुष्यका गौरव बढ़ता है। अगर आचार अनुचित हुआ तो असमें लघुता आती है — उचितानुचिताचार वश्य गौरव-लाघवे। मनुष्य

अज्ञान और वासनामें डूबा हुआ होनेके कारण किस समय क्या करना योग्य है असका निर्णय नहीं कर सकता है। अिसलिअे अुस ज्ञाना पक्षपातरहित और वासनामुक्त मनुष्यके पास जाकर पूछना पड़ता है। (सस्कृतम असे मनुष्यको आप्त कहते ह। आप्त यानी विश्वासपात्र।) अैसा ज्ञानी सत्पुरुष सारी परिस्थितिको समझकर सर्वहितकी दृष्टिसे जो निर्णय देता है अुसे शास्त्र कहते हैं। [सत्पुरुषोके पुराने वचन आदरणीय और सोचने लायक होते ह सही किन्तु वे प्रमाणरूप नहीं माने जा सकते। धर्म निर्णय हमेशा जीवन-तत्त्वका और परिस्थितिका विचार करके दिया जाता है। अेक परिस्थितिका निर्णय दूसरी परिस्थितिमें लागू नहीं हो सकता। अिसीलिअे जीवित और अुपस्थित ज्ञानी सताकी राय समय समय पर लेनी पड़ती है। असा नहीं होता तो विवादोका निर्णय करनेके लिअे न्यायाधीशोकी नियुक्ति नहीं की जाती। काननके होते हुअे भी न्यायाधीशोकी आवश्यकता रहती है और न्यायाधीशोका निर्णय ही अन्तिम निर्णय गिना जाता है।] जब गीताने कहा कि कार्याकार्य-व्यवस्थितिमें शास्त्रको ही प्रमाण मानना चाहिये तब गीताने शास्त्र-ग्रथोको प्रमाण माननेकी सिफारिश नहीं की है किन्तु धर्मको जाननेवाले ज्ञानी तटस्थ और लोक हित चिन्तक कारुण्यमूर्ति सत्पुरुषोकी सलाहको प्रमाण माना है, और अुसीको शास्त्र कहा है। शौनोपनिषदका वचन है— धर्मशास्त्रम महर्षीणाम अन्त करणसभतम। धर्मशास्त्र समाज-कल्याण चिन्तक महर्षि योके अन्त करणमें जमता है। अिसी सिलसिलेमें शास्त्र शब्द भी देखना चाहिये।

काल [१०–३०, ३३, ११–३२], कालेन [४–२, ३८]

√कल (शब्द-सख्यानयो, गतौ, सख्याने क्षेपे च) आवाज करना जाना गिनना फेंकना।

आधुनिक वैज्ञानिक कहते है कि हरअेक वस्तुके चार तत्त्व (dimensions) होते ह। लम्बाअी चौडाअी गहराअी और काल अथवा सतति। अेक ही बिन्दुको चार तरहसे ताननेसे (√तन-तानना।) सततम् सतति अथवा Continuum बनता है। अिस सततिमे काल सबसे महत्त्वका तत्त्व है। काल कोअी जड तत्त्व नहीं है। असकी शक्ति

अनन्त है। कर्तुम् अकर्तुम् और अन्यथा कर्तुम् शक्ति कालकी ही है। विज्ञान जिसे Evolution अुत्क्रान्ति अथवा विकास कहता है वह काल ही है। कालकी ही वह शक्ति है। जिसमें अखंड परिवर्तन चलता रहता है और परिवर्तनका अर्थ है अेक रूपका क्षय और दूसरे रूपका अुदय। जब युगान्तरका समय आता है तब ये काल भगवान पुरानी व्यवस्थाका संहार, क्षय अथवा समाहार करनेके लिअे प्रवृत्त होते हैं और अुसके बाद विश्वको शान्ति देकर फिरसे नयी सृष्टिका प्रारम्भ करते हैं।

अिसी कालके बलसे मानव-जातिमें ज्ञानका अुदय भी होता है और अुसका लोप भी होता है। चौथे अध्यायमें भगवान कहते हैं कि राजयोगकी परम्परा कालबलसे नष्ट हुआी (४-२)। अुसी योगको श्रीकृष्णने फिरसे प्रवर्तन किया। अिस योगके सिद्ध होने पर अुन्हीं काल भगवानकी सहायतासे मनुष्यको ज्ञानप्राप्ति होती है। [आधुनिक विज्ञान जिसे लम्बाआी चौड़ाआी और गहराआी कहते हैं अुसीको हमारे शास्त्रकार दिक् दिशा (Space) कहते हैं। सृष्टिकी सब चीजें देशकालसे अवच्छिन्न रहती हैं। अिसलिअे अुन्हें सततम (यानी Continuum) का नाम दिया है।

कीर्ति [१-११ १०-३४]

√कृत (संशब्दन) = किसीके बारेमें अच्छा कहना। सदाचार दान या पराक्रमके कारण लोग किसीकी जो स्तुति करते हैं वह अुस आदमीकी कीर्ति है। मनुष्य असी कीर्ति पानेके लिअे चाहे सो काम करनेको खतरा मोल लेनेको और मरनेको भी तैयार होता है। मनुष्य जीवन सामाजिक है। मनुष्यका समाज निरपेक्ष व्यक्तिगत जीवन अपूर्ण है अत्यल्प है। मनुष्य जीवनका समाधान आत्मतुष्टि पर निर्भर रहना चाहिये। लेकिन मनुष्य अपने समाजके अभिप्रायको स्वमतापेक्षा भी ज्यादा महत्त्व देता है। बुरा कर्म करते मनुष्यको अन्दरसे ही लज्जा त्रपा होनी चाहिये। लेकिन कआी बार मनुष्य असी आन्तरिक त्रपासे नहीं किन्तु लोगोंमें बुरा दीख पड़ेगा समाजकी ओरसे मिलनेवाला बहुमान खो बैठना पड़ेगा अिस डरसे

पापनिवृत्त होता है। मनुष्यकी धर्मबुद्धि कुछ हद तक अुसके हृदयमें रहती है और ज्यादातर सामाजिक प्रतिष्ठाका रूप लेती है। जिस सामाजिक प्रतिष्ठाके हिस्सेको भी कीर्ति कहते हैं। अंग्रेजीमें Self respect शब्द है। अुसका असली अर्थ है अपने हृदयका अच्छा अभिप्राय। लेकिन मनुष्य Social respect, सामाजिक प्रतिष्ठाको ही Self respect मान बैठता है। मनुष्यका जो चारित्र्य है सत् है, या सत् है अुसीका सच्चा महत्त्व है। अुसके बाह्य यानी समाज मान्य रूपको कीर्ति कहते हैं। चारित्र्य या सतको हम बिम्ब कहें तो कीर्ति अुसका प्रतिबिम्ब है। सामान्य मनुष्य बिम्बसे भी प्रतिबिम्बका खयाल अधिक रखता है। यह सब जानकर भगवानने युद्धनिवृत्त होनेवाले अर्जुनको प्रथम कीर्ति खोनेका डर दिखाया और कहा कि जो सभावित होते हैं, समाजमान्य होते हैं, वे अकीर्तिको मौतसे भी बदतर मानते हैं।

कुलधर्म [१–३८, ३९, ४०, ४१, ४२, ४३, ४४, ६–४२]

√कुल् = अिकट्ठा करना, रिश्ता होना। जो तत्त्व अनेक व्यक्तियोंको परस्पर सम्बन्धके द्वारा अेकत्र लानेका और बांधनेका काम करता है अुसे कुल कहते हैं। कुलका अर्थ होता है परिवार, कुटुम्ब, खानदान, घराना, समुदाय, टोली, देश, छात्र-समुदाय, शिक्षा-संस्था अथवा वणिक संघ। कुलीनका अर्थ होता है अच्छे कुलमें जिसका जन्म हुआ हो असा व्यक्ति। कुलका अेक अर्थ होता है बारह बैल जोत सकें असा बड़ा खेत। कुलस्त्री यानी पतिव्रता और कुलहितकारिणी स्त्री। कुलक्षय यानी कुलका नाश। कुलघ्न यानी कुलका नाश करनेवाला। गुरुकुलका अर्थ होता है असी शिक्षा-संस्था जिसमें गुरु और शिष्य साथ खाते पीते हैं और रहते हैं। कुलपति होता था दस हजार विद्यार्थियोंको खान पानादि देकर पढ़ानेवाला शिक्षा-गुरु अथवा आचार्य।

जिन लोगोंका परस्पर संबंध अत्यन्त घनिष्ठ होता है और जिनका जीवन अधिकांश रूपसे ओतप्रोत रहता है अुनकी समष्टिका कुल बनता है। पति, पत्नी, बालबच्चे और अुनका विस्तार ये सब मिलकर अेक कुल अथवा कुटुम्ब होता है। कुदरती अथवा मानवी

जीवनकी यह आदिम सनातन संस्था है। असकी अुत्पत्ति प्रकृतिमें अथवा मानवी स्वभावमें स्थित होनेसे दृढ़मूल है। राजकीय या सामाजिक विप्लव होने पर और सब संस्थाओं टूटने पर भी यह संस्था अटूट पायी गयी है। जिन स्वभाव धर्मोंके कारण यह संस्था जीवित रहती है और अुन्नति करती है अुन्हें कुलधर्म कहते हैं। अिन कुलधर्मोंको गीताने शाश्वत कहा है (१-४३)। यह कुटुम्बरूपी संस्था मूलभूत और सनातन होनेके कारण अिसीकी सुस्थिति पर समाजकी और समाजगत अन्यान्य संस्थाओंकी सुस्थिति निर्भर है।

पति-पत्नीकी परस्पर निष्ठा, माता पिताओंकी अपत्य वात्सल्य और अपत्योंका माता पिताओंके प्रति आदर और सब कुटुम्बियोंकी कुलरीतिके प्रति, कुलधर्मोंके प्रति अथवा खानदानकी रस्मके प्रति निष्ठा अिन पर कुलकी सुस्थिति आधार रखती है। अिसलिअ ये सब स्वभाव-गुण सामाजिक सद्गुणोंकी बुनियाद हैं। अिन गुणोंका जो नाश करता है वह कुलघ्न है। असे समाज शत्रुके लिअ अन्तिम स्थिति नरक ही है। (१-४४)।

परस्पर दृढ़ निष्ठा, कर्तव्य-बुद्धि, अुत्तरदायित्वका भान, वात्सल्य, भ्रातृभाव, कृतज्ञता, स्वार्थत्याग, बलिदानकी तैयारी और आतिथ्यशीलता अितने गुणोंका संवर्धन जिस कुटुम्बमें हो सकता है वही सच्चा कुटुम्ब है और अुसके लोग कुलीन हैं।

त्यजेत् स्वार्थम् कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलम् त्यजेत्।
ग्रामम् जनपदस्यार्थे धर्मार्थे पृथिवीम् त्यजेत्॥

यही बलिदानकी रीति है। यही हो सकता है जीवन धर्म।

मानव-समाजका अितिहास देखनेसे पता चलता है कि मनुष्यने अपने कल्याणके लिअ तरह तरहकी जीवन-व्यवस्थाअें बनायी हैं। यानी समाज रचना अेक ही प्रकारकी नहीं होती। अेक प्रकारका समाज भी हमेशा वैसा ही नहीं रहता है। समाजके कअी प्रकार अुत्पन्न हुअे और टूटे किन्तु अुस समाजोंका मूल घटक आसानीसे नहीं टूटता वह है कुटुम्ब। कुटुम्बकी अुत्पत्ति प्राकृतिक है स्वभावसिद्ध है। पति-पत्नी गृहजीवनके वातावरणमें बच्चोंको जन्म देकर मा-बाप

बनने हू और माता पिता तथा छोटे बच्चे अेकत्रित रहत हैं, यही असली कुल है। यह कुल छोटा हो या बडा वह समाजकी जिकाओी अथवा घटक है। अगर किसी कारण समाज टूट गया किन्तु अुसवे कुल कायम रह तो महती विनष्टि नहीं होती है। समाजकी फिरसे स्थापना हो सकती है। अगर कुल नष्ट हुआ तो मानवता ही नष्ट हुओी, जिसीलिअे कुल धम ममालनेका महत्त्व जितना बडा बताया है। कुल धमका नाश हुवा कुल-क्षय हुआ तो असा अधम बढता है कि अुसका मुकाबला करना मनुष्य-शक्तिसे परे हो जाता है।

कुल रुपी सस्थाके अन्दर ही रहनेकी वृत्ति मनुष्य-स्वभावमें दृढ है। जिसीलिअे कुल धर्मोंको शाश्वत (१–४३) और सनातन (१–४०) कहा है और जिसीलिअे असे कुल धमका अुच्छेद करनेवालेका नरकवास नियत है असा भी कहा है (१–४३)।

धारणात् धर्मम् अिति आहु —*That which holds together is* Dharma धर्मो धारयते प्रजा। लोगोको अेकत्र लाने रखनेकी शक्ति धमकी है। (कायदा, कानून राजा सरकार ये सब अिस असली समाज धमके सगठनके लिअे बादमें पदा हुअे ह। व्यापक और सावभौम समाज धमकी शक्तिसे ही वे चलते और टिकते ह।)

पति-पत्नीकी अेक-दूसरेके प्रति निष्ठा अपने बच्चोंके प्रति वात्सल्य और बच्चोका अपने मा-बापके प्रति पूज्य भाव पूवजोका कृतज्ञतापूवक स्मरण और वशपरम्परागत चलती आयी कुलरीतिका कम-अधिक अभ्रूण रखनेका आग्रह यानी टेक और प्रजातन्तुका व्यवच्छेद न हो जाय जिसकी चिन्ता तथा कुटुम्बके द्वारा व्यापक समाजकी सवा करनेके कतव्यका स्वीकार — ये सब मिलकर कुलधम बनता है। जिसीके पालनके लिअे पच महायज्ञका विधान है।

सव-कल्याणकारी मनुष्यका विकास अेक जन्ममें पूरा न हुआ तो दूसरे जन्ममें होता है यह बताते हुअे गीताने यह नही कहा कि कल्याणकारी व्यक्तिका पुनजन्म अुच्च वर्गमें होता है लेकिन शुचि श्रीमत अथवा योगीके कुलमें ही होता है। वर्णोंका सकर और नाश होना जितना आसान है अुतना कुलका नाश आसान नहीं है।

सभवत अिसीलिअ गीतान पुनजन्मका सबध वणके साथ न बताते हुअ कुल्के साथ बताया है।

कूटस्थ [६–८, १२–३, १५–१६]

कूटका अथ होता है अूची जगह निम्र। कूटस्थ यानी सर्वोच्च जगह पर स्थित। परब्रह्मको कूटस्थ कहते है क्योंकि वह सर्वोपरि है स्थिर है अलिप्त है। अुसीको अक्षर भी कहते है।

जो अमर है कूटस्थ है वह राजाके समान पक्षपात रहित रहता है सवभूत हिते रत रहता है और अिसीलिअ अलिप्त भी रहता है।

कृतकृत्य [१५–२०]

कृतम् कृत्यम् कतयम् यन स कृतकृत्य। जिसन अपने सब कतव्योंका पूणतया पालन किया है अुसे कृतकृत्य कहते हं। अज्ञानसे रहित होकर जो मनुष्य भगवानको पूणरूपसे जानता है वह सवज्ञ होता है और भगवानको जानना ही अुसकी शरण जाना है। भगवानको जानना अुमकी शरण जाना और अुसकी भक्ति करना अिन तीनोंमें कोअी फक ही नही है। यह रहस्य सिद्धान्त जो कोअी जानता है अुसके सब कतव्य आप ही आप पूण होते ह। वह तुरत ही जीवनकी पूणता प्राप्त करता है। अुसका जीवन सफल होता है।

दुनियामें असे कितन लोग हाग जो कह सकें कि म कृतकृत्य हुआ हू?

कृतनिश्चय [२–३७]

कृतनिश्चयका अथ हाता है — असा मनुष्य जिसन अपना कोअी निश्चय किया है। जीवनमें अक्सर पाया गया है कि लोग पूण सकल्पस काम नही करत। कही चित्तका पूरा सहकार नही होता है कही किय जानवाले कमकी योग्यताके बारेमें मनमें सन्देह रहता है कही मुहूतके बारेमें शका रहती है और कही ता हम लाचारीसे काम करना पडता है।

जब कमकी योग्यताका संदेह नहीं रहता और तन-मन प्राणसे निश्चय किया जाता है, तब कहते हैं कि मनुष्यने कृतनिश्चय होकर काम किया है। असे कमके ही अुत्तम फल मिलते हैं।

कृतान्ते [१८–१३]

कृतान्तके अनेक अर्थ हैं। कृत कमका जिसके द्वारा अन्त होता है वह कृतान्त है। कृतान्तका अर्थ देव भी होता है। सिद्धान्तके अर्थमें भी कृतान्त शब्द आता है।

तब भी हम अिसमें अेक अुपयुक्त फर्क कर सकते हैं। भूमितिमें problems और theorems असे दो भेद होते हैं। Problem के अन्तमें Q E F (जो बनाना था) लिखा जाता है। Theorem के अन्तमें Q. E. D (जो सिद्ध करना था) असा शब्द आता है। अिसी परसे theorem के लिअे सिद्धान्त' शब्द (अिति सिद्धम् — Q E D) रखा है और problem के लिअे कृतान्त' (अिति कृतम्) यह शब्द रखा गया है।

गीतामें कृतान्त शब्द साख्यशास्त्रके अर्थमें आया है। साख्यशास्त्रमें कृतका यानी कर्मका अन्त अर्थात् परिसमाप्ति हो जाती है अिसलिअे साख्यको कृतान्त कहते हैं।

यमको भी कृतान्त कहते हैं।

कृत्स्न, अकृत्स्नविद्, कृत्स्नविद्, कृत्स्नकर्मकृत्

कृत्स्नका अर्थ होता है सपूर्ण अशेष अखिल जिसका कुछ हिस्सा रह नहीं गया। जो अेकागी नहीं है, सर्वांगी है वह है कृत्स्न। √कृत (वष्टने) = घेरना लपटना।

गीताको कृत्स्न दृष्टि पसद है। हरअेक चीजका सपूर्णतया विचार करना अध्ययन करना यही गीताको पसद है। अज्ञानी लोगोको गीताने 'अकृत्स्नविद्' कहा है (३–२९)। कृत्स्न विशेषण नीचेके शब्दोके साथ आया है

कुल, ब्रह्म अध्यात्म भूतग्राम, अिद जगत् सचराचर जगत् लोक, क्षेत्र।

ज्ञानके साथ भी कृत्स्न आता है—कृत्स्नविद् अकृत्स्नविद् अित्यादि। कार्त्स्न्येन का अर्थ होता है अशेषतया संपूर्णतया।

कृत्स्नविद [३–२९]

कृत्स्न यानी सब कुछ। सब कुछ जाननेवालेको कृत्स्नवित् कहते हैं। यों तो भगवान ही कृत्स्नवित् होते हैं (४–५) किन्तु सापेक्ष दृष्टिसे किसी भी परिस्थितिमें जो मनुष्य मतलबकी सब बातें जानता है अुसे भी कृत्स्नवित् कहते हैं। अिस्लामके पैगम्बरने कहा है कि भविष्यमें क्या होनेवाला है अुसकी जानकारी सिर्फ खुदाको ही है। कल क्या होगा अिसका अिल्म खुदाने न अपने फरिश्ताको दिया है न किसी पैगम्बरको।

केवल परमेश्वर ही कृत्स्नविद है किन्तु ज्ञानी पुरुष हर बातका रहस्य जानता है कार्य-कारण भाव समझता है अिसलिअ अुसे कृत्स्नविद कहा है। अिसी सिलसिलेमें गीताका सातवें अध्यायका पहला श्लोक देखना चाहिये। वहा भगवान कहते हैं कि मुझमें ध्यान लगाकर योगयुक्त होकर तुम मुझे किस तरह पूर्णतया और निःसंशय जान सकोगे सो सुनो — जिसका ज्ञान संशयरहित और समग्र है वह तो कृत्स्नविद है ही और असा ज्ञान अगर भगवानके बारेमें हो तो पूछना ही क्या?

जो व्यक्ति कर्मका रहस्य जानता है कर्ममें अकर्मको और अकर्ममें कर्मको पहचानता है असा बुद्धिमान मनुष्य कृत्स्नकर्मविद होता है। अुसके सब कर्म सांगोपांग सिद्ध होकर शुभपरिणामी बनते हैं और वह अशुभसे मुक्त होता है।

कृपा [१–२७, २–१], कृपण [२–४९] स्नेह, वात्सल्य

√कृप = दुःख करना अशक्त दुर्बल बनना दया करना अित्यादि। कृपा और कृपण शब्दके बारेमें अन्यत्र लिखा ही है। कृपा-पात्र व्यक्तिको ही कृपण कहते हैं। कृपणका अर्थ होता है अनाथ दुर्बल दरिद्री नीच मूर्ख कंजूस लोभी छोटे मनका क्षुद्र।

अुपनिषदोंमें कृपण और ब्राह्मण ये दोनों शब्द परस्पर विरोधी बताये हैं (बृहदारण्यक ३–८ १०)। वहा पर बताया है कि अगर

कोअी आदमी तपस्या करता है, दान देता है, यज्ञ करता है और अिस तरह हजार वर्ष व्यतीत करता है, किन्तु अक्षर परब्रह्मको नहीं पहचानता, तो अुसकी सारी साधना नाशवान् है, वह कृपण यानी कृपापात्र ही रहेगा। अिसके विपरीत अगर वह मनुष्य ब्रह्मको जानकर अिस दुनियाको छोड़ता है तो वह ब्राह्मण है — परम विशाल परम बृहत् अैसे ब्रह्मके योग्य है। अुसकी साधना नष्ट नहीं होती। अुसका हृदय सङ्कुचित नहीं रहता।

यहां ब्राह्मण शब्द गुण-वाचक है वर्ण या जातिवाचक नहीं।

कृपा शब्दका अर्थ है दया। दूसरेकी दुर्बलता देखकर जो दयाभाव मनमें पैदा होता है वही कृपा है।

स्नेह शब्द √स्निह (स्निह्यते) प्रेम करना परसे आया है। स्नेह आकर्षण पर निर्भर रहता है। प्राथमिक अवस्थामें यह स्नेह अपने कुटुम्बियोंके प्रति ही प्रगट होता है, और अुसमें स्वार्थ मोह और सकुचितताकी काफी मात्रा होती है। यह दोष निकल जाने पर स्नेह विशाल होता जाता है और सारे विश्वको अपनाता है। स्नेहके अंदर सहृदयताका भाव मुख्य है। वत्सल शब्द वत्स यानी बछड़ा परसे आया है। गायके मनमें अपने बछड़ेके प्रति आकर्षण रहता है वही असली वात्सल्य है। अिस परसे वात्सल्यका अर्थ होता है बच्चोंके प्रति प्रेम प्रीति।

कौशलम् [२–५०]

अिस शब्दकी व्युत्पत्ति मनोरंजक है। प्राचीन कालमें आश्रममें रहनेवाले ब्राह्मण यज्ञके विविध कामोंके लिये जंगलसे कुश नामक घास काटकर लाते थे। घास काटनेके लिये संस्कृत धातु है 'ला'। अिस परसे कुश काटनेमें जो प्रवीण होता था अुसे कुशल कहते थे (√ला—आदाने दाने च कुशान् लाति अिति कुशलः)।* अिस परसे किसी भी काममें जो प्रवीण हो अुसे कुशल कहने लगे। अिस परसे

* घास पकड़कर काटनेमें घासकी किनारीसे हाथ कट जानेका डर रहता था। हाथ न कटे और घास करीब करीब जड़मूलसे कट जाय अैसी खूबीसे काटना आसान नहीं होता।

कुशल शब्दका अर्थ हुआ होशियार प्रवीण फिर दूसरा अर्थ हुआ कल्याण, शुभ। कुशल प्रश्न अिस शब्दमें यह दूसरा अर्थ है। कौशल शब्द कुशलसे आया है।

कर्म करनेकी कुशलताको ही योग कहते हैं अथवा योग अेक असी खूबी है जिसके द्वारा बंधनकारी कर्मोंको भी हम बंधनशून्य बनाकर करनेकी कुशलता प्राप्त कर सकते हैं।

क्रतु [९–१६]

यज्ञ दो प्रकारके होते हैं — श्रौत और स्मार्त। (जो श्रुतिके अनुसार होते हैं अुन्हें श्रौत कहते हैं। जो स्मृतिके अनुसार चलते हैं वे स्मार्त होते हैं।) श्रौत यज्ञको क्रतु (क्रतु) कहते हैं।

क्रतुका अर्थ है यज्ञ यज्ञका संकल्प सामर्थ्य, निश्चय, अुपासना। ग्रीक भाषामें 'क्रेटोस' का अर्थ होता है सामर्थ्य शक्ति। क्रटोस् और क्रतुस् अेक ही हैं असा दीख पड़ता है।

अीशोपनिषदमें परलोकगामी जीवको 'क्रतो' कहकर संबोधा है।

क्रोध [२–६२, ६३, ३–३७, १६–४, २१], **अक्रोध** [१६–२]

√क्रुध् (क्रोधे) क्रोध करना गुस्से होना।

मनुष्यके छह विकारोंमें क्रोधका स्थान विशेष है। प्रथम विकार तो काम (वासना) है अुसीका दूसरा रूप है क्रोध। अिन दोनोंके कारण मनुष्य अंधा हो जाता है। नहीं करने योग्य काम कर बठता है।

सृष्टिकी और समाजकी रचना जो बराबर जानता है और अुसका स्वीकार करता है वह धर्मज्ञ है। काम और क्रोध धर्मज्ञानको डुबा देते हैं। क्रुद्ध मनुष्य अपना ही अहित कर बैठता है। क्रुद्धो हन्यात् गुरूनपि — गुस्सेसे अंधा बना हुआ मनुष्य गुरुजनोंको भी मार बैठेगा।

क्रुद्धो हि संमूढः सन् गुरुमपि आक्रोशति' — क्रोधी मनुष्य मूढ बनकर बड़ोंको भी गाली देता है। काम और क्रोध रजोगुणसे पैदा होते हैं। दोनों बड़े पेटू हैं महापापी हैं, मानव-जातिके शत्रु हैं। क्रोध आसुरी सम्पत्तिका लक्षण है और नरकका अेक द्वार है।

सामान्य लोग मानते हैं कि क्रोध सामर्थ्यका लक्षण है किन्तु वह दुर्बलताका ही अेक प्रकार है। तेज और क्रोध अेक नहीं है, जोश और रोष अेक नहीं है।

क्रोधके बारेमें याज्ञवल्क्य-अुपनिषदमें अेक सुन्दर श्लोक है

अपकारिणि कोपः चेत कोपे कोपः कथम् न ते।
धर्मार्थकाममोक्षाणाम् प्रसह्य-परिपन्थिनि॥

नुकसान करनेवाले पर क्रोध करना अगर स्वाभाविक हो तो कोप पर ही तू गुस्सा क्यों नहीं करता है? वह तो धर्म अर्थ काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थोंका जबरदस्त बटमार है।

क्षत्रकर्म [१८–४३], क्षात्रधर्म [२–३१, ३२, ३३]

क्षतात् त्रायते अिति क्षत्रियः।

क्षतात्किल त्रायत अित्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः। प्रजाको नाशसे बचाता है अिसलिअे अुसे 'क्षत्र' कहते हैं। प्रजाका रक्षण करना, पालन करना शत्रुके साथ युद्ध करना अन्यायकारीका दण्ड देना, हिंस्र पशुओंकी मृगया द्वारा कृषिका रक्षण करना विद्या प्रचारके लिअे पंडितोंका पुरस्कार करना, ये सब क्षत्रियोंके कर्तव्य हैं। ब्राह्मण क्षत्रियादि सब समाज-सेवकोंके धर्म कर्मरूप होते हैं। अुनके स्वकर्म ही अुनके स्वधर्म हैं।

प्रजा पालन क्षत्रियोंका धर्म है। किन्तु प्रजा-पीडन, स्वजाति संहार और आत्मनाश यही अुनका स्वभाव दिख पड़ता है। बाहुबलसे लक्ष्मीको जीत लेना और फिर न्यायान्यायका या स्वहितका विचार किये बिना अेश-आराम करना और गफलतमें रहकर आत्मनाशको बुलाना यही कभी कभी क्षत्रियोंका जीवनक्रम बन जाता है। महाभारतके कालमें अुनका विशेष व्यसन था द्यूत और परस्पर अीर्षा। साथ साथ मदिरापान भी बढ़ गया था। जिस परसे परस्पर कलह और यादवोंका अुद्रेक हुआ। यहां तक कि धर्मराज जैसे सत्त्वस्थ लोग क्षात्रधर्मको पापधर्म कहने लगे।

श्रीकृष्णने गीताके प्रारम्भमें अर्जुनको समझाया कि आत्मरक्षाके लिअे, धर्मकी रक्षाके लिअे अनाथोंके त्राणके लिअे किया हुआ युद्ध

धर्म है क्षत्रियोंका वह स्वधर्म है। जो क्षत्रिय धर्मयुद्धसे विमुख होते हैं वे पापके भागी होते हैं और अुनकी अपकीर्ति होती है। परस्वापहरणके लिअ युद्ध करना बुरा है किन्तु जब यदृच्छया धर्मयुद्ध प्राप्त होता है, आकर खड़ा होता है तब अुस हृदयकी दुर्बलताके कारण छोड़ना नहीं चाहिये। गीताके अंतमें क्षत्रियके स्वभावके नीचके लक्षण बताये हैं — शौर्य तेजस्विता, धृति दक्षता युद्धमें नहीं भागनेका निश्चय दानशीलता और अीश्वरभाव। (धृति और अीश्वरभावका अर्थ अुन अुन शब्दोंके नीचे देखिये।)

धर्मके रक्षणके खातिर मारनेके लिअे और मरनेके लिअे तयार रहना क्षात्र धर्म है। जिसमें धर्मके रक्षण और पालनके लिअ किसीको न मारते हुअे मरनेके लिअे — आत्म-बलिदानके लिये — तयार रहना सत्याग्रह धर्म है। अपनी जान सलामत रखकर दूसरेको मारनेके लिअ तयार रहना जल्लादका काम है। सत्याग्रह धर्म जल्लादके धर्मसे जब मिल जाता है तब रिवाजी रूढ क्षात्र धर्म बनता है। अिसलिअ सत्याग्रह धर्मको विशुद्ध क्षात्र धर्म कहना चाहिये।

क्षत्रियोंके धर्ममें युद्ध और राज्य रक्षण तो आते हैं किन्तु राज्यका कारभार चलाना अुसका हिसाब किताब रखना, प्रजासे कर के रूपमें कितना धन लेना अिसका निश्चय करना न्यायदान करना अित्यादि राजाके कर्तव्योंमें मदद करनेके लिअे राजपूतोंको ही नियुक्त करना चाहिये असा वर्णधर्मका आग्रह नहीं दीख पड़ता। ब्राह्मणोंकी और वैश्योंकी मदद ली जाती थी।

राजधर्म और क्षात्र धर्ममें कोअी भेद है या नहीं यह प्रश्न सोचने लायक है।

क्षमा [१०–४, ३४, १६–३], **क्षमी** [१२–१३], **क्षान्ति** [१३–७, १८–४२]

√क्षम् (सहने) सहन करना क्षमा करना।

आकृष्टस्य ताडितस्य वा अविकृतचित्तता' — गालियां या मार खाने पर अपने चित्तमें विकार अस्वस्थता पैदा न होने देनेको क्षमा कहते हैं। मुझे गालियां देनेवाला या मारनेवाला चाहता है कि मैं डर जाअूं अपमानित

हो जाअू म शरण जाअू, अपनी टेकको छोड दू और मेरा तेजोवध हो जाय। गालिया देना या मारना अुसके हाथकी बात है। शायद मैं अपनेको अिससे बचा नही सकूगा। किन्तु डरना या नही डरना शरण जाना या नही जाना अपना तेज खोना या नहीं खोना मेरे वशकी बात है। अगर म जिसमें नही हारा तो मने अपने विरोधीका अुसके अुद्देश्यमें असफलता देकर अुसे परास्त किया। जब तक मेरा चित्त अविचल है अविकारी है तब तक मेरी पराजय नही हुअी।

यह क्षमा-वृत्ति ओश्वरका ही अेक भाव है। मनमें विकार ही पदा नहा होना क्षमाका लक्षण है और विक्रिया अुत्पन्न होने पर अुसे दबा कर शान्त होना अक्रोधका लक्षण है।

तजस्विताके बिना सच्ची क्षमा-वृत्ति असम्भव है। तेज, धृति, और अद्रोह अिन दवी सम्पतके लक्षणोंके साथ ही सच्ची क्षमा रहती है (१६–३)।

जिसमें अहकार और ममत्व नहीं है जो किसीसे द्वेष नही करता, सबके प्रति मत्री और करुणाका भाव रखता है और सुख या दु ख आने पर जो स्वय अविचल रहता है वही मनुष्य क्षमावान् हो सकता है (१२–१३)।

जो दुबल है अुनके मनमें द्वेष, हिंसा और द्रोह भरे हुअे रहत ह। दुबलताके कारण अपनेको बचानेक लिअे वह अुन्हें छिपा रखे वह बात दूसरी है। अुसे क्षमावान् नही कह सकते और अुस क्षमाका फल भी नही मिलता। 'असमर्थो भवेत् साधु' अिस न्यायके अनुसार वह क्षमाका दम्भ अवश्य कर सकता है, किन्तु अुसमें न तो अुम शान्ति मिलेगी और न अुसकी तेजोरक्षा होगी।

क्षमाके बारेमें किसीने कहा है कि जीवनमें क्षमा सबसे श्रेष्ठ गुण है किन्तु अुसमें अेक ही दोष पाया जाता है। वह यह कि सच्चे क्षमावानको भी लोग कभी कभी दुबल समझते ह। अिसमें क्षमावान्का कोअी नुकसान नही होता।

अेक क्षमावतां दोषो द्वितीयो नव विद्यते।
यदेन क्षमया युक्तम् अशक्त मन्यते जन ॥

क्षेत्रम [१३-१, ३ ६, १८, ३३], क्षेत्रज्ञ [१३-१, २, ३४]

√क्षि (क्षय हिंसायाम निवासगत्यो) क्षय पाना, क्षीण होना नाश करना निवास करना जाना।

√क्षी (हिंसायाम्)

√क्ष (क्षये)

क्षेत्र कहते ह खतको स्थानको सीयको, और देहको और पत्नीको भी। असका असली अर्थ है जमीन या खत। शरीरका क्षत्र अिसलिअ कहते ह कि अुसमें हम अपन किय हुअे कर्मोका फल पाते ह बोये हुअ कर्मोकी फसल काटते ह। धातवथ देखनसे भी शरीर क्षत्र है। शरीरका क्षय होता है हिंसा करके ही वह जी सकता है वह गतिमान और परिवतनशील है तथा आत्माका निवासस्थान है। [शरीर शब्दकी व्युत्पत्ति भी शायद श (हिंसायाम) परस है।]

श्री शकराचायन क्षत्रकी व्युत्पत्ति अिस प्रकार दी है — क्षत त्राणात क्षयात क्षरणात क्षत्रवत् वा अस्मिन कमफल निवस क्षत्रम। क्षत यानी नुकसानसे जो बचाता है अथवा जिसका क्षय होना है अथवा जो शन शन नष्ट होता है अथवा कमफल पानके लिअ खतके समान जिसका अुपयोग होता है वह क्षत्र है।

क्षेत्र अथवा शरीर कहनसे चतन्य विरहित मुरदेके समान जड वस्तुका ही खयाल होता है लेकिन वह सही नही है। हममें आत्माको छोडकर बाकी जितनी चीजें होती ह वे सब मिलकर क्षेत्र होता है। गीतामें (१३-५ ६) स्पष्ट बताया है कि पच महाभूत अहकार बुद्धि अव्यक्त (मूल प्रकृति) दस अिद्रिया और अुन्हे चलानेवाला मन शब्द स्पश रूप रस गध ये अिद्रियोके विषय अिच्छा द्वष सुख दुख और अूपर बताय हुअ तत्वोका सघात अुसके काम करनवाली चेतना धृति य सब मिलकर शरीर (और असके विकार) ह।

अिस शरीरको और अुसके कार्यको जो पूण रूपसे जानता है अुस आत्माको क्षत्रज्ञ कहते ह (१३-१)। अिस विश्वमें जो कुछ भी हस्ती स्थावर या जगम पदा होती है वह अिन क्षेत्र और क्षत्रज्ञके

सयोगसे होती है (१३–२६)। साराश यह कि चैतन्यसे और आत्मासे विहीन असी कोओी चीज अिस विश्वमें नही है।

जितना घनिष्ठ और सनातन सम्बन्ध होते हुअे भी क्षेत्रज्ञ आत्मा क्षेत्र देहसे अलिप्त ही रहती है (१३–३२) और अलिप्त रहकर सारे क्षेत्रको प्रकाशित करती है (१३–३३)।

मोक्षप्राप्तिके लिअे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनोका स्वरूप और अुनका पार्थक्य (अन्तरम्) जानना आवश्यक है।

क्षेत्रको जाननेसे हम अपने शरीरको, अुसके सब घटक तत्त्वोको और अुसके व्यापारको जानते हैं। क्षेत्र यानी शरीरके द्वारा जिन जिन वस्तुओका ग्रहण होता है अुन सब वस्तुओको भी जानते है और जाननेकी प्रक्रिया (process)को भी जानते हैं। अिस तरहकी अनुभूतिके स्व रूपको भी जानते है। जिस प्रकार क्षेत्रका सम्पूर्ण खयाल आने पर क्षेत्रज्ञ आत्माकी विलक्षणता आप ही आप ध्यानमें आ जाती है।

ख [७–४, ८]

गीतामें ख का अर्थ है आकाश। ख का अर्थ शून्य भी होता है। सूमको भी ख कहते है।

ख का दूसरा अर्थ है अिद्रिय जो सुख और दु खमें पाया जाता है। अिद्रियोंके लिअे अनुकूल सो सुख और प्रतिकूल सो दु ख। बादमें अिन शब्दोका अर्थ व्यापक हुआ होगा।

गति [४–१७, ८–२६, ९–१८, १२–५]

√गम् (गतौ) जाना, पहुचना।

गतिका अर्थ होता है जाना जानेकी क्रिया जानेका रास्ता और पहुचनेका मुकाम। ये मुकाम दो प्रकारके होते है — अुत्तम और अधम। अुत्तम मुकामको गीताने परागति परमगति, अनुत्तमा गति अित्यादि नाम दिये है। पौराणिकोका 'स्वगति' शब्द भी गीतामें (९–२०) आया है। गीताके खास शब्द है शुक्ल गति और कृष्ण गति (८–२६)। हीन गतिको गीताने अधमा गति और दुर्गति कहा है।

व्यक्ता और अव्यक्ता असे भी गतिके दो प्रकार गीताने बताये है (१२–५)। वहा पर गतिका अर्थ मुकाम अथवा आखिरी अवस्था है।

गहना कर्मणा गति (४–१७) में गतिका अर्थ स्वरूप है। गतिभर्ता प्रभु साक्षी (९–१८) में गतिका अर्थ है अन्तिम प्राप्तव्य स्थान। श्री शंकराचार्य जिसका अर्थ क्रिया है कर्मफल।

गतिका सामान्य अर्थ है साधना मार्ग। शुक्ल और कृष्ण गतिमें यह साधना मार्ग भी बताया है और अुससे प्राप्त होनेवाली स्थितिको भी बताया है।

गुण

गुण शब्दका विवेचन चौदहवें सत्रहवें और अठारहवें अध्यायोंमें विशद हुआ है। या तो सारी गीतामें गुण शब्दका जिक्र जगह जगह आता ही है।

√गुण (आमंत्रण) बुलाना गनना सलाह देना बार-बार करना अित्यादि। संस्कृतमें धागको या डोरीको गुण कहते हैं। अकसर तीन धागे अेकत्र बटनसे डोरी बनती है। अिसी तरह मनुष्य स्वभावकी तीन प्रकारकी कल्पना करके बताया है कि अुनके संयोगसे स्वभावकी विचित्रता बनती है (१४–५ ६ ७ से १८ तक)।

देखा गया है कि हरअेक वस्तुमें अनेक गुण – qualities – होते हैं। जिस तरह भाषामें नामके विशेषण होते हैं क्रियाके क्रिया विशेषण होते हैं अुसी तरह जगतमें वस्तुओंके गुणधर्म पाये जाते हैं। कर्मोंके भी गुणधर्म पाये जाते हैं। असे गुण अनन्त हैं। द्रव्यके बिना गुण रह नहीं सकते। चंद लोग मानते हैं कि द्रव्यका कोअी स्वतंत्र अस्तित्व है ही नहीं विशिष्ट गुणोंका संयोग होनेसे द्रव्यका भास होता है। अिसके विरुद्ध दूसरे लोग कहते हैं कि जो है सो द्रव्य ही है अुसमें जो गुण दीख पड़ते हैं वे अस्थायी हैं। जैसे अेक ही वस्तु कभी बर्फका रूप धारण करती है कभी पानीका कभी बाष्पका। गर्मीके दिनोंमें जो ठण्डी चीज अच्छी लगती है वही जाड़के दिनोंमें दुःखकर मालूम होती है। अिस तरह गुण और अुनका कार्य अस्थायी है किन्तु जिस चीज पर वे अधिष्ठित हैं वह चीज स्थायी है।

गीताम जिन गुणाका अुल्लेख है वे तीन ही ह। गीता कहती है कि अिस त्रिलोकीमें असा कुछ भी नही है जो अिन तीन गुणासे मुक्त हो। अिस विश्वकी प्रकृतिमें ही ये तीन गुण हैं (१८-४०)। चातुर्वर्ण्य भी अिन्ही गुणाके आधार पर रचा हुआ है (१८-४१)।

अब प्रश्न यह अुठता है कि गुण तीन ही क्या ह?

अिसका कारण ढूढनेके पहले यह ध्यानमें लेना चाहिये कि गुण त्रयकी व्यवस्था ज्ञानमार्गी सांख्योकी है। अुन्होने देखा कि या तो ज्ञानका अभाव है या भाव। जहा बिल्कुल अज्ञान है, अधकार है, अुसे अुन्होने तमोगुण कहा। अिसके विपरीत जहा ज्ञान है प्रकाश है, शुद्धि है अुसे अुन्होने सत्त्व कहा।

अब अिन दोनोंके बीचकी जो अवस्था है अुसमें ज्ञान और अज्ञानका कमोबेश मिश्रण रहता है। अिस मिश्रणके अनन्त प्रकार हो सकते ह तो भी अुन्ह सामान्य नाम दिया है रजस। तमोगुणमें जडता होती है, अप्रवृत्ति होती है। सत्त्वगुणमें पूर्ण ज्ञानके कारण शान्ति और समाधान होते ह। बीचकी स्थितिमें सकारण निष्कारण नाना प्रकारकी दौड धूप व्याप्त रहती है। पानीमें तरनेकी कला सीखनेवाला नौसिखिया न पानीका स्वभाव बराबर पहचानता है और न अपना। अिसलिअे डूबनेके डरसे हाथ-पाव जरूरतसे ज्यादा जोरासे चलाकर वह नाहक थक जाता है और अपने मुह पर पानी अुडा अुडा कर परेशान भी होता है। रजोगुणकी यही हालत है।

परिणामकी दृष्टिसे देखा जाय तो सत्त्व गुणका काम ही अधिक और कारगर रहता है। सात्त्विक क्रिया असी होती है कि जिससे विषम प्रतिक्रिया पैदा ही न हो। रजोगुण जल्दबाजीसे अितना कुछ भला बुरा काम कर डालता है कि अपनी ही की हुअी बातासे परेशान होकर अुसे बार बार फेरफार करना पडता है। अदूरदर्शितासे जो कुछ भी किया जाता है अुसकी हालत असी ही होती है।

गीतामें श्रद्धा, आहार यज्ञ, तप, दान ज्ञान कर्म कर्ता, बुद्धि धृति सुख, अित्यादि जीवनके महत्त्वके तत्त्वामें अिन तीन गुणाका असर कैसा होता है यह विस्तारसे बताया है। चातुर्वर्ण्यका भी त्रिगुणासे

सम्बंध बताया है, किन्तु सत्त्व और रज जिन दोनोका सामाजिक मानसिक और आध्यात्मिक असर दवासुर-सम्पत् विभागमें यानी सोलहवे अध्यायमें दिया है। अिसलिअ १४ १७ १८ और १६ अिस क्रमसे ये अध्याय पढनेसे गुण-सस्थानका खयाल बराबर आता है।

जीवनमें अिन तीनोंमें से केवल अकेला अक गुण कही नही पाया जाता। दूसरे दो गुणोको दबाकर अक गुण अपना प्राधान्य जमा लेता है। अिन तीनोंमें सत्त्वगुण श्रेष्ठ है। लेकिन गीता अुससे सतुष्ट नही है। अुसका सर्वोच्च आदर्श है गुणातीत अवस्थाका। अुसका वर्णन चौदहवे अध्यायके अतमें आता है। मनुष्यके गुण और कर्मका सबध भी गीताने विस्तारसे बताया है। सिर्फ परमात्मा ही निर्गुण है।

गुणातीत [१४–२५]

अतीत यानी परे गया हुआ। तीनो गुणोको समझकर अुनकी साधना पूरी करके जो अुनसे परे गया है वही गुणातीत है।

गुणातीतका वर्णन चौदहवे अध्यायमें आता है तो भी स्वतत्र विषय होनेसे अुसका अक अलग ही प्रकार समझना चाहिये।

तमोगुण जीवनमें जडता लाता है अिसलिअे अुसका ज्यादा विवेचन हो नही सकता।

सामाजिक अुत्कर्षकी दृष्टिसे रजोगुण और सत्त्वगुणका ही स्वरूप विस्तारसे समझना चाहिये। समाजकी दृष्टिसे सात्त्विक पुरुष आदर्श है किन्तु गीता मोक्षका विचार करके सत्त्वगुणके भी आगे जाकर अलिप्त अनासक्त अैसे गुणातीतका चित्र खीचती है। (१४–१९ से २७ तक)

भूमितिमें जिस तरह बिन्दु है किन्तु व्यवहारमें अुस व्याख्याका बिन्दु दृष्टिगोचर नही होता अुसी तरह अुस गुणातीतकी स्थिति है।

अैसी ही शका आने पर अर्जुन पूछता है कि गुणातीतको पहचाननेका लक्षण क्या है? अुसका आचार कैसा होता है और गुणातीत स्थिति तक पहुचनेकी साधना क्या है।

गीताका गुणातीत भी स्थितप्रज्ञ यानी है योगी है और भक्त भी है। अुदासीनता तटस्थता और अनासक्ति ही अुसका प्रधान लक्षण है।

(निस्त्रैगुण्य शब्द भी देख लीजिये।)

मनुष्याके सत्त्व रजादि गुण होते ह और अध्यापन रक्षण, वाणिज्य, परिचर्या आदि कम होते ह। गुणाका और कर्मोंका परस्पर सम्बध स्पष्ट ही ह। जसा गुण विभाग होगा वसा ही कम विभाग करना पडता है। चातुवर्ण्यकी बुनियादमें सामाजिक कम-व्यवस्था है और अिस व्यवस्थाकी बुनियादमें गुण भेद है। अिसलिअे भगवान कहते ह कि चार वर्णकी व्यवस्था मने गुण-कर्मके अनुसार की है।

अब जो लोग मानते ह कि वण-व्यवस्था 'जन्मना' है वे मया' शब्द पर भार देते है। यह व्यवस्था औश्वर-कतक है मनुष्याधीन नहीं। अपने जन्मप्राप्त वण धमका पालन करनेकी सहूलियतके लिअे अुस कृपालुन हमें समझा दिया है कि अिस व्यवस्थाकी बुनियादमें कौनसी खूबी रहा है कौनसा तत्त्व भरा है।

जो लोग कमके अनुसार या स्वभावके अनुसार अपना वण पसन्द करनेका मनुष्यका अधिकार मानते ह, वे भगवानके अिस वचनका नीचे मुताबिक अथ करते है भगवानने अिस विश्वको त्रिगुणात्मक बनाया। अुसके अनुसार मनुष्यके चार वग या वण होनेकी सम्भावना हुअी। अिस अथमें वण-व्यवस्था औश्वरकी बनाअी हुअी प्रकृतिके अन्दर है ही। वण-व्यवस्था प्रकृतिगत व्यवस्था है वह विकृत या कृत्रिम नही है। किन्तु अिस प्रकृतिगत व्यवस्थामें अपना-अपना वण तो हर मनुष्य अपने प्राकृतिक गुण और परिस्थिति प्राप्य कमके अनुसार तय कर सकता है। मनुष्यको असा स्वयवर करनेका अधिकार नही होता तो वण-व्यवस्थाकी बुनियादमें कौनसा तत्त्व है यह बतानेका कोअी प्रयोजन या अथ नही रहता। औश्वरने मनुष्यको जिसमें स्वतत्रता दी है।

चन्द लोग यहा तक जाते ह कि मनुष्यको अपनी शिक्षा परिस्थिति अनुभव और दीक्षाके अनुसार समय समय पर अपना पसन्द किया हुआ वण बदलनेका अधिकार भी है। वण-व्यवस्थामें खानपान और शादी विवाहका कोअी सम्बध नही है अिसलिअे यह जरूरी नहा है कि वण-व्यवस्था आनुवंशिक हो।

अिन दोनों दृष्टियोंका समन्वय करनेवाले कहते हैं कि मनुष्यका गुण अथवा अुसका स्वभाव जन्मसे ही करीब करीब तय होता है। अिसलिअे अुसे आनुवंशिक समझनेमें कोअी गलती नहीं है। वंशानिष्ठताका रक्षा ही होती है। मनुष्यके गुणको निश्चित करते समय अुसका जन्म अुसके मा-बापका स्वभाव, अुसका धंधा, घरका और समाजका वायुमंडल यह सब देखना ही पड़ेगा। अिसलिअे वर्ण कर्मके अनुसार होते हुअे भी जन्मके अनुसार गुण समझकर तय करनेमें बुद्धिमानी है। जन्मके अनुसार प्राप्त हुआ वर्ण बदलनेमें कोअी पाप नहीं है किन्तु सामान्यतया बड़ी हानि हो सकती है। जन्मगत वर्ण मनुष्यकी सांस्कारिक पूंजी है। अुसे खोनेसे अुसकी अुपेक्षा करनेसे संस्कार-दारिद्र्य पैदा होगा और कौशल-हीनता भी पैदा होगी।

आश्रम

गीतामें आश्रम शब्द नहीं है। आश्रम-व्यवस्थाका स्पष्ट अुल्लेख भी नहीं है। वर्ण और आश्रम ये हिन्दू समाज-व्यवस्थाके (और जीवन-व्यवस्थाके भी) प्रधान अंग हैं। अैसा होते हुअे भी आश्रम धर्मका विवेचन गीतामें नहीं आया है यह आश्चर्यकी बात है। कृष्णार्जुन-संवादमें आश्रमका कहीं जिक्र ही नहीं आया सो बात भी नहीं। गीता कालमें चार आश्रमोंकी व्यवस्था तो थी ही। श्रीकृष्णने सांदीपनिके आश्रममें विद्याध्ययनके लिअे अपना ब्रह्मचर्याश्रम व्यतीत किया था। विदुर धृतराष्ट्र अित्यादि लोगोंका वानप्रस्थ आश्रम विख्यात है ही। गीतामें अर्जुन शुरूमें ही कहता है कि स्वजनोंको मारकर राज्यका अुपभोग करनेकी अपेक्षा मैं संन्यासी बनकर भिक्षाका अन्न खाअूं, तो भी वह अच्छा है (२-५)। यहां पर संन्यासाश्रमका ही अुल्लेख दिख पड़ता है।

आगे जाकर ब्रह्मचर्याश्रमका जिक्र दिख पड़ता है (४-३४)में जहां शिष्य प्रणिपात परिप्रश्न और सेवाके द्वारा तत्त्वदर्शी गुरुके पाससे ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं अैसा कहा है। गृहस्थाश्रमका अुल्लेख १-४२ में पिण्डोदक क्रियाके द्वारा आया है। संन्यास आश्रमका अुल्लेख छठे अध्यायके पहले श्लोकमें 'न निरग्निर्न चाक्रियः' के द्वारा हुआ है।

जब अर्जुन भिक्षान्न-सेवन द्वारा सन्यास आश्रम पसन्द करनेकी बात करता है तब गीतामें आश्रम-व्यवस्थाका विवरण आना सप्रयोजन भी था अपरिहार्य था। लेकिन गीतामें वैसा नहीं आया यह अेक बड़ा आश्चर्य है। [गीतोक्त सन्यास भगवान मनुका बताया हुआ आश्रमोक्त धर्म नहीं है वह तो सब आश्रमके लोगोंके लिअे सार्वभौम जीवन धर्म है।]

आश्रम शब्द √श्रि (सेवायाम्) आश्रय करना परसे आया होगा अथवा √श्रम् (तपसि खेदे च) तपस्या करना या खेद करना परसे आया होगा।

गुह्य [१८–६३, ६४, ६८]

√गुह् (संवरणे) = ढकके रखना प्रकट नहीं करना।

मनुष्य-जीवनमें कअी वस्तुअें प्रगट न करने लायक होती हैं जिन्हें गोपनीय कहते हैं। प्रगट न करनेसे ही अुन वस्तुओंकी यथार्थ रक्षा होती है। (गोपनीयका यह भी अर्थ है कि वह वस्तु रक्षायोग्य है।)

लेकिन सर्वोच्च ज्ञानको गोपनीय बताना, सबके सामने सबके लिअे अुसे अुपलब्ध नहीं रखना यह प्राचीन कालकी विशेषता है। अेक जगह अपि कहते हैं 'विवृतास्च वेदाः।' वेद खुले हैं। सबके लिअे समझने लायक हैं। तो भी वेदान्तविद्या मंत्रविद्या ध्यानविद्या आदि अनेक विद्याओंके बारेमें आग्रहपूर्वक कहा जाता है कि जो लोग ज्ञानके अधिकारी हैं अुन्हींको वह विद्या देनी चाहिये औरोंको नहीं।

गीता तो विश्वकल्याणकारी विद्या है। तो भी गीताके अंतमें भगवान कहते हैं कि जिस विद्याके लिअे जिनका मन अनुकूल नहीं है अुनको यह संवाद नहीं कहना चाहिये।

पुराने लोगोंका अनुभव था कि ज्ञानका दुरुपयोग हो सकता है। गूढ़ ज्ञानका दुरुपयोग न हो अैसे शब्दोंमें अुसे प्रगट करना मुश्किल है। जिनकी नीयत खराब है अैसे आदमी ज्ञानका दुरुपयोग करेंगे ही। अिसलिअे अनधिकारी आदमीको श्रेष्ठ विद्या न देना ही अच्छा।

(अुपनिषद् शब्दका अर्थ ही गूढ़विद्या होता है। अुपनिषदोंमें जो विद्या आअी है अुसकी चर्चा गुरु-शिष्य अरण्यमें जाकर ही करते थे और

चंद बातें तो जैसे अधिकारी समाजमें भी न करते हुअे अेकान्तमें जाकर करते थे।)

आगे जाकर मंत्र, जप और अुनके विधानके बारेमें गोपनीयता बढ़ी। जहां देखें वहां असे अुद्‍गार मिलते हैं — यह बात अत्यंत गोपनीय है, किसीको कहनी नहीं। योग्य शिष्य न मिले तो विद्याके साथ मर जाना अच्छा। परंपरा भले टूटे, लेकिन अयोग्य व्यक्तिको विद्या नहीं देनी चाहिये।

अिस तरह महत्त्व बढ़ानेके हेतुसे गोपनीयताका प्रचार होने लगा और विद्याका प्रचार रुक गया। यह अेक नुकसान हुआ। दूसरा नुकसान यह हुआ कि विद्याकी खुली चर्चा न होनेसे आवश्यक संशोधन भी रुक गया। ऋषि-मुनि और पुरखा सर्वज्ञ थे, अुनकी कही चीजोंमें दोष या अपूर्णता हो ही नहीं सकती, असी भावना बढ़ाओ गओ। आचार्योंका सर्वज्ञत्व और त्रिकालज्ञत्व और विद्याकी गोपनीयता दोनोंने हमारे लोगोंकी ज्ञानोपासना करीब करीब मार डाली।

गनीमत है कि गीता पर भाष्य लिखनेवाले आचार्योंने यह कभी नहीं कहा कि हमारा भाष्य भी गोपनीय है। हालांकि कभी भाष्यकार मानते थे कि वेदविद्या त्रैवर्णिकोंके लिअे ही है अथवा सिर्फ ब्राह्मणोंके लिअे ही है।

गोरक्ष्यम [१८-४४] वाणिज्यम [१८-४४]

गौओंकी रक्षा करनेका धर्म खास करके वैश्योंका बताया है। मनुस्मृतिमें भारपूर्वक कहा है कि अिस धर्मका पालन मैं नहीं करूंगा असी मति वैश्यकी कभी भी नहीं होनी चाहिये।

सृष्टिकी रचना ही असी है कि अुसमें परस्परावलम्बनके कारण सब लोग और सब प्राणी सुरक्षित हैं। गाय ही केवल आर्थिक दृष्टि रखनेवाले समाजमें सुरक्षित नहीं है। अुसकी रक्षा धर्मबुद्धिसे ही करनी चाहिये। दूधके समान अत्यावश्यक आहार देकर जिसने मनुष्यके लिअे माताका स्थान लिया और जिसके बछड़ेने मनुष्यके लिअे धान्य और कपासकी खेती करनेमें मदद करके अन्नवस्त्रके दाताका स्थान लिया, कमसे कम अुसे तो मनुष्यकी ओरसे अभय-दान मिलना ही चाहिये। वेदने अकेली गायको अघ्न्या कहा और धनधान्यकी समृद्धि जिसके पास है असे वैश्यको

गायकी रक्षाका धर्म बता दिया। मनुने आग्रहपूर्वक कहा है कि अिस धर्मसे वैश्य कभी भी मुह न मोडें।

अेक दृष्टिसे कहा जा सकता है कि गोरक्षा ही हिन्दू धर्मकी विशेषता है, अुसीमें अुसकी श्रेष्ठता है हिन्दू जाति अगर दुनियाको कुछ दे सकती है तो वह गोरक्षा धर्म ही है। अिसीलिअे शायद गीताके भगवानने स्वय गोपाल बनकर गोरक्षाका वस्तुपाठ मनुष्य-जातिके सामने रखा।

गायने अपना दूध देकर मनुष्यको अहिंसक आहारका आदर्श सिद्ध करनेमें मदद की। दुनियामें आहारकी काअी अैसी चीज नही है, जो अिस दूधका स्थान ले सके। और बलने खेती करके — जमीन बस करके — मनुष्यके आहारमें वृद्धि की। अिसीलिअे मनुष्य अहिंसक हो सका। अेक जगह स्थायी होकर रहनेकी सभावना भी कृषिके कारण ही हुअी।

अितना होते हुअे भी बैलके लिअे कृषिमें साल भरका काम नही मिलता। और जानवरोंमें जो तनिक भी बेकार रहते है अुनकी जान खतरमें आ पडती है। अिसलिअे समाज-व्यवस्थापकाने कृषिके साथ माल लाने ले जानेका वाणिज्यका काम जोड दिया।

वणिकको ही बजारा कहते है। अिस प्रवृत्तिसे किसान और बैल दोनोको साल भरका काम मिलता है और देशान्तर यात्रासे किसानके ज्ञानमें वृद्धि होती है। अुस जमानेमें कृषि, गौरक्ष्य और वाणिज्य तीनो प्रवृत्तिया अेकसाथ ही चल सकती थी और अविभाज्य थी।

वेदमें सामान्य मनुष्यको विश या वश्य कहा है। ब्राह्मण-क्षत्रिय विशिष्ट वर्ण थे। शूद्र वर्ण सस्कारक्षम नहा था। बाकीका सारी जनता वैश्य वर्णमें शुमार हाती थी।

चक्रम् [३–१६]

चक्र = यज्ञचक्र प्रवृत्तिचक्र, जीवनचक्र। देखिये 'यज्ञ'।

चलितमानस [६–३७]

समत्वरूपी योगको धारण करना योगयुक्त होकर जीना आसान बात नही है, वह तो मदारीके रस्सी पर चलनेके खेलके समान है। तनिक

भी असावधानी हुअी गफलत हुअी तो मनुष्य स्थानभ्रष्ट हो जाता है गिर जाता है। मनका स्वभाव ही तो चचल है। अुसे अेकाग्र करना ही योगका मुख्य काम है। गीतामें अर्जुनने श्रीकृष्णसे पूछा कि अगर कोअी मनुष्य श्रद्धावान तो है किन्तु प्रयत्नमें बडा ही शिथिल होनेके कारण अुसने योग-ससिद्धि प्राप्त नही की हो योगसे अुसका मन विचलित हुआ हो तो असे मनुष्यकी क्या गति होगी? अुभयभ्रष्ट होकर अुसका नाश तो नही होगा? तब भगवानने जवाब दिया कि जिस किसीने कल्याण मार्गका अवलम्बन किया अुसकी कभी भी दुर्गति नही होती। जिसका मानस (मन) चलित हुआ अुसे चलित-मानस अथवा भ्रष्टस्मृति कहते ह।

चातुर्वर्ण्यम

गुणकर्मविभाग शब्द देखिये।

चित्तम [६–१८ २०, १२–९], **चेतस**

√चित (सज्ञान) समझना मनमें लाना। जिसके साथ गीता पदार्थकोश में जहा जहा चेतस् शब्द आया है वहा भी देख लीजिये। अन्त करणके चार विभाग अथवा पहलू कहे जाते ह। जिसमें सकल्प विकल्प अुठते ह अुसे **मन** कहते ह। जिसमें पदार्थका निश्चय होता है अुसे **बुद्धि** कहते ह। मैं हू असा जिसमें प्रत्यय है अुसे अहकार कहते ह और जिसमें अपने अिष्टका चिन्तन या स्वार्थका अनुसधान होता है अुसे **चित्त** कहते ह। **विवेकप्रवृत्ति चित्तम।** **स्मरण चित्तस्य विषय।** **चित्त अनुसधानविषय।** असली चीज अन्त करण तो अेक ही है। अुसके भिन्न भिन्न व्यापारके अनुसार अुसे भिन्न भिन्न नाम दिये जाते ह। चित्त शब्दका व्यवहार योगशास्त्रमें विशेष होता है। चित्तमें जो वृत्तिया अुठती ह अुनका निरोध करनेको ही योग कहते ह। (१२–९)। चित्तके नियमनसे वासनाओ पर विजय प्राप्त की जाती है। अभ्यासके द्वारा चित्तकी समाधि साधी जाती है अुसके बाद आत्मदर्शन हो सकता है। साधक तो कहते ह **"चित्तमेव हि ससार।"** शान्तिवाचायन सब साधनाका सार बताया

है — चित्तरक्षा। अनका वचन है — 'चित्तरक्षाव्रत मुक्त्वा बहुभि किं मम व्रत ?'

साधकश्रेष्ठ सत तुकाराम कहते हं

अेक चित्त (मन) तुझ्या अवघ्या भाडवला। वाटिता तें तुला येअील कसें ?॥ म्हणूनि दृढ धरी पाडुरग। देहा लावी सग प्रारब्धाचा॥ आणिका सकल्पा नको गोवू मन। तरीच कारण साध्य होय॥"

अिसलिअे अनेक चित्त विभ्रात न होने हुअे चित्तको काबूमें लाकर यतचित्त (६–१९ ४–२१ ६–१०) अथवा अधिक विस्तारसे कहना हो तो यतचित्तेंद्रिय' होकर (६–१२) समचित्तत्वकी साधना करनी चाहिये (१३–९) और आखिरकार 'मच्चित्त (६–१४ १०–९) बनकर सतोष पाना चाहिये।

चैलाजिनकुशोत्तरम [६–११]

योगके लिअे या ध्यानके लिअे जब योगी बैठते ह तब अुहे बठनेक आसनका खूब खयाल रखना पडता है। जमीन गीली रही मील्वाली रही तो अुस पर दीर्घ काल तक अेक आसन पर बठनेसे शरीरको नुकसान होनेकी पूरी सम्भावना रहती है। अिसलिअे बताया है कि जमीन पर सबसे नीचे कुश घासका आसन लगाना चाहिये (अुसे विष्टर कहते ह)। अुस कुशासन पर अजिन अर्थात हिरणका चमडा रखते ह और अुसके अपर चैल यानी कपडा रखते है। असा आसन न तो बहुत अूचा रहना चाहिये और न बहुत नीचा। आसनका प्रयोजन ही स्थिरतापूवक आरामस बठनेके लिअे है (स्थिरसुखम् आसनम्)। (आसन,' शब्द भी देख लीजिये।)

छिन्नद्वैधा [५–२५], छिन्नसशय [१८–१०], ज्ञानसंछिन्नसशय [४–४१]

द्वैधका ही अय रूप है दुविधा। जब मन दो पक्षोंके बीच, दो सिद्धान्तोंके बीच डावाडोल होता है तब मनुष्य कहता है कि म दुविधामें पडा हू। मनुष्यके सामने अगर हर राज और हर क्षण कोअी कठिनाअी आती है तो वह अिस दुविधाकी ही। अर्जुन कहता है कि दुविधामें पडे

हुअेका बाम्लाकी तरह नाश होता है (६–३८)। जिसकी दुविधा टूट गयी है वह सचमुच धन्य है। अिस दुविधाको ही संशय कहते हैं हालांकि दोनोंमें कुछ फर्क है।

संशय ज्ञानके क्षेत्रमें अुठता है और दुविधा कर्मके यानी कर्तव्यके क्षेत्रमें। द्वंद्व और द्वैत अेक नहीं हैं, हालांकि कई लोग द्वंद्वका भी अर्थ द्वैतके जैसा करते हैं। ऋषि लोग अिस दुनियामें रहकर पक्षपात रहित सबके हितमें रत रहते हैं, स्वयं निःस्पृह रहते हैं और दुनियाका तनिक भी मोह न रखते हुअे ब्रह्मके चिन्तनमें लगे रहते हैं। असोंके मनमें न कोअी संशय अुठता है और न कर्तव्यका पालन करते कोअी दुविधा पैदा होती है। भिद्यते हृदयग्रंथिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।

संशय अज्ञानसे अुत्पन्न होता है। अुसको ज्ञानरूपी तलवारसे छेद करनेसे ही योग साध्य होता है (४–४२)।

जगत [७–५, १३, ९–४, १०, १०–४२, ११–७, १३, १५–१२, १६–२]

√गम् (गतौ) जाना। जो जाता है स्थिर नहीं रहता है या अखण्ड परिवर्तनशील है, वह है जगत्। अिस दुनियाको जगत कहते हैं। जगत्के बाह्य और आंतर असे दो विभाग किये जाते हैं। तथा बाह्य जगत्के स्थावर और जंगम असे विभाग किये जाते हैं। जगत जैसा दिखता है वैसा सचमुच नहीं है अिसलिअे वैज्ञानिक अुसे मायारूप (Mysterious) कहते हैं। वह भासमान है अिसलिअे वेदान्ती भी अुसे मायारूप (Illusory) कहते हैं।

जगती अथवा जगत् शब्द अपने पूरे अर्थमें अीशावास्य अुपनिषदके पहले श्लोकमें आया है।

जनसंसदि [१३–१०]

ज्ञानकी व्याख्या करते हुअे भगवानने ज्ञान-साधन रूप महत्त्वके गुण बताये हैं। जिन गुणोंमें 'विविक्त देश-सेवित्वम्' और 'जन-संसदि अरतिः' ये दो बताये हैं। दोनोंका भाव अेक ही है। अेकान्त स्थलका सेवन करनेकी वृत्ति और प्राकृत जन-समुदायमें बैठनेके प्रति अरुचि अेक ही

वत्तिके दो पहलू ह। जिनके मनमें जीवनकी गहराओका काओी खयाल नही, जो आत्म-अुद्धारके बारेमें अुदासीन है और जिनकी सस्कारिता नाममात्र है वे सब प्राकृत लोग ह। असे लोगोकी बठकमें समय व्यतीत करनेसे मनुष्यका चिन्तन छिछला हो जाता है अुन्नतिका आग्रह शिथिल होता है और काओी पाप या दुराचार किये बिना भी वह नीचे गिरता है। प्राकृत हास्य विनोद करनेके लिअे जो मण्डली अिकट्ठी होती है अुसके लिअे पुराना शब्द है समाज। सम्राट अशोकने अपने शिलालेखोंमें असे समाजोका तिरस्कार किया है। क्योंकि जब समाज नीचे गिरता है तब अुसका प्रारम्भ असे 'समाज' अथवा 'जनससद' में होता है। (अरतिजनसंसदि शब्द देखिये।)

जन्मबन्धविनिर्मुक्ता [२-५१]

जन्मरूपी बन्धनसे मुक्त। फिरसे जन्म देनेवाले बन्धनसे मुक्त। मरणके द्वारा हम अेक जन्मकी झझटसे तो मुक्त होते हैं किन्तु जीवन भर जिन तरह तरहकी वासनाओंके हम शिकार बनते ह वे सब हमें फिरसे नये जन्मके बन्धनमें डाल देती ह और फिर तो नये जन्मके साथ नये मरणकी तयारी रखनी ही पडती है। अगर ठीक तौर पर सोचा जाय तो मरण काओी डरनेकी चीज नही है। डरनेकी असली चीज है जन्म। अिसलिअे सन्तोंने कहा है कि साधो असे मरो कि बार बार मरना न पडे। सकल्प काओी मामूली चीज नही है। वह सर्वसमर्थ शक्ति है। वासनाके फदेमें फसकर काओी अेक सकल्प करनेकी भूल की तो फिर अुसे किसी न किसी रूपमें (और जिन हम नही चाहते ह असे स्थल काल और रूपमें) सिद्ध होना ही पडता है। अिसीलिअे गीतामें जन्म बन्धनसे मुक्त होनेके कर्तव्य पर अितना जोर दिया है। अनासक्तिसे कर्मफलको छोड देने पर ही बुद्धिमान पुरुष जन्म-बन्धनसे पूर्णतया मुक्त होता है।

जपयज्ञ [१०-२५]

जप शब्दका अर्थ सब जानते ही ह। किसी मन्त्रका या सकल्पका बुद्धि-पूर्वक हृदयसे रटन करना जप है। जपके द्वारा सकल्प शक्ति

केन्द्रित हो सकती है। जपके द्वारा प्राकृतिक शक्तियोंको भी शान्त हो सकता है ऐसा जप-यज्ञियोंका दावा है। साधकके लिये सबसे उत्तम साधना है ध्यान। किन्तु जिन लोगोंमें ध्यान-शक्तिका अभाव ही नहीं हुआ है अथवा जिनकी ध्यान-शक्ति मन्द है अुनके लिये जपकी साधना लाभ बनाती है। आम जनताके लिये जप ही बड़ा विश्रामस्थान है। सिक्ख धर्ममें अिसी साधनाको सर्वोपरि स्थान देकर गुरुओंने निरंकारका — सिमरन अपनी सामाजिक अेक सुन्दर रूप दिया है।

गीताकी विशेषता यह है कि गीताने जपको भी यज्ञमें स्थान दिया है। अितना ही नहीं किन्तु भगवान अपनी श्रेष्ठ विभूतियोंका निर्देश करते हुअे कहते हैं कि यज्ञोंमें मैं जपयज्ञ हूँ। जपको यज्ञ अिसलिये कहा है कि जिस तरह यज्ञमें आहुति जलायी जाती है अुसी तरह जपके द्वारा मलिन वासना अथवा ध्येय विरोधी संकल्प जलाये जाते हैं।

कहनेकी जरूरत नहीं है कि सदाचारके बिना यन्त्रवत् किये हुअे जपका कोअी विशेष फल नहीं है। ग्रामोफोनके द्वारा बजाया हुआ मन्त्र-पाठ अथवा तोतेका नाम-स्मरण कभी आध्यात्मिक फल नहीं दे सकते। माला फिराना अथवा प्रार्थना चक्र पर मन्त्र लिखकर अुसे हाथसे घुमाना अित्यादि यान्त्रिक क्रियायें जप-यज्ञमें नहीं आ सकतीं।

जपके तीन प्रकार मन्त्रशास्त्रमें बताये हैं। सब लोग सुन सकें ऐसी आवाजसे मन्त्रका जप करना अच्छा नहीं माना गया है। लोगोंके सुननेसे जपका सामर्थ्य क्षीण होता है। (नाम-स्मरण जोरसे करना अच्छा है किन्तु वैसा जप अच्छा नहीं)। स्वयम् जप करे और स्वयम् ही सुन सके दूसरोंके कानों तक न पहुँचे असे जपको अुपांशु कहते हैं। अिसका फल मध्यम है। सबसे अच्छा जप वह है जिसमें बिना जीभ हिलाये मन ही मनमें मन्त्रके अक्षर अक्षरका स्पष्ट अुच्चारण करके चलाया जाता है। जाग्रत और अेकाग्र ध्यानके बिना यह जप चल ही नहीं सकता। मन अिधर अुधर गया तो जप रुक ही जाता है। अिस तीसरे और सर्वोच्च प्रकारके जपका फल श्रेष्ठ माना गया है। यज्ञोंमें जपयज्ञ श्रेष्ठ भले ही हो किन्तु साधनामें जप द्वारा की हुअी साधना प्राथमिक ही मानी जाती है।

जातिधर्मा [१–४३]

√जन् (जनप्रादुर्भावे) जन्म लेना। जन्मना जाति। कुल या खानदानको जाति कहते हैं अथवा जिन लोगोंमें जिन खानदानोंमें परस्पर शादी-ब्याह हो सकता है अुनकी अेक जाति होती है। सम्भव है कि प्राचीन कालमें अेक अेक अलग अलग अलिप्त सम्पूर्ण और स्वयम्पूर्ण समाज होता था। वर्णका असा नहीं है। वर्ण अेक विराट समाजका अवयव अथवा अंश होता है। अेक वर्णकी जनसंख्या चाहे कितनी ही बड़ी हो अुसे सम्पूर्ण समाज नहीं कह सकते हैं। जब सब वर्णोंका मिलकर परस्परावलम्बन और सहयोग होता है तब वह अेक समाज होता है। भारतवर्षमें अब वर्णके अर्थमें जाति और जातिके अर्थमें वर्णका व्यवहार होने लगा है। जातिका असली अर्थ है कुनबा Clan और Tribe छोटी छोटी Clan के लिअे गोत्र शब्द था। अनेक गोत्रोंके जीवन सहयोगसे ही जाति बनती थी। जातिमें हमेशा स्वराज्य-व्यवस्था होती है। अगर वर्णोंकी व्यवस्था चले तो वह धर्म-व्यवस्था होगी।

मनुष्य-स्वभावको देखनेसे अनुमान होता है कि सबसे पुरानी संस्था है कुल। अुसके साथ साथ गोत्र और जाति भी अुतनी ही पुरानी संस्था है। वर्ण-व्यवस्था अिनके बादकी है।

जिगीषताम् [१०–३८], जिजीविषाम् [२–६]

क्रियाके साथ अिच्छाका भाव लानेके लिअे अुनके सन्नन्त (desiderative) रूप बनाये जाते हैं। अुदा० ज्ञातुम् अिच्छा जिज्ञासा (६–४४, ७–१६)। अिसी तरह जिजीविषाका अर्थ होता है जीनेकी अिच्छा (will to live)।

यह सिद्ध होनेके बाद यानी जीनेका विश्वास हो जानेके बाद जीतनेकी अिच्छा — विजिगीषा (will to conquer) पैदा होती है। अपनी जान खतरेमें डालकर भी दूसरोंको परास्त करना यही जीवनका बड़ा रस हो जाता है। अिसमें केवल सामर्थ्यका प्रयोग नहीं रह सकता। शत्रुपक्षमें अनाचार, अधर्म, भेद और फूट पैदा किये

विना अुसे जीतना आसान नहीं होता। जो लोग विजिगीषु हैं व नीतिका यानी कूटनीतिका अवश्यमेव अवलम्ब करते हैं।

जितसंगदोषा [१५–५]

संग (सोहबत) को यानी आसक्तिको जिन्होंने दोषरूपमें पहिचाना है जितना ही नहीं किन्तु अपनी अनासक्त वृत्तिसे जिन्होंने अुस औब लिया है परास्त किया है काट दिया है अुन्हें जितसंगदोष कहते हैं। जिस किसी चीजका या व्यक्तिका हम आसक्तिसे ध्यान करते हैं अुनका संग हमें लग ही जाता है (ध्यायतो विषयान् पुंस संगस्तेषु अुपजायते)। विषयोंका संयोग टाल देना ही सबसे अच्छी बात है। किन्तु वह तो हमेशा हो नहीं सकता। जिन्दगीमें संयोग और वियोग बहुत दफ दवाधीन होते हैं, किन्तु अुनके साथ राग-द्वेष रखना या नहीं रखना हमारे हाथकी बात है। अिसीलिअ धर्मशास्त्रोंमें सम्पर्क त्याग पर जोर न देकर अनासक्ति पर भार दिया है। दुनियाके प्राकृत लोग संगके कारण परेशान होते हुअ भी संगको दोष रूप नहीं देख सकते। जो कम या अधिक ज्ञानी हैं वे संगदोषको पहचानते तो हैं किन्तु अिंद्रिय-ग्राम और वासनाअें अपने बलके कारण अुन्हें अपने जालमें फंसाती ही हैं। जिसने संग-दोषको जीता है वही महावीर है वही अव्यय पद प्राप्त करता है।

जितेंद्रिय [५–७], **जितात्मा** [६–६, ७ १८–४९]

गीताके पाचवें अध्यायके सातवें श्लोकमें विशुद्धात्मा विजितात्मा और जितेंद्रिय ये तीनों शब्द अेक स्थान पर आये हैं। श्री शंकराचार्यने विशुद्धात्माका अर्थ किया है विशुद्ध-सत्त्व यानी जिसका सत्त्व अर्थात् चारित्र्य शुद्ध हुआ है विजितात्माका अर्थ किया है विजित देह (शरीरके अर्थमें आत्मा शब्द आता ही है) अिसके बाद जितेंद्रियका अर्थ होता है जिसने अपनी अिंद्रियोंकी प्रवृत्तिके अूपर काबू प्राप्त किया है। अिंद्रिय-ग्राम बलवान होता है किन्तु युक्तिसे अुस पर विजय प्राप्त की जाती है। केवल विद्वत्तासे नहीं किन्तु संकल्प-शुद्धिसे दृढ निश्चयसे और आत्मौपम्य दृष्टिसे।

जितात्मा (१८–४९) का अर्थ है असा मनुष्य जिसने अपना अन्तःकरण जीत लिया है। आत्माको जीतनेका तो सवाल ही नहीं अुठता है। वह स्वयम् स्वतंत्र और सत्य-संकल्प है। अन्तःकरणको जीतनेसे आत्माकी सब शक्ति प्रगट होती है। अन्तःकरणको जीतनेसे बुद्धि अनासक्त बनती है लोभ दूर होता है और कर्मका बन्धन नष्ट होता है। गीतामें (६–७) भी आत्माका अर्थ मन अित्यादिका संघातरूप शरीर ही है। अिसके अूपरके श्लोकमें भी वही अर्थ है।

कठ अुपनिषदमें 'निरिंद्रिय' शब्द आया है। जिसकी अिंद्रिय-शक्ति ही क्षीण हो गयी है अिच्छा होते हुअे भी जो अिंद्रियोंसे अुनका काम नहीं ले सकता वह 'निरिंद्रिय' है। निरिंद्रिय होना दुर्दैव ही है। विलास अथवा अति विषय-सेवनसे अिंद्रियां क्षीण होती हैं। वार्धक्यके कारण भी अिंद्रियां क्षीण होती हैं। अिसमें कोअी आध्यात्मिक प्रगति नहीं होती। जितेंद्रिय वह है जिसने अिंद्रियोंको शक्ति होते हुअे भी शुद्ध वशमें किया है। असे मनुष्योंकी अिंद्रिय शक्ति पूर्ण रूपसे खिली हुअी रहती है तो भी वे अुनकी अिच्छाके विरुद्ध जोर नहीं कर सकतीं।

विश्व विजयकी अपेक्षा अिंद्रिय विजय श्रेष्ठ है। अिसीलिअे भर्तृहरिने प्रश्नोत्तरके रूपमें कहा— कः शूरः ? विजितेंद्रियः।

मनुस्मृतिमें कहा है

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेंद्रियः ॥ (२–९८)

जीवभूत [१५–७], जीवभूताम् [७–५]

आत्मामें और परमात्मामें तत्त्वतः भेद नहीं है। परमात्मा ही जब अंशरूपसे शरीरके साथ सम्बद्ध होता है और अपनेको कर्ता और भोक्ता मान लेता है तब संसारमें वह जीवरूप बन जाता है। अुसे जीव कहते हैं। जो शिव था वह जीव हो गया, जो मुक्त था वह बद्ध हो गया जो स्वतंत्र था वह परतंत्र हो गया।

अिन बन्धनोंको तोड़ कर फिर अपनी असली स्थितिको प्राप्त करना ही मोक्ष है।

प्रकृतिमें भी परा और अपरा असे दो भेद होते हैं। अिन्द्रियगम्य बाह्य जगत् तो अपरा प्रकृति है और अुस जगतको धारण करनेवाली जो दूसरी प्रकृति है अुसे परा कहते हैं। अुसे जीवभूता कहा है क्योंकि वह भूतोंको सजीव करती है।

ज्ञानचक्षु [१३–३४ १५–१०] **ज्ञानदीप** [४–२७, १०–११], **ज्ञानप्लव** [४–३६], **ज्ञानासि** [४–४२], **ज्ञानाग्नि** [४–१९, ३७]

अिन सब शब्दोंके अर्थके लिअे ज्ञाननिर्धूतकल्मष देखिये।

ज्ञानतपसा [४–१०]

तपस वह प्रवृत्ति है जिसके द्वारा हमारे दोष जल जाते हैं और हमारी कार्य-शक्ति असाधारण बढ जाती है। तपका अर्थ ताप भी होता है। जिस तरह अग्निके तापसे सुवर्ण शुद्ध होता है अुसी तरह तपके द्वारा मनुष्य-जीवन निष्पाप होता है और क्षीण हुअी शक्तियां फिरसे सतेज होती हैं। मनुने कहा है "जो कार्य करना मुश्किल है प्राप्त करना कठिन है वह सब तपके द्वारा प्राप्त होता है। तपका पराभव कोअी नहीं कर सकता।

यद् दुस्तरं यद् दुरापं यद् दुर्गं यच्च दुष्करम्।
सर्वं तु तपसा साध्यं, तपो हि दुरतिक्रमम्॥ (११–२३८)

अपने तेजके द्वारा दोष दूर करनेकी और सामर्थ्य बढानेकी शक्ति ज्ञानकी है। अिस वास्ते ज्ञान प्राप्तिके लिअे जो कुछ भी कष्ट अुठाया जाता है वह श्रेष्ठ तप है। ज्ञान प्राप्तिके लिअे जो कुछ भी साधना करनी पडती है वह सब तप ही है। गीतामें ज्ञानकी जो व्याख्या दी है (१३–७ से ११ तक) वह सचमुच ज्ञानकी साधना अथवा ज्ञान-तपस् ही है। जो कोअी भगवानके समान निष्पाप है अुसके लिअे ज्ञानका स्मरण करना ही तपस्या है (यस्य ज्ञानमयं तपः)। (मुण्डक १–१–९) भगवान स्वयं तो ज्ञानरूप ही हैं। अुनके लिअे तप तपनेका सवाल ही नहीं अुठता।

अुपनिषदमें जगह जगह आता है "स तपस तप्त्वा व्यजानात" अर्थात अुसने तप तपकर ज्ञान प्राप्त किया। शंकराचार्यने ज्ञानतपसा का अर्थ किया है — ज्ञानम अेव च परमात्म विषयम तप तेन ज्ञानतपसा पूता परा शुद्धिम गता।

जो लोग पूर्णतया ज्ञाननिष्ठ होते हैं अुनके लिअे और तपस्याकी अपेक्षा नहीं होती।

सामान्य लोगोंके लिअे अेक ओर दोषक्षयके लिअे तपस्या और दूसरी ओर अज्ञान दूर करनेके लिअे जिज्ञासा असी द्विविध साधना बताअी है। ज्ञान और तप दोनोंके बलसे मनुष्य अपनेको शुद्ध बना सकता है।

ज्ञाननिर्धूतकल्मषा [५–१७]

ज्ञानके द्वारा जिनके कल्मष यानी पाप धुल गये हैं अैसे लोग। अीश्वर-परायण होनेसे वे मोक्षको पहुंचते हैं।

ज्ञानकी यह शक्ति देख कर ज्ञानको दोष जलानेवाली अग्निकी अंधकारको हटानेवाले दीपकी और अज्ञानरूपी दुश्मनको काटनेवाली असि यानी तलवारकी अुपमा दी है। पाप प्रवाह तर जानेके लिअे यह समर्थ नौका है। और फिर ज्ञानको पाप धानेका जल भी कहा है। ज्ञान चक्षु भी है, क्योंकि वह सब कुछ दिखाता है। तप योग और यज्ञके साथ ज्ञानका सम्बन्ध अकाट्य है।

ज्ञानयज्ञ [४–३३, ९–१५, १८–७०]

ज्ञानयज्ञको समझनेके लिअे ज्ञान और यज्ञ अिन दोनों शब्दोंका विवरण प्रथम पढ़ लेना चाहिये। यज्ञ दो प्रकारके होते हैं द्रव्यमय यज्ञ और ज्ञानयज्ञ। पहलेमें द्रव्यरूपी साधन अुपलब्ध होने पर ही यज्ञ हो सकता है। वह यज्ञ जन्म-कर्म-फलका प्रारम्भ करता है। ज्ञानयज्ञमें यह दोष नहीं है। ज्ञानयज्ञमें बाकीके सब यज्ञोंका अन्तर्भाव है।

अिस विश्वका विश्वके नियमका, और अन्तरात्माका रहस्य ढूंढ़ना अुस रहस्यका संग्रह और वितरण करना अुस रहस्यके अनुसार

जीवनमें परिवर्तन करना और अुसका स्मरण अखण्ड रखकर तद्रूप हो जाना यह सब ज्ञानयज्ञ है। ज्ञानयज्ञका मानस-रूप भी यही है।

गीताशास्त्रका अध्ययन, अध्यापन, अनुसरण और आचरण शुद्ध ज्ञानयज्ञ है।

ज्ञानयोग-व्यवस्थिति [१६–१]

यहां पर व्यवस्थितिका अर्थ देखना है। व्यवस्थिति यानी व्यवस्थान, व्यवस्था स्थिरता निष्ठा, निश्चय, मजबूती।

ज्ञान और योग दोनोंके प्रति निष्ठा असा भी अिसका अर्थ हो सकता है।

योगका अर्थ तो कर्मयोग ही करना चाहिये, हालांकि श्री शंकराचार्य यहां योगका अर्थ करते हैं 'अिन्द्रियादिके निग्रहसे अेकाग्रता प्राप्त करके अपनी आत्मामें ज्ञानका विषय होनेवाले आत्मादि सब पदार्थोंको प्रत्यक्ष अनुभव कर लेना योग है।' अिस अर्थमें योग गीताका विज्ञान बन जाता है (३–४१) जहां पर ज्ञान यानी शास्त्रत आचार्यतः च, आत्मादीनाम अवबोध। और विज्ञान यानी विशेषतः तद् अनुभव।

व्यवस्थितिका अर्थ निष्ठा करनेसे ज्ञान और कर्म दोनोंके प्रति मनमें निष्ठा रखनेकी बात आती है। किन्तु व्यवस्थितिका अर्थ व्यवस्था करनेसे ज्ञानयोग-व्यवस्थितिका अर्थ होता है 'जीवनमें ज्ञानका और कर्मका योग्य अनुसंधान सभालनेकी वृत्ति। ज्ञानके अनुसार कर्म हो। कर्मानुकूल ज्ञान हो और दोनोंके द्वारा जीवन शुद्ध, समृद्ध और अुद्दीपित हो तभी कह सकते हैं कि ज्ञानयोग-व्यवस्थिति सिद्ध हुआ है।

ज्ञानयोग [३–३]

ज्ञान और योग अिन दोनों शब्दोंका विवरण पहले देख लीजिये। साथ साथ अूपर 'ज्ञानयोग-व्यवस्थिति' भी देख लीजिये (१६–१)।

ज्ञानकी प्राप्तिमें अथवा ज्ञानके अनुभवमें दो अन्तराय होते हैं। अज्ञान और पाप। अिन दोनोंका नाश करनेसे ही ज्ञानकी सिद्धि प्राप्त होती है।

या देखा जाय तो नान-योग, कम-योग, भक्ति-योग और घ्यान-योग ये सब तत्त्वत अेक ही ह। अेक ही जीवन-साधनाके भिन्न भिन्न पहलू ह। सच्चे नानके बिना भक्तिका रास्ता साफ नही होता है। कमयोगके बिना ज्ञानकी प्राप्ति कठिन है। निष्ठा या भक्तिके बिना कमयोगमें प्रवृत्ति हो नही सकती। घ्यानके बिना न निष्ठा आती है न कम-कौशल्य प्राप्त होता है। अिस तरह साधनाके ये सब प्रकार परस्परावलम्बी ह। अितना ही नही किन्तु अेक-दूसरेके अन्दर अन्तर्भूत ह।

तब भी ज्ञान ही अिनमें प्रधान है। आत्मा और अनात्मा अिन दोनाका भेद समझे बिना आत्मनिष्ठा प्राप्त नही होती। आत्म-निष्ठाके बिना मोक्षकी प्राप्ति असम्भव है। (अयम हि परमो धम यद्योगेन आत्मदशनम। याज्ञवल्क्य १–८) अिस सारे अनुभवसे ही कहा गया है — अते ज्ञानात न मुक्ति।

बुद्धिके प्रयोगसे प्रथम सत्यका ज्ञान होता है। जिस बुद्धिकी शुद्धिके लिअे भी कम आवश्यक है और ज्ञानके बुद्धिगम्य होनेके बाद अुसे जीवनव्यापी करनेके लिअे अर्थात नानका साक्षात्कार करनेके लिअे भी कमकी आवश्यकता है। नानका साक्षात्कार होने पर कुछ भी करनेका बाकी नही रहता तो भी दोषमुक्त ज्ञानीके स्वभावमें ही कमकारिता रहती है। किन्तु अुस नानोत्तर कमको हम कम कहे या अकम, बात अेक ही होती है।

वह कम कतव्य रूप भी नही होता और किसी भी तरह बधन भी नही पदा करता।

ज्ञान सविज्ञानम् [६–८, ७–२, ९–१]

नान है शास्त्रोंके अध्ययनसे प्राप्त हुआ बुद्धिगम्य अवबोध और विनान है अुसी अवबोधका स्वानुभवकरण अथवा साक्षात्कार। नानके द्वारा मनुष्य पडित बनता है कमकुशल भी बनता है। विनानके द्वारा वह नानके साथ अेकरूप होता है, और समाधानका तृप्तिका अनुभव भी करता है। अिसी सिलसिलेमें 'नानयोग-व्यवस्थिति शब्द भी देखिये।

ज्ञानसंग [१४–६]

मनुष्य त्रिगुणमें फंसा हुआ साधनाके सत्त्वगुणमें स्थिर हो जाता है, किंतु गीता कहती है कि सत्त्वमें स्थिर होनेके बाद और भी आगे बढ़ना है। तीनों गुणोंके परे जाकर ही ठहरना है। तभी मनुष्य निःसंग हो सकता है। सत्त्वगुण अुन्नतिशील अवश्य है, किन्तु अुससे सुखके साथ और ज्ञानके साथ आसक्ति बन जाती है। त्रिगुणातीत पुरुष सुखदुःखसे अलिप्त रहता है। ज्ञानको हजम करनेके कारण ज्ञानका भार और ज्ञानकी आसक्ति दोनोंको वह छोड़ देता है। ज्ञानसंग सत्त्व-सम्पन्नोंकी आखिरी कमजोरी रहती है।

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम् [४–१९]

ज्ञानरूपी अग्निसे जिसके कर्म जल गये हैं। प्रत्यक्ष कर्म तो जल नहीं जाते लेकिन कर्मोंके कारण जो बंधन पैदा होते हैं अुनका बीज जल जाता है। कर्म करते हुअे भी कर्मकी बाधा नहीं होती। दग्ध होना = निर्बीज होना।

ज्ञानी [२–३९, ४–३४, ६–४६, ७–१६, १७, १८,]

गीतामें ज्ञानी शब्दका अर्थ दो तरह आया है। (१) ज्ञान जिसे बुद्धिगम्य हुआ है और (२) जो तत्त्वदर्शी है (४–३४)। चार भक्तोंमें ज्ञानी सबसे श्रेष्ठ है क्योंकि वह भगवत-तत्त्वको पूर्णतया जानता है। भगवान यहां तक कहते हैं कि ज्ञानी मुझसे अलग नहीं है ज्ञानी मेरी आत्मा ही है।

ज्ञेयम् [१३–१२ से १८ तक, १८–१८], ज्ञानगम्यम [१३–१७]

ज्ञेय यानी जानने लायक ज्ञानका विषय। तात्त्विक चर्चामें ज्ञान ज्ञाता और ज्ञेय असी त्रिपुटीका वर्णन आता है। जिस वस्तुको हम जाननेकी कोशिश करते हैं वह ज्ञेय है। जाननेवाले हम ज्ञाता हैं। जाननेकी क्रियाको भी हम ज्ञान कहते हैं और अुस क्रियाके फल-स्वरूप हमें जो बोध होता है जो जानकारी हासिल होती है अुसे भी ज्ञान कहते हैं।

नानका क्षेत्र विश्वके समान व्यापक मनुष्यके मनके समान गहरा और कालके समान अनन्त है। जैसी यह ज्ञानकी शक्ति अपने दाहुमें जिसे पकडना चाहती है अुस ज्ञेयका स्वरूप क्या होगा? अुसम क्या क्या आ सकता है? यह तो गीता ही कह सकेगी। ज्ञेयमें क्या क्या नहीं आ सकता यह खोजना भी मुश्किल है।

गीताने १३ वें अध्यायमें ज्ञेयका वर्णन करते परम बृहत् परब्रह्मका ही वर्णन किया है। परब्रह्मका विराट पुरुषका-सा वर्णन करते गीता कहती है कि अुसके हाथ-पाव, आंख-कान और शीश-मुख सब ओर है। सब अिंद्रियोंसे अलिप्त रहते हुअे भी सब अिंद्रियोंके गुण अुसमें पाये जाते हैं। वह स्थावर भी है जगम भी है, नजदीक भी है दूर भी है भूतोंके बाहर भी है अन्दर भी है, अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे वह समझमें नहा आता और सबका आवरण करके खडा है अिसलिअे भी अुसका ध्यानमें आना कठिन है न अुसका आदि है न अन्त। और आश्चर्य यह है कि अुसे हम न सत कह सकते ह न असत, वह अंधकारके परे है—ज्योतिकी भी ज्योति है। अेक होते हुअे भी अनेक आकार धारण करता है। अविभक्त होते हुअे भी सर्वत्र विभक्त-सा दिख पडता है भूतोंका आधार भी वही है और अुनका ग्रास भी वही करता है। तथा फिरसे अुन्हें पैदा भी करता है।

व्यवहारके ज्ञानमें ज्ञाता ज्ञेय और ज्ञानका भेद दिख पडता है किन्तु यह परब्रह्म सभीके हृदयमें रहकर ज्ञाता, ज्ञेय ज्ञान सब स्वयम् ही बनता है। असे अद्भुत ज्ञेयको जानकर मनुष्य अमृतत्व प्राप्त करता है परमात्माको पाता है।

ज्वर (विगतज्वर) [३–३०]

√ज्वर् (रोगे) = बुखार आना।

ज्वर—शारीरिक या मानसिक ताप, बुखार, अुत्तेजना दुःख। गाधीजीका कहना है कि व्यवहारमें जिसे युद्ध कहते हैं जिसमें शत्रुको शस्त्रसे मारनेकी बात होती है असा युद्ध क्रोधी द्वेष हिंसा आदि ज्वरके बिना कर ही नहीं सकता। विगतज्वर युद्ध तो अेक रूपकमात्र है। अपनी दुर्वासनाओंके खिलाफ जो युद्ध चलाना पडता है वही

विगन-वर स्थितिमें शक्य है। संताप, शाक आदि अुत्तेजनाको ही ज्वर कहा है।

ततम [२–१७, ८–२२, ९–४, ११–३८, १८–४६]

√तन (विस्तारे) खींचना तानना। भगवान स्वयम् अिस अखिल विश्वमें अपनेको फैलाकर अुसका विस्तार कर रहे ह। जो चीज काल तत्त्वमें फैलाअी हुअी रहती है अुसे सततम कहते ह। हर चीजके साथ दिक और काल दोनों तत्त्व बंधे ह। कोअी भी दुनियवी वस्तु कालनिरपेक्ष नहीं है जिसलिअे नव्य तत्त्वज्ञ वस्तुको सततम' (Continuum) कहते ह। लम्बाअी चौडाअी गहराअी और कालिकता य चार तत्त्व (dimensions) मिलकर सततम् बनता है। सततम् अिन चार तरहसे खींचा हुआ तना हुआ रहता है।

तत्त्वम [१८–१], तत्त्ववित [३–२८ ५–८], तत्त्वदर्शी [२–१६, ४–३४], तत्त्वज्ञान [१३–११]

संस्कृतमें तत अक सर्वनाम है। अुसका अर्थ ब्रह्म भी होता है। "तत्त्वम असि" अिस महावाक्यमें तत् का अर्थ होता है परब्रह्म (तुम ही वह हो)।

किसी वस्तुका विचार करते समय अगर हम अुसका रंग रूप गंध आकार वजन संख्या आदि सब गुण अकके बाद अक निकाल देंगे तो शेष क्या रहेगा? हम नहीं कह सकते कि बाकी शून्य ही रहेगा। आकार वजन स्पर्श आदि सब गुण ह जिसके आधार पर ये गुण रहते ह वह तो वस्तु है। सब गुणोंको हटानेके बाद जो केवल 'वस्तु' रह जाती है अुसे जर्मन फिलसूफ कैंटने Thing-in itself कहा है। अुसीको हम तत्त्व कह सकते ह। तत् यानी वस्तुका भाव अथवा रहस्य ही तत्त्व है। अुसीको तत्-त्व (Thatness) कहते ह हर चीजका बाह्य रूप अलग होता है। बाह्य रूप भ्रामक भी हो सकता है। वस्तुका सच्चा रहस्य आन्तरिक ही होता है। अिस सच्चे स्वरूपको अथवा रहस्यको तत्त्व कहते हैं। बाहरी गुणोंके ज्ञानको पदार्थविज्ञान कहते ह आन्तरिक रहस्यका तत्त्वज्ञान कहते ह। अक है Physics दूसरा है अुसके बाद

आनेवाला Metaphysics। अिस तत्त्वको ही देखनेकी, पकडनेकी और अुसीका महत्त्व स्वीकार करनेकी जिसकी दृष्टि और वृत्ति है अुसे तत्त्व-ज्ञानी अथवा तत्त्वदर्शी कहते हैं। तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे जब सोचा जाता है तब कहते हैं कि अिसका तत्त्वत विचार हुआ है।

तत्त्वत सोचनेके भी अनेक पहलू होते हैं। अेक अेक पहलूको या दृष्टिको दर्शन कहा जाता है, जैसे चार्वाक-दर्शन सांख्य-दर्शन, वेदान्त-दर्शन, योग-दर्शन, साम्यवादी दर्शन अित्यादि अनेक दर्शन हैं। हरअेक दर्शन जीवनके तमाम पहलुओंका कुछ न कुछ अर्थ करता है और रहस्य बताता है। ये सब तत्त्वज्ञानके प्रकार हैं।

हीरा और कोयला तत्त्वत कार्बन ही हैं, दोनोंमें तत्त्वत तनिक भी फर्क नहीं है। किन्तु बाजारमें दोनोंकी कीमत अेकसी नहीं हो सकती। अिसलिअे तत्त्वत सोचनेके साथ व्यवहारत भी सोचना पडता है। किन्तु जहां जैसा भेद करना आवश्यक नहीं है अथवा हानिकारक है वहां पर भी लोग तात्त्विक दृष्टिकी अुपेक्षा करते हैं और व्यवहारकी दृष्टिसे सोचकर मानवी प्रगतिको रोकते हैं।

सदभावभावित [८–६]

मानसशास्त्रका यह प्रश्न है कि अन्तकालके समय मनुष्यके मनमें जो खयाल अुठता है वह यदृच्छासे अुठता है या सारे जीवनके चिन्तनका वासनाका और ध्यानका निचोड होता है? मनुष्य अगर अेकाअेक किसी अपघातसे मरे दुर्घटनाका शिकार हो जाय तो बात दूसरी है। किन्तु अगर मृत्युके समय अेकाग्रतासे सोचनेका तनिक भी अवकाश मिले तो जीवके साथ कायाका विच्छेद होते समय वही विचार प्रधानतया मनमें आना चाहिये जिसका अुसने अुत्कटतासे ध्यान मनन किया हो। जिस देवताकी मनुष्यने अुपासना की होगी अुसीका अुसे अन्तिम क्षण दर्शन होना चाहिये और अुसीके साथ अुसीकी ओर वह निश्चय जायगा।

'यो यच्छ्रद्ध स अेव स' (१७–३) और 'अन्ते मति सा गति' ये दो वचन अिस सिलसिलेमें ध्यानमें रखने लायक हैं।

मनुष्य जिस भावकी सदा भावना करता है अुसीके भावसे भावित होकर, अुसीका स्मरण करते हुअे जब यह शरीर छोडता है तब

अुसीके प्रति वह जाता है (८–६)। अर्थात् मृत्युके समय भगवानका स्मरण करके अगर मनुष्य प्राण छोडता है तो निःसंशय वह भगवत् भावको ही पहुचता है यानी वैष्णव तत्त्वको प्राप्त होता है (१८–५)।

तद्विद [१३–१]

जिसका शब्दार्थ होता है अुसे जाननेवाला। गीताके अिस श्लोकमें तदविद्का अर्थ होता है क्षत्रविद् अथवा शरीरविद्। अिसी अध्यायके ५ वें और ६ ठे अिन दो श्लोकोंमें क्षत्रकी जो व्याख्या दी है अुस परसे स्पष्ट होता है कि सचेतन शरीरको ही यहा क्षत्र कहा है पंचमहाभूतात्मक बाह्य सृष्टि मनोमय अन्त सृष्टि सुख-दु खादि विकार अिन सबको अेकत्र करके अुसे क्षत्र कहा है। अिन सबका जिसे ज्ञान है वही क्षेत्रज्ञ है। क्षत्र और क्षेत्रज्ञ दोनोंका रहस्य जो जानते हैं वे ही तदविद् हैं। अुन्हे हम सवज्ञ भी कह सकते हैं।

आजकल किसी भी अेक विषयमें जिसने प्रावीण्य हासिल किया है अुसे expert को तदविद कहने लगे हैं। तज्ज्ञ की अपेक्षा तद्विद् शब्द अुच्चारण सुलभ है।

तप [४–१०, २८, ७–९, १०–५ १६–१, १७–५ ७ १४ १५ १६, १७, १८, १९, २४, २५, २८, १८–३, ५ ४२]

√तप (सन्तापे अन्वर्ये) गरम होना गरम करना प्रकाशना समर्थ बनना राज्य करना।

सब प्रकारकी शक्तियां बढानेके लिअ प्रयोजनपूर्वक परिश्रम अुठानेको तप कहते हैं। जिस तपके पीछे कोअी प्रयोजन नहीं है अैसे तमोगुणी तपको अलिंग तप कहा है। अैसे तपसे अिष्ट प्राप्ति नहीं होती।

मनुस्मृतिमें तपके बारेमें कहा है

यद् दुस्तरम् यद् दुरापम् यद् दुर्गम्, यच्च दुष्करम्।
तत् सर्व तपसा साध्यम्, तपो हि दुरतिक्रमम्॥ (११–२३८)

जो कुछ भी पार करना पाना पहुचना या करना अत्यन्त कठिन हो वह भी तपके द्वारा सिद्ध हो जाता है। सचमुच तपको अतिक्रम करना कठिन है। तपश्चर्याको कोअी मात नहीं कर सकता।

जब कोअी व्यक्ति, समाज या संस्था विफलताके द्वारा अथवा आलस्य और अज्ञानके द्वारा क्षीणवीर्य बनती है तब अुसे चाहिये कि वह संयम परिश्रम ज्ञानोपासना और सामर्थ्य बढावे।

अिसीलिअे भगवानने कहा है कि यज्ञ दान और तप कोअी छोड नहीं सकता। तमाम जीवन शक्ति अिन तीनों पर निर्भर है।

तपका महत्त्व अितना है कि गीताने अपने गुण-संख्यान योगमें छह श्लोक देकर तपको दो तरहसे समझाया है। शारीरिक वाचिक और मानसिक तपको समझाकर अिन तीनोंके सात्त्विक राजसिक और तामसिक अस प्रकार भी बताये हैं।

अिनमें शौच ब्रह्मचर्य, अहिंसा और मानार्होंकी पूजा आदि सब शारीरिक तप समझमें आते हैं किन्तु आर्जव यानी सरलताको भी शारीरिक तपमें किस तरह डाला है यह समझमें नहीं आता।

किसीको दुःख न हो अैसा सत्य और प्रिय हित वचन और स्वाध्याय तथा अभ्यास ये सब वाङ्मय तप हैं। समय पर मौन रखना और आवश्यकतासे अधिक न बोलना यह भी वाचिक तप है। मनको प्रसन्न रखना सबके प्रति शुभ भावना रखना मनोवृत्तियोंका संयम करना मौन रखना और चारित्र्य-शुद्धि — अिन सबको गीताने मानस तप कहा है।

तपोयज्ञ [४–२८]

यज्ञका अर्थ अुपनिषत्कालसे व्यापक होता आया है। प्रकृतिके व्यापारको भी ऋषियोंने यज्ञके रूपमें पेश किया है। श्वासोच्छ्वास भी अेक प्रकारका यज्ञ है। प्राणायाम भी यज्ञ है। अिन्द्रियोंका व्यापार और संयम भी यज्ञ है। ज्ञानकी अुपासना स्वाध्याय — ये भी यज्ञ हैं। अिस तरहसे यज्ञको देखनेके बाद पापको जलानेवाला तप भी अेक प्रकारका यज्ञ माना जाना स्वाभाविक है। अिसलिअे तपस्वियोंको तपोयज्ञ कहा है। भगवान स्वयम् तमाम यज्ञोंके और तपके भोक्ता हैं (५–२९)। जो लोग तप नहीं करते अुन्हें अतपस्क कहा है (१८–६७)। अैसे लोग गीता-ज्ञान सुनकर क्या करेंगे?

तम [८–९, १०–११, १३–१७, १४–५, ८, ९, १०, १३, १५, १६, १७, १७–१, १८–३२, तामस शब्द भी साथ सोचिये।]

√तम् (काङ्क्षायाम् खेदे च) चाहना चिन्ता करना खिन्न होना थक जाना मलूल बनना।

जहा ज्ञान नही है प्रकाश नही है अुत्साह या स्फूर्ति नही है असी अवस्थाको तमस् या तम कहते है। प्रमाद आलस्य निद्रा मोह अप्रकाश अप्रवृत्ति मूढता अधोगति य सब तमोगुणके लक्षण है। जो तमोगुणी होते है अुनका ज्ञान छिछला और अधूरा होता है। वे जब काम करते है तब बिना सोचे करते है। और अुसमें भी विषाद दीर्घसूत्रिता आलस्य अप्रामाणिकता और हरामी होती है।

तमोगुणी मनुष्य स्व-पर बलाबल देखे बिना लाभ हानि सोचे बिना और नतीजेका खयाल किये बिना केवल जडतासे अंधा होकर ही काम करता है। अुसकी बुद्धि असी अुलटी होती है कि धर्म और अधर्मको वह अुल्टा ही समझता है। निद्रालुता भय शोक विषाद और मद अिन दोषोको आसानीसे छोडता ही नही। अुसका सुख भी निद्रा आलस्य और प्रमादसे ही पैदा हुआ होता है। वह तप करेगा तब भी दूसरेका नाश करनेके लिअे अथवा अपना ही अनहित जिसमें है असे ढगसे करेगा। पूजा करेगा तो भूत प्रेताकी तप करेगा तो शास्त्रको छोडकर खाने बैठेगा तब बासी सडा हुआ और जूठन भी खा जायगा जिसे दान देगा अुसकी निंदा और अपमान करके देगा और वह भी असे आदमीको जो योग्य नही है तथा असे समय पर और असे ढगसे कि वह दान किसीके कामका भी न होगा।

तमोगुणी लोग संस्कृतिका ह्रास करते है और अपना भी नाश कर लेते है।

तमोद्वार [१६–२२]

गीताने काम क्रोध और लोभ अिन तीनो आत्मनाशी दोषोको नरकका द्वार कहा है। तमोगुणके कारण य तीनो बढते है और मनुष्यके श्रेयका नाश करते है। अिन तीनोंके रास्ते नही जाना चाहिये।

केवल सन्तानकी अुत्पत्तिके हेतु स्त्रीगमन करना और वह भी धर्मकी मर्यादामें रहकर यह अलग चीज है और कामान्ध होकर विषय-सेवन करना अलग चीज है। अिस कामान्धताको ही गीताने नरकका द्वार कहा है।

पुरुषार्थ सिद्धिके लिअे धनकी प्राप्ति करना और वह भी बिनाका द्रोह किये बिना यह धर्म है। किन्तु अन्धे होकर अनीतिसे द्रोहबुद्धिके साथ सम्पत्तिके पीछे पड़ना और धनकी राशि बढ़ाते रहना, यह लोभ है। वह नरकका रास्ता है।

अन्यायका प्रतिकार करना दुराचारीको कुकर्मसे रोकना हीनताका धिक्कार करना, ये सब तेजस्विताके लक्षण हैं। अिन्हें पुण्य प्रकोप (Righteous indignation) कहा है। किन्तु अन्धे होकर अपने हितकर्ता सुहृद्-जनों पर भी नाराज होना वासना-तृप्तिमें जो भी बाधा डाले अुस पर बिगड़ जाना यह तमोगुणी क्रोध है। यह नरकका द्वार है। औपनिषदने अिस नरकको ही अन्धम् तमः कहा है।

तितिक्षा [२–१४]

√तिज् (क्षमायाम् च) बहादुरीके साथ सहन करना। जिसका अिलाज नहीं है अुसे सहन तो करना ही पड़ता है हिम्मत हार कर, रोते रोते और सम्मान तथा सत्त्व खोकर भी सहा जा सकता है अथवा पराभूत न होते हुअे आत्मबलसे हिम्मतपूर्वक सब कुछ सहकर हम दुःखसे अूंचे अुठ सकते हैं। जिस तरह पानीमें तरनेवाला कमसे कम अपनी नाक पानीके अूपर रखता है अुसी तरह जो मनुष्य आत्माको अपमानित किये बिना, धीरोदात्त वृत्तिसे सब कुछ सहन कर लेता है अुसने तितिक्षा गुणको सिद्ध किया है। What cannot be cured has of cource to be endured, but he is a hero who endures it nobly

तुल्यनिन्दात्मसंस्तुति [१२–१९, १४–२४], तुल्यप्रियाप्रिय [१४–२४], तुल्य [१४–२५]

√तुल् (अुन्माने) तौलना तपासना। जब दो चीजें तौलने पर अेक ही नापकी होती हैं तब अुन्हें तुल्य समान अथवा सम कहते हैं।

जो ज्ञानी या योगी है वह मान और अपमान, निन्दा और स्तुति, प्रिय और अप्रिय दोनोंके प्रति समान वृत्ति रखता है। जो सन्तुष्ट है अुसे निन्दा या स्तुति कोअी मालूम नहीं है। जब स्तुति यथार्थ होती है तब ज्ञानीके लिअ अुसमें कोअी नयी बात नहीं होती। वह अपने गुण-दोष जानता ही है। जब योग्यतासे अधिक स्तुति की जाती है तब अिस असत्यसे वह प्रसन्न कैसे होगा? स्तुतिकार अभिप्राय वह बदल नहीं सकता लेकिन अुसका स्वीकार भी वह नहीं कर सकता। अगर कोअी कम स्तुति करता है तब दूसरेके अज्ञान पर वह नाराज कैसे हो सकता है, और असा अज्ञान दूर करनेकी भी आवश्यकता अक्सर नहीं रहती।

असली बात यह है कि अपना मान-अपमान और सुख-दुःख दूसरों पर निर्भर रखना कोअी अच्छी स्थिति नहीं है, यह तो पराबलम्बिता हुअी। जब हम देखते हैं कि सामान्य जनता कितना अज्ञान होता है गतानुगतिक होती है और रागद्वेषसे अंधी भी बनती है तब अुसके अभिप्रायसे सुखी या दुःखी होना हमारी आत्मप्रतिष्ठाके लिअ हानिकारक है।

प्रिय और अप्रियके बारेमें प्रियता और अप्रियता तो रहती है किन्तु अुससे ज्ञानी पुरुष न तो अस्वस्थ रहता है न विचलित होकर किसीका पक्षपात और तिरस्कार करता है।

तुष्टि [६–२० १०–५, ९]

√तुष् (तुष्टो) राजी होना तृप्त होना सन्तोष पाना।

व्यवहारकी प्रवृत्ति कहती है—'असन्तोष श्रियो मूलम्'—असन्तोषसे ही सम्पत्ति और वैभव प्राप्त होते हैं।

आश्रम-व्यवस्था कहती है—असन्तुष्टा द्विजा नष्टा सन्तुष्टाश्च भूभुजः।

अध्यात्म शास्त्र कहता है येन-केनचित् जो सन्तुष्ट रहता है (३–१७) वही सच्चा भक्त है।

भगवानने अपने बारेमें कहा है (३–२२) कि 'मेरे लिअे असी कोअी चीज नहीं है जो मुझे मिली नहीं है और पानेको बाकी है।'

जिस मनुष्यको आत्मज्ञान हुआ है आत्मप्राप्ति हुओी है अुसके लिअे कुछ भी जाननेका और पानेका नहीं रहता। फिर अुसके लिअे तुष्टि ही तुष्टि है। जिसके मनमें पूर्ण संतोष है वह बडेसे बडे सम्राटसे भी अधिक धनी और समर्थ है कुबेर भी अुसकी तुलना नहीं कर सकता।

तृष्णा [१४–७]

√तृष् (पिपासायाम्) तरसना। [तृष् और तृप परस्पर विरोधी धातु है।] तृष्णा यानी प्यास लोभ अिच्छा। वासनाके द्वारा विषयोंकी प्यास बढती है, अुसीसे रजागुणकी वृद्धि होती है (तृष्णा = अप्राप्तकी अभिलाषा)।

बौद्धोंका कहना है कि (१) दुनियामें दुःख भरा हुआ है। (२) अिस दुःखका कारण तृष्णा है। (३) तृष्णाका नाश करनेसे दुःखका नाश होता है। और (४) तृष्णा-नाश करनेके लिअे भगवान बुद्धके बताये हुअे अष्टांगिक मार्गका अवलम्बन करना चाहिये। अिन चार बातोंको वे आर्यसत्य कहते हैं। बौद्धोंने भवतृष्णा और विभव तृष्णा असे तृष्णाके दो भाग किये हैं। भवतृष्णा जीनेकी तृष्णा है और विभव-तृष्णा नहीं जीनेकी अर्थात् मरनेकी तृष्णा यानी वासना है। दोनों तृष्णा दोषरूप हैं [भगवान मनुने भी कहा है— नाभिनन्देत मरणम् नाभिनन्देत जीवितम्।]

तृष्णा दो प्रकारसे सताती है, पहला प्रकार है अप्राप्त वस्तुकी अभिलाषा, और दूसरा प्रकार है— अिदम् मे न क्षीयताम् असी अिच्छा।

तृष्णासंगसमुद्भव रज [१४–७]

अप्राप्त वस्तुकी अभिलाषा तृष्णा है और प्राप्त वस्तुके बारेमें जो प्रीति या ममता होती है यानी मनकी आसक्ति होती है अुसे कहते हैं आसंग। ये दोनों रजोगुणके ही लक्षण हैं। रजोगुणका मूल अिसीमें है।

तेज [७-९, १०, १०-३६, १५-१२, १६-३, १८-४३], **तेजस्वी** [७-१०, १०-३६]

√तेज (निशाने पालने च) सान पर धरना, तेज करना, रक्षण करना।

किसी भी चीजको सान पर धरनेसे अुसकी जंग दूर होती है, वह तीक्ष्ण बनती है, चमकने लगती है और अधिक कार्यक्षम बनती है। (गीताका शब्द संशित भी यहां देखिये।) अिस परसे तेजका अर्थ होता है पराक्रम, प्रभाव, प्रकाश, गर्मी, अुत्साह, स्वाभिमान, अमर्ष।

तेजस्वी पुरुष अपमान या विरोध सहन नहीं करता है। वह सर्वत्र अपना प्रभाव और प्रकाश डालता है।

तेजोंऽशसंभवम [१०-४१, ४२]

अीश्वर ही विश्वके रूपमें प्रकट हुआ है। चंद लोग कहते हैं कि अिस विश्वमें पूरा अीश्वर खतम नहीं हुआ है। अिस विश्वमें तो अीश्वर भरा हुआ है ही, किन्तु अिस विश्वके अतिरिक्त भी अीश्वर है जो अिस विश्वके परे है (Transcendence)। दूसरे लोग कहते हैं कि अिस विश्वके बाहर कुछ हो ही नहीं सकता। अगर विश्वकी कोअी मर्यादा मानी जाय तो वही अीश्वरकी मर्यादा है (Immanence)। गीतामें कहा है कि जो कुछ भी सत्त्व विभूतिमत् है, तेजस्वी है, सौन्दर्ययुक्त है, वैभवशाली है वह सब कुछ मेरे तेजके अेक अंशसे ही पैदा हुआ है, किन्तु मेरी अैसी विभूतियोंका अन्त ही नहीं है (१०-४०)। मेरे विस्तारका कहीं भी अन्त नहीं है (१०-१९)। परमात्मा भी अनाद्यनन्त है (१३-१९)। अिसलिअे अीश्वरके बारेमें हम कह नहीं सकते हैं कि अीश्वर अिस विश्व जितना ही बड़ा है और यह भी नहीं कह सकते हैं कि वह अैसा नहीं है।

हम अपने ध्यानके लिअे समझना चाहते हैं कि कौन कौनसे रूपोंमें हम अीश्वरको देखें और अुसकी अुपासना करें। (१०-१७)

त्यक्तजीविता [१–९]

जिन्होंने अपने प्राण फेंक दिये हैं न्योछावर किये हैं। अिसके मानी यह नहीं कि वे मर गये हैं या अुन्होंने आत्महत्या की है। अिसका अर्थ अितना ही है कि लडाअीमें मरण आनेवाला ही है अिसका निश्चय होते हुअे भी जो लडाअीमें शरीक हुअे हैं। भुन्हें अपने प्राणोंकी परवाह नहीं है। हम भले मर जायं किन्तु हमारे स्वामी दुर्योधनका अर्थ सफल हो जाय असा जिन्होंने निश्चय किया है — जिन्होंने प्राणोंकी बाजी लगाअी है वे हैं त्यक्तजीवित।

त्यक्तसर्वपरिग्रह [४–२१]

परिग्रहके अनेक अर्थ हैं। जिसे हम पकडकर रखते हैं वही हमारा परिग्रह है। हमारी सम्पत्ति, हमारी अेस्टेट हमारा घर हमारा परिवार, नौकर चाकर कुटुम्ब-कबीला धर्मपत्नी, अन्तःपुरकी स्त्रियां सब परिग्रह है। हमारा शरीर भी हमारा परिग्रह है। गीता कहती है कि हमारा परिग्रह ही हमें पकडकर रखता है। (Our possessions possess us)

तोतेको पकडकर अगर पिंजरेमें रख दें तो अुसे खिलाने पिलानेकी चिन्ता हमें दिन रात करनी पडती है। हम कहते हैं कि हमने अेक तोता रखा है तोता कहता होगा कि मेरे लिअे अेक आदमी रखा गया है। यही परिग्रहका सच्चा स्वरूप है। परिग्रह रखकर भी मोक्ष पानेकी अिच्छा करना गलेमें बडा पत्थर बांधकर समुद्रमें तरनेके बराबर है। गीता कहती है कि अगर पापसे मुक्त होना है कर्मबन्धसे मुक्ति पानी है, तो अन्तःकरणका दमन करो और सब परिग्रह छोड दो। जब तक साधना पूरी नहीं हुअी तब तक शरीरको नहीं छोडा जा सकता। किन्तु वहां भी देहाभिमानको तो छोडना ही चाहिये। तभी हम त्यक्तसर्वपरिग्रह बन सकते हैं।

परिग्रहके कारण हमारी आत्माकी विभूति क्षीण होती है। घरमें अगर टेबल कुर्सी, कबाट आदि फर्नीचर बढ गया तो स्पष्ट है कि घूमने फिरनेका हमारा अवकाश घट जाता है और हमारे ही कमरेमें

हम बंधनमें आ पड़ते हैं। रोमें रोलाँका अेक वाक्य याद रखना चाहिये— The less I have the more I am जिस अनुपातमें मेरा परिग्रह घटता है अुसी अनुपातमें मेरा व्यक्तित्व, मेरा अध्यात्म बढ़ता है। स्वेच्छासे सत्ता घटानेके बाद सत्ता परिपुष्ट हो ही जाती है।

यहाँ पर त्यक्त शब्दका अर्थ अूपरके 'त्यक्तजीविता' में जैसा किया है वैसा ही करना चाहिये। सामाजिक विकास और समृद्धिके लिअे धाम उपकरण यंत्र आदि बढ़ाने पड़ते हैं। अुनकी ओर ममता रहनेसे — ये चीजें मेरी हैं असी भावना रहनेसे परिग्रहकी कमजोरी आती है। यह हुआ व्यक्तिगत अपरिग्रहकी बात। समाज भी परिग्रह बढ़ानेसे रोगी और दुर्बल बनता है। Acqusitive wealth और functional wealth में जो फर्क है अुसे समझनेसे परिग्रह अपरिग्रहके भेद पर अच्छा प्रकाश पड़ सकता है।

त्याग

√त्यज् (हानौ) = छोड़ देना संबंध काटना मिल्कियतका अंत करना।

वासना-त्याग ही गीताका प्रधान संदेश है। रामकृष्ण परमहंसने गीताका मर्म समझाते हुअे कहा था कि गीताके अक्षर अुलट दो और तुरन्त तुम्हें गीताका संदेश मिलेगा। गीता का तागी किया तो हो गया। (बंगालीमें त्यागीका अुच्चारण तागी होता है।) जिसने त्याग करनेकी तरकीब या कला सीख ली वह गीताधर्मी बन गया।

मरते समय मनुष्यको सब कुछ छोड़ जाना ही पड़ता है। अैसे त्यागको विमान गीताका त्याग नहीं माना। संग-त्याग फल-त्याग कर्तृत्व-त्याग काम्य-कर्म-त्याग शुभाशुभ-परित्याग सर्वारंभ-परित्याग परिग्रह-त्याग ये सब बातें गीताके त्यागमें आती हैं। अुनके साथ अहंकारका भी त्याग किया तो मनुष्यकी साधना पूरी हो गयी। असी साधनाकी परिपूर्तिके लिअे अुपनिषद्के अपि कहते हैं — येन त्यजसि तत् (नहि) त्यज। (महोपनिषद् ६-६)

सर्वं त्यक्त्वा मनः पीत्वा योऽसि सोऽसि स्थिरो भव।
शेषं स्थिरसमाधानो येन त्यजसि तत् त्यज।
त्यज धर्ममधर्मं च अुभे सत्यानृते त्यज।
अुभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत् त्यज॥

संन्यासवृत्तिके त्याग सर्वत्यागमें मानते हैं। जिन आध्यात्मिक ग्रंथोंकी सहायतासे हमने मुक्ति पायी अुनका भी लोभ नहीं रखना चाहिये। पलाल अिव धान्यार्थी त्यजेत् ग्रंथं अशेषतः ॥

सङ्गत्यागं विदुः मोक्षं सङ्गत्यागात् अजन्मता।
सङ्गं त्यज त्वं भावानां जीवन्मुक्तो भवानघ॥

अैसे त्यागके भी गीताने तीन प्रकार बताये हैं। नियत कर्मोंका त्याग मोहवश होनेसे तमोगुणी होता है। शारीरिक तकलीफसे बचनेके लिअे अच्छी वस्तुका भी त्याग करना रजोगुणी है। और कर्तव्यरूप शुभ कर्म करते हुअे अुनके केवल फलोंका त्याग करना सात्त्विक त्याग है।

गीताका सारा भार कर्मफल-त्याग पर ही है।

त्रयीधर्म [९–२१], त्रैविद्या [९–२०], त्रैगुण्यविषया [२–४५]

ऋक् यजुस् और साम अिन तीन वेदोंको त्रयी कहते हैं। अथर्ववेदकी बातें तो शायद अिन तीन वेदोंके जितनी ही प्राचीन होंगी। लेकिन धर्ममूल वेदत्रयीमें अथर्ववेदका अन्तर्भाव देरीसे हुआ। वेद ही हमारे धर्मके मूल ग्रंथ हैं। वे ही धर्मका आधार हैं।

लेकिन गीताका कहना है कि अिन वेदोंमें यज्ञ आदि सकाम कर्म बताये हैं। वेदधर्मके बाद वेदान्तधर्म आया। गीता कहती है कि वैदिक धर्म गुणत्रयके अन्तर्गत है और मोक्षार्थीको तो त्रिगुणातीत बनना है। अिसलिअे वेदधर्मके प्रति आदर रखते हुअे धर्मका व्यापक अर्थ लेकर वेदान्तधर्मका, मोक्षधर्मका अनुशीलन करना चाहिये।

दक्ष [१२–१६], दाक्ष्यम् [१८–४३]

√दक्ष् [वृद्धौ शीघ्रार्थे (गतिहिंसनयोः च)] कुशलतापूर्वक सन्तोषप्रद काम करना, बढ़ना, तेजीसे दौड़ना जाना, अिजा करना ये

जिस धातुके मूल अर्थ हैं। दक्ष शब्दका अर्थ होता है होशियार, सब ओर ध्यान देनेवाला और कुशलतासे काम करनेवाला। जिसका भाववाचक नाम है दाक्ष्य (१८–४३) अर्थात् दक्षता। दाक्ष्य और कौशल्यका अर्थ करीब करीब अेक ही है। किन्तु कौशल्यमें कर्म-कुशलताका भाव अधिक है दक्षतामें सब ओर ध्यान और अवधान पहुँचाना हर वस्तुका महत्त्व समझना, तारतम्यको नहीं भूलना ये सब आते हैं। [हमारे दो हाथोंमें से अधिक अुपयोगके कारण जिसकी दक्षता अधिक होती है अुसे दक्षिण अथवा दाहिना हाथ कहते हैं। प्रातःकाल सूर्यका दर्शन करनेके लिअे पूर्वाभिमुख खड़े होने पर जिस ओर यह दक्षिण हाथ होता है अुस दिशाको भी दक्षिण कहते हैं।

सामाजिक शिष्टाचारमें जो कुशल है अुसे भी दक्षिण कहते हैं। अुसके प्रिय आचारको दाक्षिण्य कहते हैं और अुसके प्रदेशको दक्षिण अथवा दखन कहते हैं। ये सारे शब्द मूल दक्ष धातुकी प्रजा हैं।]

दण्ड [१०–३८]

√दण्ड (दण्ड निपातन दमने च) जुर्माना करना या किसीको रोकना (*restrain*)।

जिस शब्दके अनेक अर्थ हैं। लाठीको दण्ड कहते हैं गधको जिस्ण्ड कहते हैं सन्यासीके हाथमें भी दण्ड रहता है। और राजाके हाथमें भी। राजा जिस अधिकार या शक्तिसे प्रजाको काबूमें रखता है, कुमार्गसे बचाता है और अपराधियोंको सजा देता है अुस सामर्थ्यका प्रतीक है राजदण्ड। सन्यासी जिस संयम शक्तिसे अपने मनको रोकता है, अिन्द्रियोंको कुमार्गसे बचाता है और अपनी साधनाका स्मरण जाग्रत रखता है अुस संयम शक्तिका, संकल्प शक्तिका और तीव्र विरागका प्रतीक है सन्यासीका दण्ड। गीतामें जब भगवान कहते हैं दण्डो दमयतामस्मि तब राजदण्ड और संयमदण्ड दोनोंका अुसमें अन्तर्भाव समझना चाहिये। बाह्य दण्ड असली तो पशुओंके लिअ है। शिक्षाविनयके द्वारा जो लोग आत्मसंयत हुअ हैं — स्वतन्त्र हुअ हैं अुनके लिअे आत्मदण्ड ही पर्याप्त है। मनुस्मृतिमें दण्डको राजशक्तिका

प्रतिनिधि बताया है और अुसीको अब पुरुष समझकर कहा है दण्डो सुप्तेषु जार्गात दण्ड धर्मं विदुर बुधा। (मनु० ७–१८) राजा और राजपुरुष सो सकते हैं किन्तु दण्ड अखण्ड जाग्रत रहता है।

यवन देशका आत्मवीर सुक्रतु (Socrates) जब शिष्याका अंतिम अुपदेश देता है तब अपने देशके कानूनोको personify करके कहता है कि 'अगर मै जान बचानेके लिअे भाग जाअू तो मेरे देशके कानून मेरे सामने खडे होकर मुझसे पूछेंगे कि तू यह क्या कर रहा है हमारी ही मददसे तूने आज तक जिन्दगी बसर की, हमारे ही विधानमे तूने शान्ती की हमारा ही रक्षण पाकर तूने ग्रीक सम्कृतिसे लाभ अुठाया और अब जिस बुढापेमें केवल जान बचानेके लिअे हमारा द्रोह करके अपमान करके भाग रहा है? तब मैं क्या मुह क्या जवाब दूगा?'—अिस अमर अुपदेशमें अुसने कानूनोको जीवित सनातन पुरुष माना है। मनुस्मृतिमें दण्डका भी वही भाव है।

वाग्दण्ड मनोदण्ड और कायदण्ड जिनका अकुश जिस सन्यासीने अपनी बुद्धि पर रखा है और वासनायें जीत ली हैं अुसे त्रिदण्डी कहते है।

राजशासनके अर्थशास्त्रमें शत्रुको जीतनेके चार अुपाय बताये है—साम, दाम भेद और दण्ड। वह अर्थ भी गीताके जिस श्लोकमें अभिप्रेत है। सर्वो दण्डजितो लोक। (मनु० ७–२२)

दम [१०–४, १६–१, १८–४२]

√दम् (अुपशम) काबूमें लाना सयम करना शान्त करना दबाना।

दमका अर्थ होता है बाह्य अिन्द्रिय-अुपशम'। शम यानी 'अन्त -करणस्य अुपरति।' दमके द्वारा अिन्द्रियोको बाहरसे रोका जाता है। शम, दम अुपरति तितिक्षा श्रद्धा और समाधान अिन छह योग्यताओंसे जो युक्त है वही मोक्ष विद्याका अधिकारी बनता है। अिनमें सबसे प्राथमिक योग्यता है दम। जिसमें केवल बाह्य अिन्द्रियोंके व्यापारका निग्रह अथवा निरोध करनेकी बात है। यह सिद्ध होनेके बाद शमकी

प्राणपणसे कोशिश करता है। दयाका दूसरा भाव है किसीका दु:ख देखकर प्रेमादरके साथ अुसके प्रति मुलायम बनना। असी दया प्रेमका, सहानुभूतिका सात्त्विकताका लक्षण है।

छोटे बच्चोंको, फूलोंको अथवा असे ही नाजुक और प्रेमास्पद तत्त्वोंको देखकर चित्त जो मुलायम होता है अुसको भी दया कहते हैं। अिसी परसे पत्नीके लिअे संस्कृतमें दयिता शब्द आया है।

अुपनिषदमें दानव मानव और देव तीनोंको हृदयधर्मकी दीक्षा देनेवाले प्रजापतिने कहा कि दया दान और दमन आत्म-संयमके ये तीन तत्त्व संस्कृतिकी बुनियादमें हैं। क्रूरता और अुपभोग दूर करनेके लिअे दया, स्वार्थ और लोभ टालनेके लिअे दान और विलासिता और अिंद्रिय पूजाको हटानेके लिअे दमन। अृषि कहता है कि द द द की घोषणा करके पर्जन्यकारी मेघ भी यही घोषणा करता है। बृहदारण्यक कहता है कि जिसे हम प्रजापति कहते हैं वह हृदय ही है। अेष प्रजापति यद् हृदयम्।

दर्प [१६–४, १८, १८–५३]

√दृप् (हर्ष-मोहनयोः सन्दीपने च)। श्री शंकराचार्यने दर्पका अर्थ गर्वका स्वरूप बताया है। दर्प वह गर्व है जो हर्षमें अन्तर्भूत है और धर्मका अतिक्रमण करनेमें मन्द करता है। हृष्टो दृप्यति, दृप्तो धर्मम् अतिक्रामति। हर्षयुक्त पुरुष घमण्डमें आता है और घमण्डसे धर्मका रास्ता चूकता है। घमण्ड अन्तःकरणका ही अेक दोष विशेष है। धनके कारण अथवा बलिष्ठ स्वजन परिजनके कारण मनुष्य घमण्डमें आता है। बुद्धि शक्तिके कारण भी छिछले लोग घमण्डमें आते हैं। यह सन्दीपनका दोष है।

दर्शन, तत्त्वदर्शिभिः [२–१६], समदर्शिनः [५–१८], समदर्शनः [६–२९], तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् [१३–११], दुःखदोषानुदर्शनम् [१३–८]

√दृश् (प्रेक्षणे) = देखना, पहचानना, जानना।

अुपनिषदका सबसे श्रेष्ठ अुपदेश है 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः, श्रोतव्यः, मन्तव्यः, निदिध्यासितव्यः' (बृहदारण्यक २–४–५ ४–५–६)। जिसमें से आत्माके लिअे जो 'द्रष्टव्य' शब्द आया है अुसी परसे अध्यात्मशास्त्रको

दानशास्त्र कहते हैं। ज्ञानदृष्टिसे देखना यही है सच्चा दर्शन। यही है तत्त्वज्ञानार्थदर्शन।

दातव्य [१७-२०], यष्टव्य [१७-११]

√दा (दाने) देना अर्पण करना। √यज् (देवपूजा-संगतिकरण-यजन-दानेषु) दान करना, हवन करना, सहयोग करना, देवपूजा करना।

गीताने करने लायक (कार्य) असे तीन प्रकारके कर्म बताये हैं — यज्ञ, दान और तप (१८-५)। अिसीलिअे कार्यके मुख्य तीन प्रकार हुअे — यष्टव्य, दातव्य, तप्तव्य अथवा तपनीय। ये तीनों सामाजिक जीवनके लिअे और आत्मशुद्धि और आत्मोन्नतिके लिअे आवश्यक होनेके कारण निष्काम बुद्धिसे अिन्हें करना चाहिये। अगर कोअी कामना न रही तो भी अिनको छोडना नहीं चाहिये। अिसीलिअे कहा है — दातव्यम् अिति, कार्यम् अित्येव यत् कर्म अि० 'कार्यं अेव तत्' अित्यादि।

दानम् [८-२८, १०-५, ११-४८, ५३, १६-१, १७-७, २०, २१, २२, २५, २७, १८-५, ४३], दातव्यम् [१७-२०]

√दा (दाने) देना।

दानका मुख्य अर्थ केवल देना है। अिसमें परस्पर भेंटमें देना, अर्पण करना, बाँटना ये सब भाव आते हैं।

शुद्ध समाजशास्त्र और अध्यात्मशास्त्र कहता है कि किसी भी व्यक्तिको कोअी चीज अपने पास मालिकके तौर पर स्वामीभावसे रखनेका अधिकार नहीं है। परिग्रहमात्र दोष है। अिस दोषके कुछ परिहारके लिअे दानका कर्तव्य बताया है। दूसरोंकी आवश्यकता देखते ही अपने पास रही हुअी चीज तुरन्त दे देनेकी वृत्तिको दान-वृत्ति कहते हैं। दान कर्तव्यरूप होनेसे दान देनेमें सचमुच कुछ पुण्य नहीं होता। किन्तु न देनेमें द्रोह या पाप होता है। गीताने यज्ञ, दान और तप कर्तव्यरूप बताये हैं। (१८-५) कार्यम् अेव तत्, यष्टव्यम्, दातव्यम् और कर्तव्यम् ये सब धर्मशास्त्रके आदेश हैं। अिनमें विकल्प नहीं हो सकता। अिसलिअे गीता कहती है कि

कर्तव्य समझकर देना चाहिये। बदलेमें कोओी लाभकी आशा न रखते हुअे देना यही अच्छा दान है क्योंकि वही सच्चा दान है। शेष सब दान कलुषित है हीन है। देनेवाला सामाजिक कर्तव्यका पालन करता है। अिसलिअे सोचकर योग्य काल, योग्य स्थल योग्य पात्र और योग्य पद्धतिका विचार करना अुसके लिअे लाजिमी है। अिसमें शिथिलता या बेदरकारी रखनेसे समाजकी असेवा होती है और दान पापरूप होता है। 'अपात्रे दीयते दानम दातारम नरकम नयेत'। अिसीलिअे किसीने कहा है कि कन्यादान जितनी सावधानीसे किया जाता है अुतनी ही सावधानीसे सब तरहका दान देना चाहिये। अेक बौद्ध साधु जिस प्रकार विचार करता है — मैं निरिच्छ हूं सन्तुष्ट हूं, कोओी चीज अपनानेका न मुझे अधिकार है न अिच्छा है। अिसलिअे मेरे पास जो चीज पड़ी है अुसे मुझे फेंक देना चाहिये। किन्तु यह चीज किसी न किसीके कामकी है। फेंक देनेसे अुसका दुरुपयोग होगा, समाजद्रोह होगा, अिसलिअे जिसे आदमीको ढूंढ लूंगा जिसे अुसकी जरूरत है। अुसे देकर अुस चीजकी झंझटसे मैं मुक्त हो जाअूंगा। अैसा करनेमें मैं न स्वार्थ-त्याग करता हूं और न परोपकार। दानमें मुझे कोओी पुण्य प्राप्ति नहीं है झंझटसे मुक्ति अलबत्ता है।

त्यक्तव्य चेत मया सर्व वर सत्त्वेषु दीयताम।

मुझे यदि सब त्याग करना ही है तो बेहतर है कि वह सब गरजमन्द प्राणियोंको दिया जाय। (*ललितविस्तर १–११*)

दिव्य, देव

ये शब्द गीतामें अनेक जगह आये हैं।

√ दिव् (क्रीडा–विजिगीषा–व्यवहार–द्युति–स्तुति–मोद-मद–स्वप्न–कान्ति–गतिषु)। दिव्के खेलना बेचना, प्रकाशित होना, जीतना, चाहना आनन्दित होना, नादसे घरे जाना प्रगति करना, अुपहास करना अित्यादि अनेक अर्थ हैं। आकाशके तारे प्रकाश देते हैं अिसलिअे अुन्हें देव कहा है अुसी तरह हमारी अिन्द्रियां भी देव हैं। (देखें 'नैनद् देवा आप्नुवन् पूर्वम् अर्षत'—अीशोपनिषद्।) जो चीज प्रभावशाली है प्रकाशमान है, अुसे देव कहते हैं तथा अैसी प्रभा या

प्रभावको दिव्य कहते हैं। भगवानकी विभूतियां भी दिव्य हैं। जो चीज अपनी योग्यताके कारण स्वर्गीय-सी दीख पड़ती है अुसे हमेशा दिव्य विशेषण लगाया जाता है।

दीर्घसूत्री [१८–२८]

जो मनुष्य काम समय पर नहीं करता है अुसे दीर्घसूत्री कहते हैं। क्षत्रियमें विलम्ब करके आज या कल करनेका काम महीनेमें भी पूरा नहीं किया करता है वह दीर्घसूत्री है असा श्री शंकराचार्यने वर्णन किया है। 'दीर्घसूत्री विनश्यति' यह कहावत सब जानते हैं। तामस स्वभावके कर्ताका यह लक्षण है।

दुरासदम् [३–४३]

बड़े कष्टसे जो जीता जाता है वह दुरासद है। अुसे दुर्जय भी कहते हैं। दुर्योधन शब्दका अर्थ भी यही है। काम क्रोध रूपी दुर्योधन, सनातन शत्रुको ही आत्मशक्ति द्वारा मारनेकी बात गीताने कही है। सच्चा भारतीय युद्ध अुसी दुर्योधनके खिलाफ है।

जहां तक गीताका संबंध है भारतीय युद्ध अेक रूपक ही है। जिसमें काम क्रोध रूपी पापी शत्रुको दूर करके या मार करके मुक्त होनेकी बात है। अिसी शत्रुको गीताने दुरासद यानी दुर्योधन कहा है। वह मनुष्य-जातिका नित्य वैरी है।

दुःखहा [६–१७]

दुःखका नाश करनेवाला दुःखहा है। √हन् परसे हा हुआ है। दुःखानि सर्वाणि हन्ति अिति दुःखहा। योगः सर्वसंसार-दुःखक्षयकृत् भवति।

दुःखम् [२–५६, ५–६, ६–३२, १०–४, १२–५, १३–६, १४–१६, १८–८ अित्यादि]

√दुःख् (दुःख क्रियायाम्) दुःख देना।

सुख-दुःखकी व्याख्या अिस प्रकार की है — अनुकूलवेदनीयम् सुखम् प्रतिकूलवेदनीयम् दुःखम् बाधनालक्षणम्। सुखकी व्याख्या

दु:खाभाव ' असी भी की है। सुख चार प्रकारके हैं वषयिक, आभि-मानिक, मानारथिक और आभ्यासिक। जिस सुखके बाद दु:ख आता ही है अुस दु:ख ही कहना चाहिये असा अभिप्राय तत्त्वनाका है। वे कहते ह कि शरीर भी सुखका आयतन होनेसे स्वयम् दु:खरूप है। व्याधि आदि शारीरिक दु:खके सिवा काम, क्रोध, लोभ मोह भय, अीर्षा विषादके कारण भी मानसिक दु:ख होता है। यह सब रजोगुणके कारण होता है। तमोगुण भी दु:खकारी है। जन्म और पुनर्जन्म दु:खस भरे हुअे ह।

योगके द्वारा दु:खका नाश होता है। और मोक्षके द्वारा दु:खका आत्यन्तिक नाश होता है। मूढ लोग मोहवश होकर शारीरिक आदि सुखोंको अिष्ट मानते ह। विवेकी लोग अूपर बताये हुअे चारो प्रकारके सुखोंको दु:खकारक समझते हैं। दु:खम् अेव सवम् विवेकिन ।

(ख और सुख-दु:ख शब्द भी देखिये।)

दु:ख शब्द जब क्रियाविशेषण होता है तब अुसका अर्थ होता है कष्टसे। अिसी तरह सुखम् यानी आसानीसे।

दु:खालयम् [८–१५]

आलय कहते हैं घरको, आश्रय-स्थानको। पुनर्जन्मसे प्राप्त होने वाला अिस दुनियवी जिंदगीको अनुभवियोंने दु:खोंका घर कहा है। सब प्रकारके दु:ख अिसी जिन्दगीका आश्रय करके रहते ह।

दृढव्रत [७–२८, ९–१४], दृढनिश्चय [१२–१४]

दृढ यानी मजबूत है निश्चय अथवा व्रत जिसका। दृढनिश्चयमें निश्चय शब्दका अर्थ होता है सकल्प। आत्म-तत्त्वके बारेमें जिसके मनमें कोअी सन्देह नहीं रहा है और आत्मप्राप्तिका सकल्प जिसका दृढ है अुसे दृढनिश्चय कहा है। दृढव्रता का अेक जगह पर (९–१४) अर्थ होता है दृढता ही है व्रत जिनका अथवा जो लोग अपने व्रतमें, निश्चयमें दृढ ह अैसा भी अर्थ लिया जा सकता है। सातवे अध्यायके अट्ठाअिसवे श्लोकमें भी यही अर्थ है। किन्तु शंकराचार्यने अर्थ किया है 'अयम् अेव परमार्थतत्त्वम् न अन्यथा' अिति अेवम् निश्चितविज्ञाना

दढव्रता अुच्यते। परमार्थतत्त्व जिसी प्रकार है दूसरे प्रकार नहीं है असा जिनके मनमें निश्चित मान हुआ है अुन्हें दृढव्रत कहते हैं। व्रतका सामान्य अर्थ होता है आचार विषयक काअी निश्चय समझ या संकल्प। व्रत लेनेके बाद जिनका संकल्प या निश्चय ढीला हो जाता है वे हैं शिथिलव्रत अथवा व्रतदुर्बल और जिनका व्रतसंकल्प मजबूत है वे हैं दढव्रता।

दृष्टिम [१६—९]

√दृश् (प्रक्षण) देखना। मनुष्यकी जिन्द्रियोंमें सबसे श्रेष्ठ हैं आँखें। और सब अिन्द्रियोंकी पहुंच (range) बहुत कम होती है। (सूर्य चन्द्र और ताराका प्रकाश हम करोड़ों तेजोवर्षकी दूरी पर से भी देख सकते हैं, किन्तु ध्वनि तो पृथ्वीके बाहरका सुनाअी नहीं देती।) दृष्टिके कारण ही मनुष्य जिस विशाल विश्वका कुछ दर्शन कर समझ पाया है। दृष्टिकी यह असाधारण शक्ति देखकर ही मनका आकलन शक्तिको भी हम दृष्टि कहने लगे। अिन्द्रियगोचर वस्तुओं जब हम प्रत्यक्ष कहते हैं (जैसे कि यह बात मैंने प्रत्यक्ष सुनी है) तब जानको ही हम आगे करते हैं। जब अुपनिषद्के ऋषिने कहा — आत्मा वा अरे द्रष्टव्य श्रोतव्य मन्तव्य निदिध्यासितव्य — तब वचनसे आत्माको दर्शनकी बात नहीं थी। आत्माका — परम तत्त्वका — ज्ञान करनेवाली विद्याको दर्शनशास्त्र कहने लगे। हरअेक दर्शनकी अपनी निजी दृष्टि होती है दृष्टि यानी जीवनदृष्टि। [अिसीको अंग्रेजीमें view of life अथवा outlook on life कहते हैं। Outlook की अपेक्षा Inlook कहना ठीक है। जिसके लिअे अंग्रेजीमें Insight शब्द है ही।] दैवी और आसुरी य दोनों भिन्न भिन्न दृष्टियां हैं।

अन्तर्बाह्य सृष्टिका निरीक्षण चिन्तन करके कुछ अभिप्राय या सिद्धान्त पर हम आ जाते हैं। अुसीको हम अपनी दृष्टि कहते हैं। किन्तु अधिकांशत तो अपने परिमित अनुभवके कारण अथवा परंपरा या पूर्वग्रहके कारण हमारी जैसी दृष्टि हो गयी है वैसा ही सृष्टि हमें दिख पड़ती है। जिसीलिअे कहते हैं जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि।

गीताके गुण-सख्यानमें तपका ही सबसे अधिक विस्तार किया है। तपके शारीरिक वाचिक और मानसिक असे तीन भेद करके सत्त्व रजस्, तमसके अनुसार भी फिरसे तीन विभाग किये हैं। सस्कृति यानी सामाजिक अुन्नति और प्रगतिकी बुनियाद ही तप है। जब तक भाथी (Bellows=धौंकनी) जोरसे चलती है तब तक ही भट्ठीकी अुष्णता श्वेत कान्तिकी रहती है भाथी शिथिल हुअी कि भट्ठीकी अुष्णता तुरन्त मन्द होने लगती है। मानवी सस्कृतिका भी असा ही है। जब तक समाजका तपस् तेज कायम रहता है तब तक ही अुन्नतिके तत्त्व पनपते जाते हैं।

दैवी सम्पत्का विस्तार समझाते हुअे भगवानने सामाजिक अुत्कर्षके लिअे परमावश्यक जो छब्बीस गुण बताये हैं अुनमें भी तपको स्थान दिया है। हमारे देशमें शारीरिक तपके अनेक प्रकार प्रचलित हैं। अुनमें से कअी तो निरर्थक अथवा हानिकारक हैं। तमोगुणके कारण वे चल पड़े हैं। दुराग्रह अथवा विरोधीका द्वेष ही अुसका कारण है। सात्त्विक वृत्तिसे प्रेरित होकर मानसिक और वाचिक तप करनेके साथ कुछ शारीरिक तप भी आवश्यक है। सीधे टट्टार चलना, शुचिर्भूत रहना, किसीकी हत्या न करना, ब्रह्मचर्यकी रक्षा करना ये सब बातें अितनी सिद्ध और स्वाभाविक होनी चाहिये कि शरीरका आसन ही अुनका सहज पालन होना चाहिये। यही है शारीरिक तप।

अब अिसके साथ साथ शारीरिक तपमें पूजन भी रखा गया है। पूजन यानी आदर करना, सेवा करना, सत्कार करना, शुश्रूषा करना, पूजार्ह व्यक्ति जैसा कहें वैसा करना, और अुनका अनुकरण करते हुअे सदाचारकी आदत डालना, ये सब बातें पूजनमें आती हैं।

लेकिन पूजन किनका करें? गीता कहती है कि आध्यात्मिक सस्कृतिके यानी दैवी सम्पत्के आधार-स्वरूप जो व्यक्ति हैं अुनका पूजन करना चाहिये। अुससे ही अूपर बताया हुआ शारीरिक तप बढ़ता है।

देव, द्विज, प्राज्ञ और गुरु, अिनका सांस्कृतिक कार्य क्या है सो अब हम देखें। जिन तत्त्वोंका हम ध्यान करते हैं जिन तत्त्वोंका

अुपासना करते है अुन्हीको देवता कहते है। **हृदिस्था देवता सर्वा '** जितने भी देव है मनुष्यके हृदयमें ही है। आजकी परिभाषामें कहे तो मनुष्य-जातिके हृदयमें जो जीवित (कार्यान्वित होनेवाले) चरम आदर्श है वे ही देवता है। तन मन प्राणसे अुनकी अुपासना करना अुनकी सन्निधिका प्रत्यक्ष अनुभव करना यही अुनकी पूजा है। यही शारीरिक तप है।

अिस आध्यात्मिक संस्कृतिका संरक्षण संवर्धन पोषण और प्रचार करनेका भार जिन वर्णोंके सिर पर है वे है द्विज। सामाजिक आदर्श और सामाजिक बुद्धिमत्ता केवल ग्रंथोंमें या दिमागमें रहे तो अुससे समाजका हित नहीं होता। अुच्च जीवनके द्वारा शुद्ध आचारमें सिद्ध करना स्थापित करना यही मुख्य काम है। जो द्विज लोग यह काम करते है अुनका सत्संग करना यही बड़ा शारीरिक तप है। सामाजिक अधःपतनके अनेक कारण बताते हुअे शास्त्रकारोंने कहा है **ब्राह्मण-अदर्शनेन च** — ब्राह्मणोंके अदर्शनसे अुनकी मुलाकात न लेनेसे अुनका सत्संग न करनेसे समाजका अधःपात होता है।

ब्राह्मणोंके अलावा और भी जो लोकहितचिन्तक विद्वान ज्ञानी पुरुष है जिनकी वृद्धि मुक्त हुअी है अुनका भी सत्संग करना चाहिये। वे है प्राज्ञ।

अब हम गुरु शब्दका विचार करें। अद्वय-तारक अुपनिषद्‌में गुरु शब्दकी निरुक्ति अिस प्रकार दी है — गु शब्द तु अंधकारः स्यात् रु शब्दः तन्निरोधकः। अंधकार निरोधित्वात् गुरु अिति अभिधीयते ॥ देव द्विज और प्राज्ञ तीनों समाजकी सामान्य रूपसे सेवा करते है। जो गुरु होते है वे अपने शिष्योंको व्यक्तिगत रूपसे पहिचानकर विशिष्ट परिस्थितिमें अुनकी अुन्नतिका क्या रास्ता हो सकता है वही बताते है। अिसलिअे गुरुकी सेवा सबसे श्रेष्ठ होती है। जिस तरह Family Doctor कुटुम्बके सब लोगोंका अितिहास और वैशिष्ट्य जानकर हरअेककी चिकित्सा करनेमें सफल होता है अुसी तरह गुरु भी शिष्यकी शक्ति अशक्ति खामी खूबी और परिस्थिति ये सब जानकर मार्गदर्शन कराता है। असका सत्संग अुन्नतिके लिअे परमावश्यक है।

सत्सग चीज है तो हार्दिक किन्तु बडोंके पास बार बार जाना, धयके साथ अुनके पास बठना, नम्रता और तत्परताके साथ अुनकी शुश्रूषा करना, सूक्ष्मतासे अुनके जीवनका और अुनकी कायपद्धतिका निरीक्षण करना ये सब बातें परिश्रमपूर्वक शरीरसे ही करनेकी होती ह। अिसलिअे दव द्विज, गुरु प्राज्ञकी पूजाका अन्तर्भाव शारीरिक तपमें किया है।

अस पूजनके द्वारा सामाजिक सस्कृतिकी रक्षा होती है और आत्मिक अुन्नति सहज सिद्ध होती है।

देवयज [७–२३], दैव यज्ञ [४–२५]

जिस यज्ञमें देवोंका पूजन होता है, वह दव यानी दव-सम्बन्धी यज्ञ है और असा यज्ञ करनेवाले देवयज् ह। मामूली तौर पर दव यज्ञ वही है जिसमें समिधा द्वारा अग्नि प्रदीप्त करके देवोंके नाम आहुतियां दी जाती ह किन्तु गीताके व्यापक अथमें दव यज्ञ अेक विराट व्यापार है। (अध्याय तीसरेके दसवें ग्यारहवें बारहवें चौदहवें और पन्द्रहवें तथा सोलहवें श्लोकमें देखिये।)

सृष्टिमें सूय प्रकाश जल, आकाश, अग्नि आदि जो प्राकृतिक तत्त्व या शक्तियां ह व सब वदिक अपियोंके देव ह। अुनके द्वारा पजयकी वृष्टि, धान्य, तृण वनस्पति आदिकी सृष्टि अित्यादि जो सब व्यापार चलते ह व विराट यज्ञ ह। अिस विराट प्रवृत्तिके साथ सहयोग दना और अिन सब शक्तियोंकी सेवा करना मनुष्यके लिअ सहज यज्ञ धम है, असे यज्ञ धमका जो पालन करता है वह देवयज्ञ अथवा दैवयाजी है। दवयाजी ही निष्पाप जीवन व्यतीत कर सकता है, अुसका जीवन ही सवभूत हितकर होता है, वही पुरुष निष्पाप है।

देवर्षि [१०–१३], राजर्षि [४–२, ९–३३], ऋषि [५–२५, १०–१३, ११–१५, १३–४], महर्षि [१०–२, ६, २५, ११–२१]

हिन्दू सस्कृतिको पाश्चात्य लोगोंने ब्राह्मण-सस्कृतिका नाम दिया है। अनका कहना है कि ब्राह्मणोंने ही अिस सस्कृतिकी नींव डाली

है अुन्होंका प्रभाव अिस संस्कृति पर है और ब्राह्मण-जीवनको आदर्श ही अिस संस्कृतिमें सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। कुछ लोगोंका कहना है कि यतिधर्मको ही अिस संस्कृतिमें श्रेष्ठ माना है। बादमें यति धर्मका स्थान लिया संतमतने और भक्तिमार्गने। अगर ब्राह्मण-धर्म, यतिधर्म, संतमत और भक्तिमार्गका अेकत्रित विचार करके और चार वर्णोंका तथा चार आश्रमोंका खयाल करके हिन्दू धर्मको कोअी नाम देना हो तो अुसे ऋषिधर्म अथवा आर्षधर्म कहना योग्य होगा। ऋषि ब्रह्मचारी भी थे और गृहस्थाश्रमी भी थे। वे पुरोहितका काम भी करते थे और राज्य भी चलाते थे। भक्तिमार्ग और योगमार्ग दोनों अिन्हींके चलाये हुअे हैं। ज्ञान और अुपासना दोनोंका विस्तार अिन्हींके कारण हुआ है। शहरोंकी स्थापना करना और अरण्यमें आश्रम चलाना दोनों अिन्हींकी प्रवृत्ति है। भारतीय संस्कृतिको आर्ष संस्कृति ही कहना चाहिये।

अब हम ऋषि शब्दका विचार करें। ऋषि शब्द √ऋ धातुसे अथवा √ऋष धातुसे आया है (√ऋ गति प्रापणयोः)। ऋ का अर्थ होता है जाना, पहुँचना, घूमते रहना, प्राप्त करना। ऋषका भी अर्थ होता है जाना, बहना, प्रगति करना और मारना।

ऋषि लोग प्राणके मूल स्रोतके तौर पर जिसकी अुपासना करते हैं अुस पूषा सूर्यको भी अुन्होंने अेकर्षि कहा है, क्योंकि वह अकेला आकाशमें चलता रहता है। हमारे ऋषि भी प्राचीन कालसे अिस भूमंडलमें चलते रहे हैं। चलनेमें ही अुन्होंने अपनेको तेजस्वी और शुद्ध रखा है। चलकर ही वे ज्ञान और संस्कृतिका प्रचार कर सके। वे न केवल पृथ्वी पर ही घूमे, किन्तु ज्ञानके क्षेत्रमें भी अुन्होंने नये नये प्रदेश पादाक्रान्त किये। ये ऋषि जैसे योगप्रवीण थे वैसे ही प्रयोग-परायण भी थे। ऋषि लोग हमेशा प्रगतिके अग्रभागमें ही रहे, अिसलिये अिन्हें क्रान्तदर्शीकी अुपाधि मिली है।

ये ऋषि जीवनसे कभी भागे नहीं। जीवनके प्रयोग करते करते अिन्होंने भूलें भी की हैं, बड़े बड़े पाप भी किये हैं, किन्तु अिन्होंने अपने पाप कभी छिपाये नहीं। भविष्यकालके लोगोंको चेता

वनी देनेके लिअे अिन्होंने अपने पापोंका बयान स्पष्ट शब्दोंमें प्रथित करके रखा है। अिस तरह अिन्होंने अपने पापोंके द्वारा भी समाजकी सेवा की है। असे ऋषि केवल ब्राह्मण वर्णमें ही पैदा हुअे हैं सो नहीं। जनक जैसे राजर्षि वसिष्ठ जैसे ब्रह्मर्षि नारद जैसे देवर्षि पुराणोंमें सुविख्यात हैं। विश्वामित्रने राजर्षि होते हुअे ब्रह्मर्षि पद प्राप्त करनेकी कोशिश की थी। भृगु और गौतम जैसे महर्षियोंके जीवनसे हमको कितनी ही प्रेरणा मिलती है। विप्रर्षि अथवा ब्रह्मर्षि और राजर्षिके समान वैश्यर्षि भी हुअे हैं हालांकि पुराणोंमें अुनका असा नाम लिखा नहीं है। शंबूक समान तपस्वीकी साधनाका आदर क्यों था सो हम नहीं जानते शायद अुन्हें शूद्रर्षि बननेकी अिच्छा रही हो। आचार्योंने तो प्राचीनकाल आर्येतरोंकी भी गणना की है। ज्योतिषशास्त्रमें यवनाचार्यका अुल्लेख आता है। ऋषियोंमें भी यवनर्षि अवश्य हुअे होंगे। अिस सिलसिलेमें टाल्स्टायका नाम ध्यानमें आये बिना नहीं रहेगा। महात्माजीको भी ऋषियोंकी कतारमें गिनना होगा।

(ऋषि शब्द भी देखिये।)

देहम [४–९, ८–१३, १५–१४] देही [२–२२, ३०, ५–१३, १४–२०]

देहका अर्थ होता है शरीर। गीतामें अुसे क्षेत्र भी कहा है। क्षेत्र शब्द अिसलिअे महत्त्वका है कि अुसकी व्याख्या करते हुअे (१३–१ ५ ६) देह या शरीरमें कौन कौनसी बातें आती हैं यह विस्तारसे कहा है। अुस परसे मालूम होता है कि शरीरमें पंच महाभूतात्मक कलेवर अुसकी अिन्द्रियाँ अुनके व्यापार और विषय, बुद्धि और अव्यक्त अिच्छा द्वेष, सुख, दुःख, संघात चेतना धृति आदि सब कुछ आ जाता है। असे सविकार देहमें वास करनेवाले आत्माको देही कहा है।

अेक आत्माको छोड़कर बाकी जो कुछ भी रहता है वह सब मिलकर क्षेत्र अथवा शरीर या देह कहलाता है। [अिसी सिलसिलेमें 'क्षेत्र' शब्द भी देखिये।]

दवम [४–२५, ७–१४, ९–१३, १६–३, ५, ६, १८–१४,]

दवम् यानी देव विषयकम् दव-सम्बधी।
दवताओंके अुद्देशसे किये हुअ यज्ञको दव यज्ञ कहते ह। असे यज्ञोंके द्वारा दवोंकी पूजा होती है। दवका अर्थ नमीत्र अथवा अदृष्ट भी होता है। किसी भी घटनाके सब कारण हम नहीं जानते। जो कारण हम नहीं देख या समझ पाते ह अुन्हें अदृष्ट अथवा दव कहते ह। (१८–१४)

सम्पत् अथवा संस्कृतिके विभागमें दव और आसुर असे दो भाग किये ह जिसका विस्तार सोलहवें अध्यायके प्रथम तीन श्लोकोंमें या है। जिस दवी सम्पत्में ही सामाजिक कल्याणके सब सद्गुण जाते ह।

द्रव्ययज्ञ [४–२८, ३३]

गीता ४–३३ में द्रव्यमय यज्ञका जिक्र है। गीता ४–२८ में द्रव्य विनियोग द्वारा यज्ञ करनेवाले लोगोंका जिक्र है। अपनी साधन सम्पत्ति किसी भी रूपमें परोपकारमें लगाना यह द्रव्ययज्ञ है। जिनके पास धन धान्यादि स्थूल द्रव्य ह वे ही द्रव्ययज्ञ कर सकते ह। ज्ञानयज्ञ तपोयज्ञ जपयज्ञ अित्यादि यज्ञोंकी अपेक्षा द्रव्ययज्ञ स्थूल है अिष्ट और पूर्त अुसके दो विभाग ह। गीताका अभिप्राय है कि द्रव्ययज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है क्योंकि द्रव्यमय यज्ञ जन्म-कर्म फलका आरम्भ कर देता है ज्ञानयज्ञ वैसा नहीं करता।

द्वंद्वमोह [७–२७], **द्वंद्वातीत** [४–२२ ७–२८]

सब प्राणियोंको सुख-दु:खका अनुभव होना ही है। सुख ढूंढना और दु:ख टालनेकी कोशिश करना यह प्राणीमात्रका स्वभाव है। किन्तु मनुष्य-बुद्धिने देखा कि जितने सुख हैं वे सब हितकारी हैं असी बात नहीं है। अुसी तरह जितना दु:ख है वह सब अहितकर ही है असी भी बात नहीं है अिसलिअ सुख दु:खकी प्राणी-सहज प्रेरणासे चलना मनुष्यके लिअ अुचित नहीं है। मनुष्यने यह भी देखा कि सुख

होने ही हप भरित हो जाना और दुःख साथ अद्विग्न या परास्त हो जाना मनुष्यकी प्रतिष्ठाके लिये लज्जाकर है। तीसरी बात मनुष्यने देखी कि सदाचारका फल सुख है और दुराचारका फल दुःख है असा भी निश्चित नियम नहीं है। जिसलिये सुखके और दुःखके साथ कोओ निश्चित नैतिक मूल्य जुड़ा हुआ नहीं है। असी हालतमें अिन दोनोंकी ओर अदासीन रहना ही योग्य है। दुःख आ पड़ने पर हम अुद्विग्न न हो जाय सुखसे लिये लालायित न हो जाय अिसीमें मानवता है।

सुख देनेवाली वस्तुअें हैं लाभ, विजय आदि प्रिय वस्तुअें। दुःख देनेवाली चीजें हैं हानि पराजय आदि अप्रिय वस्तुअें। अिन्हींको — लाभालाभ अिच्छा-द्वेष जयाजय शीत-अुष्ण, प्रिय-अप्रिय, असे परस्पर विरोधी तत्त्वोंको — संस्कृतमें द्वन्द्व कहते हैं। द्वन्द्व यानी जोडी। अिन जोडियोंके मोहसे अथवा असरसे जो मुक्त हैं अुन्हें द्वन्द्व-मोह निर्मुक्त अथवा द्वन्द्वातीत कहते हैं। शुद्ध और आदर्श जीवनका लक्षण ही यह है कि अिन द्वन्द्वोंने चाहे जितने आघात किये तो भी मनुष्य अविचलित ही रहेगा। असेको निर्द्वन्द्व (२-४५, ५-३) भी कहते हैं।

द्वन्द्व-मोहके कारण मनुष्यकी बुद्धि शक्ति और निर्णय शक्ति क्षीण होती है विवेक भी हानी है। स्वमान और स्वहित दोनोंको भूलकर मनुष्य चारित्र्य भ्रष्ट होता है। अिसलिये चारित्र्यवान मनुष्यको चाहिये कि वह द्वन्द्वों पर विजय प्राप्त करे।

कठोपनिषदमें यमराजने नचिकेताको समझाया है कि श्रेय अलग है और प्रेय अलग है। मन्द लोग सुख-दुःखकी प्रेरणाके वश होकर प्रेयको पसंद करते हैं। लेकिन जो धीर यानी बुद्धिमान हैं वे श्रेय प्रेयका विवेक समझकर हितकारी श्रेयको पसंद करते हैं। अुनका भला होता है। जो प्रेयके पीछे पड़ा अुसका नुकसान होता है। (कठ० १-२-१ २)

धर्मकाम, कामकाम [२-७०, ९-२१]

धर्मकाम शब्द कठोपनिषदमें आया है।

धर्म काम अर्थ और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ माने गये हैं। पुरुषार्थका अर्थ होता है जीवनका अन्तिम अुद्देश या जीवनकी कृतार्थ

करनेकी प्रधान प्रवृत्ति। वेदान्तकी यानी सच्ची तात्त्विक दृष्टिसे देखनेसे मालूम होगा कि चरम पुरुषार्थ अेक ही है — चित्ताभय। अिस विश्वाभयको पानेके लिअे प्राकृत मूढ़ मनुष्य तरह तरहके निष्फल प्रयत्न करता है। कामोपभोग द्वारा जीवनको कृतार्थ और सुखी करनेकी कोशिश करता है। बादमें अुसका व्यर्थताका साक्षात्कार होने पर वह दूसरा रास्ता लेता है मोक्षका। अिस तरह चरम पुरुषार्थके लिअे जो दो रास्ते लिये जाते हैं अुन्हींको — काम और मोक्षको — पुरुषार्थ कहा गया है।

अब अिनकी सिद्धिके लिअे अर्थकी आवश्यकता होती ही है। अिसके अलावा कामको सफल करनेके लिअे अुसे अुत्कृष्ट और अुन्नत बनानेके लिअे सदाचारकी यानी धर्मकी भी मदद लेनी पड़ती है।

अिधर मोक्षप्राप्तिके लिअे धर्माचरण अति आवश्यक है। धर्माचरणके लिअे अर्थसे भी बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। अिस तरह काम और मोक्ष दोनोंके मददगार होनेके कारण धर्म और अर्थको भी पुरुषार्थमें शुमार किया है।

मोक्षकी तीव्र अिच्छा जब तक जाग्रत नहीं हुआ है तब तक धर्म अर्थ और काम तीनोंका यथाप्रमाण और परस्पर अविरोधी सेवन करनेका विधान है।

धर्मार्थकामा सममेव सेव्या
य अेकसक्तः स नरो जघन्यः।

गीतामें भी भगवान अपना विभूति-योग कहते हुअे जाहिर करते हैं 'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।' अर्थात धर्मको सम्भालते हुअे जो कामका सेवन है वह मेरी ही विभूति है।

संस्कृतमें अर्थ शब्दसे राज्यव्यवस्थाका भी भाव लिया जाता है। चाणक्यका अर्थशास्त्र सम्पत्तिशास्त्र न होकर राज्य सम्भालनेका शास्त्र है।

जब भीष्माचार्यने कहा था "अर्थस्य पुरुषो दासः अर्थो दासो न कस्यचित" तब अुसका अर्थ हम यों समझते हैं — The individual

is subordinate to the State The Sovereign state is subordinate to no one. राज्य-पूजा धर्मका यह सिद्धान्त है।

अिस अर्थमें भीष्म द्रोण, कृप आदि आचार्य और गुरु सब न्याय अन्याय, धर्म अधर्म आदि विवेक भूलकर दुर्योधनके द्वारा चलायी हुअी राज्य-व्यवस्थाके दास बन गये थे। अिस नये अर्थमें व सबके सब अर्थ-काम थे। अगर वे धर्म-काम भी होते तो अेक-सविनाका जघन्यताअ मुक्त हो जाते।

कामके साथ धर्म और सु राज्य-व्यवस्थाका सम्बन्ध कितना घनिष्ठ है यह नीचेकी पंक्ति बताती है

राजानम् प्रथमम् विन्देत् ततो भार्याम् ततो धनम्।

अनकामी जिस तरह अेकागी और जघन्य होता है अुसी तरह कामकामी भी अेकागी और जघन्यतम होता है और अुसका जीवन अुसकी दृष्टिसे भी कभी सफल और कृतार्थ नहीं होता। न अुसे कभी तृप्ति होती न शान्ति प्राप्त होती है। कामकी अिच्छा करनेवाले कामकाम अथवा कामकामी लोग बड़ी तपश्चर्या करते हैं अुपभोग करते हैं अश्वमेध यज्ञ करते हैं यज्ञ-याग करके स्वर्गमें जाते हैं। वहा स्वर्गीय अुपभोग पाकर अेक-दूसरेकी अीर्ष्यामें जलते रहते हैं और पुण्य क्षीण होने पर (Bank Balance खतम होने पर जिस तरह होटलमें निकाल दिया जाता है अुसी तरह) स्वर्गकी विलास भूमिसे मृत्यु लोकमें फेंके जाते हैं। कष्टसे चढ़ना और अेकाअेक आसानीसे गिरना यही अिन कामकामियोंके भाग्यमें बदा रहता है (९–२१)। संयमी लोगोंको जो स्वास्थ्य मिलता है जो आत्मतृप्तिका अनुभव रहता है जो अचल प्रतिष्ठा अुन्हें प्राप्त रहती है वह और अुसकी शान्ति कामकामी मनुष्योंको नहीं मिल सकती। (२–७०)

अुपनिषदमें धर्मकाम शब्द आया है। अर्थकाम और कामकामके साथ धर्मका विचार करना ठीक है। (तैत्तिरीयोपनिषद् १–११–८)

समाजके आत्यन्तिक कल्याणके लिअे वर्णोंका और आश्रमोंका जो नियमन किया जाता है, जो शिक्षा-दीक्षा दी जाती है और अिसी

समाज-व्यवस्थाकी सफलताके लिअे मनुष्यकी वृत्तियोंको ज्ञान-मर्यादित करनेकी जो साधना बतायी जाती है अुसे धर्म कहते हैं।

अिस धर्मकी स्थापनाके लिअे अपनी बुद्धि और शरीर खपाकर जो समाज-सेवक भारी पुण्य मनसे चिन्ता और प्रयत्न करते हैं अुन्हें धर्मराज कहा जाता है। अुनमेंसे जो सर्वश्रेष्ठ हैं वे सत्यकाम होते हैं। ये सत्यकाम और धर्मकाम लोग अपने समाजको जो अुपदेश देते हैं वही मनुष्य-जातिके लिअे सर्वश्रेष्ठ धर्म होता है।

धर्मसम्मूढचेता [२-७]

अपना कर्तव्य क्या है यह समझने पर भी अुसके अनुसार चलनेकी शक्ति और वृत्ति मनुष्यमें नहीं होती। अैसी स्थिति दुर्योधनकी थी। अुसने कहा है

जानामि धर्मम्, न च मे प्रवृत्तिः।
जानाम्यधर्मम्, न च मे निवृत्तिः॥

सात्त्विक वृत्तिके और शूर अर्जुनके सामने यह सवाल नहीं था। धर्मका ही अनुसरण करनेका अुसका दृढ़ संकल्प था। अुसमें कर्म-शक्ति भी थी। धर्मका स्वरूप निश्चित होने पर अुसके पालनमें वह पूरी शक्ति लगा सकता था। (जब किसी देवांगनाने शापका डर दिखाकर अर्जुनको पापमें फँसाना चाहा तब अर्जुनने प्रलोभन और शापका ख्याल न करते हुअे स्पष्ट जवाब दिया कि मैं शाप सहन करूँगा किन्तु पापका और मेरा सम्बन्ध नहीं बढ़ेगा।) भगवानने भी अर्जुनको विश्वास दिलाया था कि अर्जुन दैवी सम्पत्तिका आर्य पुरुष है।

अर्जुनके सामने पेचीदा सवाल यह था कि अुसका धर्म क्या है? गुरुजनों और स्वजनोंसे युद्ध करना श्रेयस्कर होगा या युद्ध न करना श्रेयस्कर होगा? परस्पर विरोधी वस्तुअें जब समान रूपसे कर्तव्य जैसी दिख पड़ती हैं तब धर्मसंकट पैदा होता है। अुस समय पर सच्चा धर्म क्या है यह अस्पष्ट होनेसे मनुष्यका मन अेक विचित्र मोहमें फँस जाता है। धर्मतः क्या करना चाहिये यह नहीं सूझनेसे मनुष्यका चेतस — मन — सम्मूढ होता है। अिसीलिअे भगवानसे अर्जुन कहता है: 'मैं धर्मसम्मूढचेता बना हूँ।'

अर्जुन धर्म-सम्मूढ़-चेता तो बना था किन्तु अुसमें नम्रता थी, शिष्य भाव था और गुरुके प्रति प्रपत्ति थी शरणागतता थी — "शाधि मां त्वां प्रपन्नम्"। अिसीलिअे वह गुरुकी शरणमें गया। दुर्योधनमें अहंकार था जिसलिअे वह अपने गुरुके पास जाकर अुनका कर्तव्य क्या है यह अुन्हें समझाने लगा।[1] गीताने प्रारम्भसे दुर्योधन और अर्जुन जिन दो प्रधान वीरोंके स्वभाव चित्र बडी खूबीसे दिये हैं।

यहां जो स्थिति अर्जुनकी है वह प्रत्येक मनुष्यकी होती है। धर्म-अधर्मका निर्णय करना सबसे कठिन बात है। जीवनके प्रत्येक व्यवहारमें सब बाजुओंका विचार करके और हर चीजके तारतम्यका तोलन करके निर्णय करना सबसे कठिन काम है और यही सबसे श्रेष्ठ जीवन-कला है। अिस कलामें जब तक हम चित्त-शुद्धिके द्वारा पारंगत नहीं होते हैं तब तक धर्म-सम्मूढ़ता रहती ही है। अिसीको धर्म-संकट भी कहते हैं।

धर्मसंस्थापना [४-८]

लोगोंको धर्मका यथार्थ स्वरूप समझाकर अुनमें धर्मके अनुसार चलनेका अुत्साह और दृढ़ता पैदा करना और सब लोगोंका व्यवहार परस्पर अनुकूल हो अैसी व्यवस्था करना ही सच्ची धर्म-संस्थापना है। जो स्वयं धर्मज्ञ और धर्मनिष्ठ नहीं है वह कभी धर्म-संस्थापना नहीं कर सकता। गीताका कहना है कि काल-बलसे धर्म समय समय पर क्षीण हो जाता है। जैसे अग्निके मन्द होने पर धौंकनी चलाकर अुसे बार बार जाग्रत करना पडता है अुसी तरह धर्मको भी बार-बार संस्करण करना पडता है। अुसे भी धर्म-संस्थापना कहते हैं। अैसे धर्म-संस्थापकोंको अवतार या अवतारी पुरुष कहते हैं। गीता कहती है कि भगवान ही स्वयम् मानव बनकर यह अवतार-कार्य करते हैं।

धर्म-संस्थापनामें व्यवस्थाका तत्त्व प्रधान होता है। और व्यवस्था कभी भी त्रिकालाबाधित और स्थायी नहीं हो सकती। समय समय पर अुसे बदलना ही पडता है। मनु भगवानने कहा है

> अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे।
> अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः ॥ (मनु० १-८५)

हाम न होन पर भी समय बदलनके कारण धर्मका आदर्श और धर्मकी व्यवस्था दोनोंमें सुधार करने पड़ते हैं। यह कार्य सतत चालू रहनका है।

धर्म [२–७, ३३, ४–८ ९–२, ११–१८, १२–२०, १८–७० अित्यादि]

√धृ (धारण) धारण करना पकड़कर रखना आधार देना रहना अित्यादि। समाजको जो धारण करता है प्रजाको अिकट्ठा रखता है वह धर्म है। धर्मो धारयते प्रजा। वस्तुओंके प्रकृति-गुणोंको भी धर्म कहा जाता है — जैसे जलाना अग्निका धर्म है। पिघलना मक्खनका धर्म है। पदार्थोंको भी धर्म कहते हैं। जैसे मनो पुब्बङ्गमा धम्मा।

धर्मका अर्थ मनुष्यके आचरणके नियम अथवा स्मृतिशास्त्र भी है (धर्मशास्त्रम् तु वै स्मृतिः)। लोगोंमें दानको ही धर्म कहा जाता है। यमराजको भी धर्म कहते हैं। सत्य अहिंसा ब्रह्मचर्य अस्तेय, अपरिग्रह अिन पाँचोंको योगशास्त्रने यम कहा है और ये ही मनुष्यके प्रधान धर्म हैं। व्यक्ति और समाजके अुत्कर्ष तथा मोक्षके लिअे ये पाँच यम परमावश्यक हैं।

धर्म अर्थ काम मोक्ष अिन चार पुरुषार्थोंमें धर्मके मानी हैं सदाचार सामाजिक सद्गुण। जब हम धर्मको अुसके शुद्ध व्यापक और कल्याणकारी रूपमें समझा करते हैं तब हम कहते हैं कि धर्म जीवन-व्यापी है सार्वभौम है। अुसका अधिकार जीवनके हरअेक अंग-प्रत्यंग पर होना चाहिये। व्यक्तिगत जीवन सामाजिक जीवन शान्ति शिष्टाचार पालन समाज शासनके नियम राजकारण व्यापार अध्ययन स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध जो कुछ भी जीवनमें आ सकता है वह सब धर्मका ही क्षेत्र है।

किन्तु जब हम प्रचलित भिन्न भिन्न छोटे-बड़े भले-बुरे धर्मोंका विचार करते हैं अुन धर्मोंके पास जानेवाले वहम दुराचार जिन्हें राग-द्वेष अभिमान अन्धता कुरूढ़ियाँ अन्याय अनाचार आज देखते हैं और अिन धर्मोंका असर भी लोगोंके चित्त पर कितना प्रभाव है यह सोचते हैं तब लगता है कि धर्मका क्षेत्र कमसे कम रहना चाहिये। धर्मका

सम्बन्ध राजनीतिसे, शिक्षा-पद्धतिसे आर्थिक व्यवहारसे तनिक भी नहीं रखना चाहिये। धर्म व्यक्तिकी चीज है, घरके भीतर ही वह सीमित रहनी चाहिये अित्यादि।

अब तो लोग धर्मोंके झगडोंसे और धर्म-गुरुओंकी करतूतोंसे अस ऊब आये हैं कि वे कहने लगे हैं कि धर्म जहर है जनताके लिअे अफीम है। धर्मका समूल नाश किये विना मानव-जाति सुखी नहीं हो सकती।

शुद्ध धर्मोंके लिअे धर्म-गुरुओंकी आवश्यकता नहीं है। स्वर्ग-नरकादिके प्राचीन अितिहास भूगोलमें विश्वास रखनेकी जरूरत नहीं है। केवल अपने अपने धर्मके लोगोंकी सख्यावृद्धिसे धर्मकी वृद्धि नहीं होती। अीश्वर पर विश्वास न रखते हुअे भी और ग्रंथोंको प्रमाण न मानते हुअे भी मनुष्य धर्मनिष्ठ हो सकता है। धर्मोंका अभिमान रखनेसे मनुष्य अधिक धार्मिक नहीं होता अपितु अुसकी धार्मिकता घटती ही है।

ये सब बातें ध्यानमें रखकर हमें धर्मका विचार करना होगा।

लेकिन हमें भूलना नहीं चाहिये कि धर्म शब्दका और धर्म निष्ठाका होनेवाला अितना जबरदस्त दुरुपयोग ही बताता है कि धर्म असलमें कितनी ज्वलन्त, तेज और सब-समर्थ वस्तु है। धर्म' का दुरुपयोग देखकर अुससे अूब जाना और अुसका त्याग करना बुद्धि मानीका काम नहीं है। अग्निसे धुआं निकलता है अिसलिअे अग्निको बुझाना भूलना होगी। अग्निको वायुसे प्रदीप्त करके धुअेंको ही ज्वाला बनाना यही बुद्धिमानीका काम है।

धर्मात्मा [९-३१]

धर्मात्माका अर्थ होता है धर्मचित्त सदाचारी। अगर कोअी आदमी महान दुराचारी है तो भी यदि अुसके हृदयमें भगवद् भक्तिका अुदय हुआ तो वह सदाचारी बनता है। अीश्वरके प्रति भक्ति होते ही अुसके सकल्पोंकी शुद्धि होती है, अुसकी निष्ठा अेकाग्र होती है, अुसका आचरण सुधरता है, वह साधु बनता है धर्मपरायण, धर्मप्राण

बनता है। अुसे अटल शान्ति मिलती है। अिसीलिअे भगवान प्रतिज्ञा करते ह कि मेरे भक्तका कभी नाश नही होता।

प्राकृत मनुष्य कानूनके डरसे या लोकनिन्दाके भयसे सदाचारके रास्ते चलता है। अुस पर धर्मका प्रभाव बाहरसे पडता है। वह अपनको धर्म-परतत्र मानता है अुसे हम धर्मतत्र या धर्मभीरु कह सकते ह। किन्तु जब किसी मनुष्यकी वासनायें शुद्ध हो जाती ह तब धर्मकी बातें अुसके हृदयको ही प्रिय लगती ह। अन्दरकी प्रेरणासे ही अुसका आचरण धर्मानुकूल होता है। असे मनुष्यको धर्मात्मा कहते ह। अुसे धर्मपरतत्र नही कहेंगे वह धर्मरूप है — धर्मात्मा है।

धर्म्य [२–३१, ३३ ९–२, १२–२०, १८–७०], धर्माविरुद्ध [७–२१]

धर्म्य = धर्मात् अनपेतम। धर्मसे अविरोधी धर्मानुकूल धर्मप्राप्त, धर्म-वर्धक।

असा काम अथवा अर्थ जिसमें धर्मका विरोध नही है धर्माविरुद्ध होता है। सामान्य मनुष्य वासनाओसे प्रेरित होकर प्रवृत्ति करता है। वह कामोपभोग चाहता है अर्थ-सग्रह करता है शत्रुओका द्वेष करता है और सुख-दु ख पाता है। जीवनशास्त्र कहता है कि काम क्रोध और लोभ ये तीनो नरकके द्वार ह। अिनके रास्ते जानसे आत्माका नाश होता है। अिसलिअे अिन तीनो पर जबरदस्त अकुश रखना चाहिये और वह अकुश हो सकता है धर्मका। कामका अुपभोग अर्थका सग्रह और शत्रुओका विरोध तीनो धर्मके अविरोधी होने चाहिये। न्यायी सज्जनोकी रक्षाके लिअे जो युद्ध किया जाता है अुसे गीताने धर्मयुद्ध कहा है (२–३१)। कामके बारेमें भी गीताने कहा है कि जो काम धर्मका अविरोधी है वही मेरी विभूति है (७–११)। लोभ तो खराब चीज है ही लोभसे अर्थ-सग्रह नही करना चाहिये। अगर अर्थ-सग्रह करना है तो वह भी धर्माविरोधी होना चाहिये।

मोक्षधर्म कहता है कि काम क्रोध और लोभ तीनोका त्याग ही करो — तस्मात् अतत् त्रयम् त्यजत (१६–२०)।

भक्तिमार्गी कहते हैं कि तीनाको ओीश्वर भक्तिकी ओर ही लग दो। महाराष्ट्रके सत-कवि ओकनाथके शब्दोमें 'काम असावा ओीश्वर-भजनी, क्रोध असावा ओिन्द्रियन्मनी।

धारणा

√धृ (धारणे) = पकडना, पकडके रखना आधार देना।

योगशास्त्र कहता है कि चित्तका किसी विशिष्ट स्थानके साथ बध जाना अथवा चित्तको अेक ही स्थान या विषयके साथ बाध देना ही धारणा है। चित्त अेकाग्र करके अेक ही वस्तु या तत्त्व पर अुसे स्थायी रूपमे लगा देना धारणा है।

असी धारणा वषयिक भी हो सकती है और तत्त्वज्ञानमय भी हो सकती है। ध्यान चिंतन और समाधिके लिअे धारणा शक्तिका दृढ होना जरूरी है। [योगधारणा (८–१२) शब्द देखिये]

धीर [२–१३, १५, १४–२४]

√धि धी (धारणे आधारे)। धी याना बुद्धि जिसे है वह है धीर। धीरका मूल और मुख्य अर्थ है बुद्धिमान समझदार या सयाना। बुद्धिमान या धीर पुरुष आगे-पीछेका सोच सकता है अनुभव और श्रद्धासे काम लेता है अिसलिअे कठिन परिस्थिति आने पर अस्वस्थ नही होता है। अपनी बुद्धिको खोता नही। अिस गुणको भी धीरत्व या धैर्य कहने लगे, अिसे अंग्रेजीमें Patience कहते हैं। धीर पुरुषमें धृति तो स्वाभाविक ही होती है। (धृति शब्द देखिये) गीतामें धीर शब्द बुद्धिमान धैर्यवान और धृतिवान अिन तीनो अर्थमें लिया है। 'धीर तत्र न मुह्यति' धीर पुरुष डिगता नहीं है। सुख-दुःख अुसके लिअे समान होनेसे वह अुनसे व्यथित नही होता अविचल और समाहित रहता है।

धृति [६–२५, १०–३४, ११–२४, १३–६, १६–३, १८–२६, २९, ३३, ३४, ३५, ४३, ५१], **धृत्युत्साह** [१८–२६], **धृतिगृहीतया** [६–२५]

√धृ (धारणे, अवस्थाने) पकडना अेकत्र रखना, रहना होना करना, 'लाभहानौ चेत स्थापनम्'।

जिस वस्तुके अवयव ढीले ह अुसे हम रस्सीसे बाधकर मजबूत बनाते ह। रेतीके कणको सीमेटसे बाधकर अेकत्र लाते हैं, आटेको पानीसे बाधकर अुसकी रोटी बनाते है पत्थरोको चूनेसे बाधकर अुनकी अेक दीवार बनाते ह भिन्न भिन्न व्यक्तियोको अिकरारसे बाधकर अुनका सघ बनाते ह भिन्न भिन्न स्त्री-पुरुष प्रेम-बन्धनसे अेक कुटुम्ब बनते ह समान हित-सम्बन्धके कारण अनेक जातिया अेक राष्ट्र बनती ह। परस्पर अनुबन्धसे पूरा विश्व अेक धामरूप समान बन जाता है (यत्र विश्वम भवति अेकनीडम)। सूर्य, चन्द्र ग्रह नक्षत्र, तारे य सब गुरुत्वाकर्षणके कारण विश्वरासमें नाचते ह।

अिन सब अुदाहरणोमें भिन्न भिन्न पदार्थोको अेकत्र लानेवाली और परस्पर सम्बद्ध रखनेवाली जो शक्ति ह Force of cohesion है अुसे धति कहते ह। अुसे धैर्य भी कहते ह धीरज भी कहते ह। स्फटिक, हीरा मणि आदिमें जो Water of crystallisation होता है वह भी धृति है। आकर्षण स्नेह प्रेम आत्मीयता आत्मैक्य ये सब अुसी धतिके रूप ह। अमोमें से अहिंसा और आत्मैक्यका साक्षात्कार होता है। धीर पुरुषमें ही ज्ञानीमें ही, यह धति पूर्णरूपसे प्रकट होती है।

गीताने अिस धतिके भी तीन प्रकार बताये ह। मन प्राण और अिन्द्रिय क्रिया अिनके दृढ योगसे जो धृति पाओ जाती है वह सात्त्विक है। धर्म अर्थ और काम अिन तीनोमें जब मनुष्य फल-कामनाओके कारण दृढ रहता है तब अुसकी धतिको राजसी कहते ह। यह अस्थायी होता है। नीद भय शोक विषाद मद आदि अशुभ और अस्थिर वस्तुओको भी जब मनुष्य मूढताके कारण जिद्दी होकर पकड रखता है तब अुस धतिको तामसी कहते हैं। असे लोग अपने असत्यको दोषोको व्यसनोको और दुराचारी साथियोको छोडते नही ह। न हि गणयति क्षुद्रो जन्तु परिग्रह फल्गुताम। अुन्हें पकडकर रखनेको हो व अपनी निष्ठा समझते ह।

बुद्धिको जब धृतिकी मदद मिलती है तब वह योग सिद्ध करनेमें सफल होती है।

अुत्साह [१८–२६]

अुत् + √सह (मर्षणे तृप्तौ च) सहन करना अिजाजत देना सन्तुष्ट होना।

अुत्साहका अर्थ होता है प्रसन्न प्रयत्न दीर्घ अुद्योग, अुल्लास अुत्सुकता अुत्तेजन।

धृतिका अर्थ विरोधके समय टिकनेका है। अुत्साहका अर्थ स्फूर्तिके साथ आगे बढनेका है। प्रत्येक पुरुषार्थके लिअे धृति और अुत्साह दोनोंकी आवश्यकता होती है। जैसे Lever break में आगे बढनेकी सहूलियत होती है और पीछे हटनेमें रुकावट आती है वैसा ही अिस गुण समुच्चयका कार्य है। आगे बढनेमें अुत्साह मदद देता है और पीछे हटनेसे धृति रोकती है। लेकिन दोनोंके विकासके साथ जब अनासक्ति आती है तभी जीवन-योग सम्पूर्ण होता है।

ध्यानयोग [१८–१२], ध्यानम् [२–६२, १२–६, १२, १३–२४]

√ध्यै (चिन्तायाम्) चिंतन करना सोचना ध्यान धरना।

योगसूत्रमें ध्यानकी व्याख्या की है — तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। जब हम अपने मनको किसी वस्तुके अूपर बिठाते हैं (मधु चूसनेके लिअे जैसे भ्रमर फूल पर बैठता है) तब अुसे धारणा कहते हैं। जब अिसी धारणामें मन अपनी धारणाके विषयके साथ पूर्णतया तल्लीन हो जाता है मनमें दूसरी कोअी चीज आती नहीं, अितना ही नहीं किन्तु मन अुस चीजके साथ अेकरूप हो जाता है तब अुसे ध्यान कहते हैं। [ध्यानमें मन ध्येय-पदार्थका रूप तो धारण करता है किन्तु पदार्थ और मनका द्वैत अुसमें रहता है। अिन दोनोंके अलावा और सब चीजें गायब हो जाती हैं। आगे जाकर जब मन अपने रूपको भी भूल जाता है और ध्यानमें केवल पदार्थ ही रह जाता है तब अुसे समाधि कहते हैं।]

जब धारणा ध्यानमें परिणत होती है और ध्यान समाधिमें परिणत होता है तब अिन तीनोंके अेकसाथ होनेको संयम कहते हैं।

अिन तीनोंके सिद्ध होनेसे बुद्धि (प्रज्ञा) प्रकाशित होती है।

कहा गया है कि मनुष्यका मन अनन्त शक्तिवाला अेक डायनामाजिट है। जिस तरह किसी पहाड़के पेटमें डायनामाजिट रखकर अुसे जलानेसे सारा पहाड़ अेकदम टूट जाता है और अुसके टुकड़े टुकड़े हो जाते हैं, अुसी तरह कोअी भी सवाल चाहे जितना कठिन और जटिल क्यों न हो, अगर हम अपने मनको अेकाग्र करके लगातार अखण्ड अुसीमें पाठ लगा दें और अुसमें शिथिलता और प्रमाद न आने दें, तो असी प्रचण्ड कठिनाअी भी दूर होनी ही चाहिये।

यह हुआ ज्ञानप्राप्तिका अुपाय।

अगर मनुष्य अुत्कट वृत्तिके साथ दीर्घ काल तक पापमें फंसा हुआ रहकर अपने चारित्र्यको नष्टभ्रष्ट कर दे और पापरूप बन जाय, तो भी अगर वह गहरे पापमें या आत्मकृपासे ध्यान करनेमें समर्थ हो जाय और पापसे मुक्त होनेका संकल्प करे तो अुसका चाहे जितना पुराना और बड़ा पाप क्यों न हो वह व्यक्ति अवश्यमेव मुक्त हो जायेगा। ध्यानसे बुद्धि शुद्ध होती है और संकल्प शक्ति बढ़ती है तथा अितना होते ही अीश्वरकी कृपा आ बरसती है। पश्चात्ताप ध्यान और भक्ति अिन तीनोंकी मददसे पापकृत्तम भी साधु बन सकता है।

ज्ञान ध्यान और अीश्वर प्रणिधान तीनोंसे ही मनुष्यकी मुक्ति होती है। ज्ञानसे भी ध्यान बढ़कर है।

मनुष्यके मनकी शक्ति अमर्याद है, किन्तु अुसका सबसे बड़ा दोष है अुसकी चंचलता। यह बन्दरसे भी अधिक अस्थिर है।

चंचलतामें कोअी गुण नहीं है सो नहीं। चंचलताके कारण ही मन सृष्टिकी विविधताका अनायास आकलन करता है और सर्वांगीण अुन्नतिके आन्दोलन सजन कर सकता है। असा कोअी स्थान ही नहीं जहां मनका रथ नहीं पहुंचता है। 'मनोरथानां अगतिर् न विद्यते।' किन्तु चंचलताके कारण मन किसी भी काममें अपनी पूरी शक्ति नहीं लगा सकता। तितलीके समान अूपर अूपर स्पर्श करके अुड़ता फिरता रहता है। ध्यानके द्वारा अुसे अेकाग्र किया जाता है और तभी अुसकी अद्भुत शक्तिका पता चलता है।

ध्यानकी साधनामें अेक कठोर बात यह है कि मनके पाव बाधकर अुसे अेक स्थान पर स्थिर किया जाता है। बादमें किसी भी अेक विषयमें गहराओी तक अुसे डुबाया जाता है। जिस तरह माती लानेका काम अुसके पाससे लेनेके बाद आत्म चिन्तनकी साधना करनेके लिअे और समाधिकी सिद्धिके लिअे आखिरकार अुस मनको मार डालना पडता है। जिस तरह रस सिद्धिके लिअे पारदको मारा जाता है, अुसी तरह साधनाके द्वारा मनको मारा जाता है। ध्यान-योगसे जिस प्रक्रियाका प्रारम्भ होता है।

यदि शलसम पाप विस्तीर्णं बहुयोजनम ।
भिद्यते ध्यानयोगेन, नान्यो भेद कदाचन ॥

(ध्यानबिन्दूपनिषद–१)

नरक

स्वग-नरककी कल्पना सब धर्मोंमें और सब वर्गके लोगोंमें पायी जाती है। अुन्नतिका अतिम स्थान स्वग है अवनतिका नरक। सब धर्मोंमें स्वग नरक दोनोके अितिहास भूगोलका विस्तारस वणन पाया जाता है। विश्वमें स्वग और नरकका स्थान जहा कही भी हो अथवा न भी हो, मनुष्यके हृदयमें और सामाजिक स्थितिमें स्वग-नरककी अवस्था अवश्य ही पायी जाती है। मनुष्यके सकल्प अनुभव और आदशकी हीनतम स्थिति नरक ही है। मनुष्य जब असामाजिक वृत्तियोंके वश होकर पापमें डूब जाता है तब वह नरकावस्था ही है। जिस अवस्थामें मनको जो वदनायें भुगतनी पडती ह वे सचमुच नारकीय यन्त्रणायें ही ह।

No words can tell
The torments of an inward hell

(Byron)

('अुत्सन्नकुलधम शब्द भी दखिये।)

नष्टात्मन् [१६–९]

नष्ट हुअी है आत्मा जिसकी। यहा आत्माका अथ हाना है बुद्धि या स्वभाव। "जिन्हाने अपनी आत्माको खो दिया है' असा भी अथ

ले सक्ते हैं। आत्माका नाश तो कभी होता ही नहीं। किन्तु आत्माके अस्तित्वके बारेमें जिनका विश्वास नष्ट या शिथिल हुआ है अुनके लिअे तो आत्मा मानो है ही नहीं। वे लोग आध्यात्मिक दृष्टिसे सोच ही नहीं सक्ते भौतिक दृष्टिसे आसुरी दृष्टिसे ही व देख सक्ते हैं। असीलिअे अुन्हें नष्टात्माका नाम दिया जा सकता है।

जिनका आत्माकी अमरता पर विश्वास नहीं है वे अिहलोककी ही बात सोचते हैं। **अयम् लोक, नास्ति पर** (कठ० १–२–३६) असी ही जिनकी श्रद्धा रहती है असलिअे असे लोग परलोककी साधनासे भ्रष्ट होते हैं।

असी सिलसिलेमें औशोपनिषद्‌में आया हुआ आत्महन् शब्द सोचना चाहिये। आत्माका कोअी नाश तो नहीं कर सकता। जो लोग आत्माको नहीं पहचानते हैं आत्माका अिनकार करते हैं और अपने जीवनमें आत्माका द्रोह करते हैं वे ही आत्महन् अथवा आत्मघाती हैं।

तैत्तरीयोपनिषद् (२–६१) में कहा है "**असन्नेव स भवति असद् ब्रह्म अिति वेद चेत**"। अगर कोअी मनुष्य परमात्मा नहीं है असी विकृत श्रद्धा रखता है, तो वह स्वयम् असत् रूप हो जाता है। अुसका जीवन नष्ट यानी व्यर्थ होता है।

नातिमानिता [१६–३]

स्वस्य अतिपूज्यत्व-अभिनिवेश =अतिमानिता तस्य अभाव।

गीताने अमानित्वम् का महत्त्व बताया ही है। तो भी दैवी संपत्के गुण समझाते हुअे अमानित्वम् की जगह नातिमानिता कहा है। आत्म गौरव स्वाभिमान आदि शब्दोंसे जो सद्‌गुण व्यक्त होता है अुसकी रक्षा करनेके लिअे शायद अतिमानका निषेध किया है। आत्मानम् नावमन्यत आत्मानम् न अवसादयेत अित्यादि बोधवाक्य ध्यानमें रखकर ही अतिमानिताको बुरा बताया होगा। अन्यथा अमानित्वम् में सब कुछ आ ही जाता है।

नासिकाग्रम् [६–१३] **भ्रुवोर्मध्ये** [५–२७, ८–१०]

योगी लोग जब ध्यान करने बैठते हैं तब न तो आँखें मूँद कर बैठते हैं (आँखें मूँदनेसे नींद आने लगती है) न आँखें खुली रखकर

अिधर अुधर दखते ह (६–१३)। किन्तु दृष्टिको अर्धोन्मीलित रखकर अेकाग्र ध्यान करते हैं। दृष्टि अेकाग्र करनेके स्थान दो हैं — या तो नाकके नीचके सिरे पर अथवा दो भृकुटियोंके बीचमें। जब अन्तकालमें योगी प्राणोंको अूर्ध्वकी ओर खींचता है तब अुन्हें भृकुटियोंके बीचमें ही लाता है।

निग्रह [३–३३, ६–३४], मनो दुर्निग्रहम् [६–३५], आत्मविनिग्रह [१३–७, १७–१६]

नि + √ग्रह (अुपादाने) रोकना, पकड़ना, सजा देना। निग्रह शब्दके अनेक अर्थ ह — पराजय प्राप्ति निभर्त्सना। कभी कभी निग्रह और अनुग्रहकी जोड़ी आती है। अिष्ट व्यक्तिके प्रति हम अनुग्रह दिखाते ह अुसका पुरस्कार करते ह। अनिष्ट व्यक्ति या तत्त्वोंका निग्रह करते हैं, अुनका तिरस्कार करते हैं। निषिद्ध (जघन्य) काम करनेवालेको हम रोकते ह। मन जब वासनाओंकी ओर दौड़ता है तब अुसका निरोध निग्रह करते ह। राजाका राजत्व अुसकी निग्रहानुग्रह शक्तिमें समाया हुआ है। सम्पत्तिशास्त्रमें निग्रह है Tariff और अनुग्रह है Bounty

Policy of Protection के लिये हम निग्रहानुग्रही नीति कह सकते हैं।

योगमें चित्तवृत्तिका निरोध किया जाता है जो आन्तरिक साधना है। केवल बाह्य निरोध या निग्रह व्यर्थ होता है विकृति पैदा करता है अिसलिये वैराग्य और अभ्यासके साथ ही निग्रह करना चाहिये (६–३५)। योगसूत्रमें यही कहा है — अभ्यासवैराग्याभ्याम् तन्निरोध (यो० सू० १–१२)।

जो शान्त है जो मानसिक तप कर सकता है वह अपनी चित्त वृत्तिका निग्रह अच्छी तरहसे कर सकता है। अिसलिये अुसे शान्ति और मनःप्रसाद प्राप्त होते ह (१३–७ १७–१६)। आत्मविनिग्रह शान्तका लक्षण है। वह मानसिक तप भी है।

नित्यसत्त्वस्थ [२–४५, १४–१८]

सत्त्वगुण ज्ञानप्रधान होता है। सात्त्विक मनुष्य स्वभावतः अनासक्त होता है। असकी प्रवृत्ति शुभंकर सप्रयोजन और सप्रमाण होती है। असा स्वभाव जिसने पसन्द किया है असे सत्त्वस्थ कहते हैं। सत्त्वस्थका अर्थ होता है सत्त्वगुण-युक्त।

हरअेक मनुष्यके जीवनमें सात्त्विक वृत्तिके क्षण आ ही जाते हैं। दुर्जनके मनमें जिस तरह सर्वकाल दुर्जनता नहीं रहती चार जिस तरह चौबीस घंटे चोरीका काम या ध्यान नहीं करता अुसी तरह सात्त्विक मनुष्य भी सर्वकाल सत्त्वगुण पर आरूढ़ नहीं रहते। रजोगुण या तमोगुणका कभी कभी जोर हो जाता है। किन्तु जब मनुष्य प्रयत्नपूर्वक दीर्घ काल तक साधनामें जाग्रत रहता है तब सत्त्वगुण अुसका स्वभाव ही बनता है। जिसे सत्त्वसिद्धि अथवा सत्त्व-संशुद्धि (१६–१) कहना चाहिये। छोटे छोटे बच्चे खड़े रहनेके प्रयत्नमें कभी सफल होते हैं कभी गिरते हैं। बचपनके प्रयत्नमें भी असा ही होता है। आगे जाकर जब ये क्रियायें सहज होती हैं तब गिरनेका या असफल होनेका अन्देशा भी नहीं रहता।

जिसी तरह सत्त्वसिद्धि जिसे प्राप्त हुअी है वह सत्त्वगुणसे कभी नहीं गिरता। असेको नित्य-सत्त्वस्थ कहा है।

भगवानने अर्जुनको तीन गुणोंके परे जानेको कहा है। जिसका अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य सत्त्वगुणको भी छोड़ दे। किन्तु सत्त्वगुणकी संकुचितता या मर्यादा छोड़कर अुससे अूंचे अुठनेकी बात है। जिसीलिअ जहां निस्त्रैगुण्य होनेका अुपदेश है वहीं पर (२–४५) नित्य सत्त्वस्थ बननेका भी विधान है।

(सत्त्वस्थ शब्द भी देखिये।)

नित्यसंन्यासी [५–३]

यहां पर भी नित्यका अर्थ अूपरके समान ही है। नित्यसंन्यासी शब्दकी व्याख्या गीतामें ही दी गयी है। जो मनुष्य न द्वेष करता है

न किसी चीजकी आकांक्षा यानी अपेक्षा रखता है सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे परे रहता है वह नित्यसन्यासी है। असेका ही साम्ययोगी भी कहा है।

नियतम् [३–८, १८–७, ९, २३], नियतमानस [६–१५], नियतात्मा [८–२], नियताहार [४–३०], विनियतम् [६–१८], विनियम्य [६–२४], स्वभाव नियतम [१८–४७]

नियत शब्दके मुख्य दो अर्थ हैं। अेक है निश्चित किया हुआ। शास्त्रोंमें जिसके लिअे जो काम आवश्यक या लाजमी बनाया है वह। नियतका दूसरा अर्थ है संयम द्वारा काबूमें लाया गया। नियताहार अुस आदमीको कहते हैं जो अपने आहारका प्रकार और परिमाण संभाल सकता है। खाने-पीनेमें पेटू न बनकर, स्वादेंद्रियको वशमें रखकर जो मनुष्य परिमित आहारका सेवन करता है अुसे नियताहार अथवा युक्ताहार कहते हैं। असी तरह जिसने अपना मन संयम शक्तिके द्वारा काबूमें रखा है वह नियत-मानस है। जिस किसीने अपना शरीर अपना चित्त, मन अपनी वासनायें और अपना स्वभाव संयमके द्वारा व्यवस्थित किया है अुसे नियतात्मा कहते हैं। विशेष रूपसे नियमन करने पर चित्तको विनियत कहते हैं।

पहले अर्थमें नियत शब्द अैसे कर्मोंके लिअे लगाया जाता है जो शास्त्र द्वारा भिन्न भिन्न वर्ण और आश्रमके लिअे नियुक्त किये गये हैं।

नियतकर्मका अर्थ यह भी हो सकता है कि संयम शक्ति, नियमन शक्तिका विकास करके किया हुआ कर्म।

जिस तरह शास्त्रकी ओरसे मनुष्यका कर्म नियत होता है अुसी तरह व्यक्तिके आदर्शके अनुसार अुसके स्थायी स्वभावकी ओरसे भी अुसके कर्म नियत होते हैं। स्वधर्मानुकूल स्वभावनियत कर्म करनेसे मनुष्यको पाप नहीं लगता।

नियम [७–२०], नियम्य [३–७, ४१, ६–२६, १८–५१]

√यम् (अुपरमे)। यहां पर भी नियम शब्दका अर्थ वशमें लानेका ही है। किन्तु योगशास्त्रमें यम और नियमका भेद बताया है।

वृत्तियोंको रोकनेके लिअे जो बन्धन अपने ऊपर लिये जाते हैं अुन्हें यम कहते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह ये सार्वभौम यम हैं।

अिन यमोंकी सिद्धिके लिअे जो साधना अपनाया जाता है अुसे नियम कहते हैं। यमोंमें कभी भी न करनेकी बातें आती हैं। यम = Forbearance. नियमोंमें समय समय पर करनेकी बातें आती हैं। नियमोंमें शौच, सन्तोष, तपस्, स्वाध्याय और अीश्वर प्रणिधान ये पांच बताये हैं।

> यमान् सेवेत सततं, न नित्यं नियमान् बुधः।
> यमान् पतति अकुर्वाण, नियमान् केवलान् भजन्॥
>
> (मनु० ४-२०४)

गीतामें अिन नियमोंका जिक्र नहीं है। वहां नियमका अर्थ केवल मनमें ठाननेका ही है।

निरग्नि [६-१]

संन्यास लेने पर मनुष्य शिखा, सूत्र (चोटी और जनेअू) और अग्नि (नित्य यज्ञ करनेका कर्तव्य) तीनोंका त्याग करता है। वेद सिखानेका काम भी अुसे छोड़ना पड़ता है। यज्ञयागादि कर्मकांडसे वह मुक्त होता है। अैसे आश्रमोक्त संन्यास लेनेवालेको निरग्नि कहते हैं। गीताका संन्यास आश्रमोक्त संन्यास नहीं है। यह बात अिस श्लोक (६-१) से स्पष्ट होती है।

निर्योगक्षेम [२-४५]

अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिको योग कहते हैं और प्राप्त वस्तुकी रक्षाको क्षेम कहते हैं। अैसी पाने-सम्भालनेकी झंझटसे जो मुक्त है अुसे कहते हैं निर्योगक्षेम।

मनुष्यके जीवन निर्वाहके लिअे जो मामूली प्रवृत्तियां करनी होती हैं अुन्हें योगक्षेम कहते हैं (९-२२)। अपने भक्तोंके योगक्षेमका बोझा भगवान स्वयं अुठाते हैं।

निर्वाण, ब्रह्मनिर्वाण [२–७२, ५–२४, २५, २६, ६–१५]

निर + √वा = बुझ जाना।

निर्वाणको निवृति भी कहते ह। निवतिमें आनन्द और सतोपका भाव विशेप है। निर्वाण यानी दीपनिर्वाण — दियेका बुझ जाना। बौद्धामें मोक्षकी जगह निर्वाण शब्द अधिक पसन्द किया जाता है। निर्वाण बौद्ध परिभाषामें शून्य स्थिति है। गीताका निवाण ठोस ब्रह्मनिर्वाण है। वह शान्तिदायक है।

('ब्रह्मनिर्वाण' शब्द देखिये।)

निर्वेद [२–५२], **अनिर्विण्णचेतसा** [६–२३]

निर् + √विद (सत्तायाम)।

निर्वेद शब्दके भले-बुरे अनेक अर्थ ह। निर्वेद शब्द अुत्साहका विरोधी है। अरुचि वैराग्य, अुदासीनता आदि अनेक अर्थोंमें यह शब्द आता है। दुनियाके प्रति अरुचि अथवा योग आदि साधनाके प्रति अरुचिका भाव भी अिस शब्दमें आता है।

निर्वैर [११–५५]

निर्वैर = द्वेपरहित। वीर शब्दसे वैर आया है माना किसीका द्वेप करना वीरोंका स्वभाव ही है। गीताका आदर्श पुरुप निर्वैर यानी अजातशत्रु होता है। बुद्ध भगवान कहते ह कि किसीके अूपर विजय प्राप्त की तो अुसके मनमें वैर आता ही है—जय वेर पसवति।

निवृत्ति [२–५९ अित्यादि], **विनिवर्तन्ते** [२–५९], **विनिवृत्तकामा** [१५–५], **निवृत्तिम** [१६–७, १८–३०]

प्रवृत्ति और निवृत्ति मनुष्य स्वभावके दो प्रधान प्रवाह ह। दोना क्रियात्मक ह। प्रवृत्तिसे सासारिक जीवन बढता है, जटिल होता है। निवृत्ति सासारिक जीवनको कम करनेके लिअे कोशिश करती है। निवृत्ति आत्माभिमुख होती है। अिन दोनाका रहस्य न समझनेवाले लोग आसुर होते ह (१६–७)।

निश्चयम [१८–४]

निस + √चि (चयन) = अिकट्ठा करना।

संशयसे मुक्त होकर किसी निर्णय पर आना निश्चय है। दृढनिश्चय (१२–१४)। जैसी मनुष्यकी वृत्ति वैसा अुसका निश्चय होता है। आसुर निश्चय (१७–६) कृतनिश्चय सुनिश्चितम अि०।

निष्ठा [३–३ १७–१ १८–५०]

नि + √स्था (गतिनिवृत्तौ) स्थिर रहना।

निष्ठाके संस्कृतमें दो तीन भिन्न भिन्न अर्थ हैं। निष्ठा यानी अवस्था गति बुनियाद स्थिरता दृढ भक्ति श्रद्धा वर्तन मार्ग जीवनक्रम अित्यादि।

मनुष्यके जीवनमें आचार और विचार ये दो प्रधान विभाग हैं (अुच्चार यानी वाणी अिन दोनोंके बीच है)। मनुष्यके आचारमें बहुत सी चीजें असी होती हैं जिन्हें वह केवल आदतके कारण या रूढिके जोरके कारण करता है। असे आचरणके द्वारा अुसके जीवनकी निष्ठा व्यक्त नहीं होती। मनुष्यके सब विचारोंमें हमेशा स्थिरता रहती ही है असा अनुभव नहीं है। अनेक कारणोंसे वे बदलते रहते हैं। कभी कभी घड़ीके लंगर (Pendulum) के समान मनुष्य दो विचारोंके बीच झूलता रहता है। अिसलिअे मनुष्यके विचारसे भी अुसकी निष्ठाका अनुमान नहीं निकल सकता।

निष्ठा वह चीज है जो विचारके परिणाम स्वरूप स्थायी जीवन दृष्टिका रूप लेती है और जो यान्त्रिक आचारमें नहीं किन्तु विचारपूर्वक और अुत्साहसे जो प्रवृत्ति सतत की जाती है अुसमें व्यक्त होती है। यह निष्ठा है। मनुष्यके चारित्र्यकी सच्ची बुनियाद होती है। निष्ठाके जो दो अर्थ होते हैं — श्रद्धा और जीवन-मार्ग — अुसकी अुपपत्ति भी हमें यहां मिलती है।

निस्त्रैगुण्य [२–४५]

गुणातीत और निस्त्रैगुण्य दोनों अेक ही हैं। गुणातीत और निर्ममत्वम्‌ अिन दो शब्दोंका विवेचन देखिये।

वेदके दो विभाग माने गये हैं कर्मकांड और ज्ञानकाण्ड। ज्ञानकाण्डमें अुपासना और ज्ञान द्वारा मोक्षप्राप्तिका रास्ता बताया है। अुसमें जहां कर्मका विधान है वह केवल निष्काम कर्म है। वेदके कर्मकाण्डमें सकाम कर्मोंका विधान है। सत्त्व रजस तमस, अिन गुणोंके अनुसार मनुष्यकी जो कामनायें होती हैं अुनकी प्राप्तिके लिअे यज्ञ-यागादि सकाम कर्म बताये हैं। भगवान कहते हैं कर्मकांडी वेद त्रैगुण्य विषय हैं यानी तीन गुणोंकी बातें ही करते हैं। अर्जुनको अगर मोक्षमार्गसे जाना है तो अुसे चाहिये कि वह अिन तीन गुणोंकी झंझटसे परे जाकर निस्त्रैगुण्य बने।

निःश्रेयसकर [५–२]

निःश्रेयसका अर्थ है मोक्ष। श्रेयसका अर्थ है कल्याण हित। जिसी परम जिसमें मनुष्यका परिपूर्ण, आत्यंतिक और निश्चित कल्याण है अुस अवस्थाको निःश्रेयस कहा है।

भगवानका कहना है कि संन्यास और कर्मयोग दोनों ही मोक्ष देनेवाले हैं। तो भी दोनोंमें कर्मसंन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है।

धर्मके दो हेतु अथवा फल बताये जाते हैं अभ्युदय और निःश्रेयस। अभ्युदयका अर्थ है अैहिक अुत्कर्ष और निःश्रेयसका अर्थ है पारलौकिक कल्याण।

नीति [१०–३८, १८–७८]

√नी (प्रापणे) ले जाना रास्ता दिखाना वहन करना। जीवनका क्रम जो निश्चित कर देती है वह है नीति। जिस कार्यपद्धतिसे जीवनका अुद्देश्य सफल होता है अुसे नीति कहा जाता है।

जिनका विश्वास है कि सदाचारसे धर्मपालनसे, सरलतासे जीवन सफल होता है व नीतिका अर्थ करेंगे सदाचार। असत्य वक्रता और कुटिलता तीनोंका अभाव ही नीतिका अुत्तम अर्थ है।

अिसके विपरीत जो लोग मानते हैं कि सीधे व्यवहारसे जीवनमें असफलता ही मिलती है जीवनके व्यवहारमें सज्जन और दुर्जन दोनोंसे काम पड़ता है अिसलिअे धूर्तता तो आवश्यक है ही किन्तु सज्जनोंमें भी अमल करके चलनेके लिअे भी धूर्तता परमावश्यक है।

असत्य न बोलने पर भी जहा सत्य बोलनेमें हानि हो वहा पर मौनसे ही काम लेना चाहिये।

जो लोग अविचारी है किन्तु अधिकार प्राप्त है अैसे लोग दुर्जन न रहे तो भी खतरनाक तो होते ही है। अिसलिअे अुनके साथ भी सीधे व्यवहारसे काम नही चलता। राजा भर्तृहरिने भी कहा है— नयो नृपजने— राजाओके साथ व्यवहार करते हुअे नय यानी नीति यानी policy का अवलम्बन करना चाहिये। अिस नसीहतका जो अवलम्बन करते है वे ही अिस दुनियामें टिक सकते है (तेषु अेव लोकस्थिति)। दसवें अध्यायमें नीतिका अर्थ policy ही लेना चाहिये। जो लोग विजय चाहते है वे नीतिका ही अवलम्बन करें। नीतिनिपुणोकी यह नसीहत है।

गीताके अन्तिम श्लोकमें जब यही नीति शब्द आता है तब वहा अुसका व्यापक अर्थ लेना चाहिये। व्यवहार निपुण लोगोके अनुभवका निचोड यह है कि सरलता और प्रामाणिकता ही सर्वोच्च नीति है— Honesty is the best Policy व्यवहार परायण लोग Policy की दृष्टिसे प्रामाणिकताका स्वीकार करते है। धर्म परायण लोग आत्मिक कल्याणकी दृष्टिसे प्रामाणिकताका अनुसरण करते है। व्यावहारिकोको केवल अभ्युदयकी प्राप्ति होती है धार्मिकोको नि श्रेयस भी मिलता है। सावधानी तो दोनोके लिअे आवश्यक है ही।

नैष्कर्म्यसिद्धि [१८–४९]   नैष्कर्म्य [३–४]

आत्माका स्वभाव निष्क्रियताका है अिसलिअे जो मनुष्य आत्माको पहचान लेता है असमें नैष्कर्म्य आ जाता है। गीता कहती है कि केवल कर्मका प्रारम्भ न करनेसे नैष्कर्म्य प्राप्त नही होता। आलस्यके कारण अनुत्साहके कारण अथवा तकलीफके डरके कारण आलसी कर्म छोड सकता है किन्तु असको कभी सिद्ध पुरुष नही कहता। कर्मोका त्याग ज्ञानपूर्वक होना चाहिये क्योकि जिन पर ही समाजकी सुस्थिति निर्भर है। यज्ञ दान तप आदि पावन कर्मोके अलावा जो दूसरी दूसरी प्रवृत्तिया है अनके फन्देमें नही पडना चाहिये और जो कुछ भी कर्म

किये जाते है वे फलकी जिच्छा छोडकर साम्य बुद्धिसे करने चाहिये। तभी नष्कर्म्य सिद्धि प्राप्त होता है।

नैष्कृतिक [१८–२८]

निष्कृतिका अर्थ होता है पापका क्षालन अथवा साधन। असका दूसरा अर्थ है दुराचार कपट। नैष्कृतिक का अर्थ है वह दुराचारी मनुष्य जो दूसरेके पेट पर पाव देता है दूसरेका भला देखकर जिसके दिलमें जलन होती है।

पडित [२–११, ४–१९, ५–४, १८]

√पड (गतौ नाशने वा) जाना नाश करना। पण्डा नाम बुद्धि विद्या अस्य सजाता अिति पण्डित।

पण्डित = पहुचा हुआ। पण्डा = अज्ञानका नाश करनेवाली बुद्धि या विद्या। पण्डाका अर्थ होता है सदोज्ज्वला बुद्धि आगमजन्यम् ज्ञानम्। सर्वविद्याधिकरत्वम् यत पाण्डित्यम् तत् अुदाहृतम्।

केवल विद्या धारण करनेसे कोअी पडित नही हो सकता। विद्याका जो सदुपयोग कर सकता है वही पडित है। विद्याके द्वारा जिसके जीवनमें चारित्र्यमें जीवन-दृष्टिमें अुन्नति हुअी है वही पडित है। विद्याके भारके कारण जिसकी क्रियाशक्ति क्षीण हुअी है वह पण्डित नही है य क्रियावान स पण्डित।

जिसका शोक नही करना चाहिये अुसका जो शोक नही करता ज्ञानके द्वारा जो कर्म-बधनको जला देता है ज्ञानयोग और कर्मयोगमें जो अभेद देखता है और चित्तवृत्तिमें समत्वका अुदय होनेके कारण जो भले-बुरे ज्ञानी-अज्ञानी पवित्र अपवित्र सबके प्रति अेकसी मनाअी रखता है वह पडित है।

गीताने अपने आदर्श पुरुषके लिअे जिन अनेक विशेषणोंका प्रयोग किया है अुनमें पडित भी है। स्थितप्रज्ञ गुणातीत योगी, भक्त बुध और पडित।

परधम [३–३५]

दूसरेका कतय दूसरेकी जीवन निष्ठा।

हिंदू धम अिस्लाम यहूदी पारसी खिस्ती अित्यादि भिन्न भिन्न सप्रदायोके अनत धर्मोंमें से जो अपना नही है अुसे लोग आजकी परिभाषामें परधम कहते ह। गीतामें परधमका असा अथ नही है। गीताके दिनामें आजके जसे विविध धम थे ही नही। अुन दिनो कुलधम जातिधम और क्षात्रधम आदि वणधम तथा श्रेयीधम माने जाते थे। अुन्हीका यहा जिक्र है।

परमात्मा [६–७, १३–२२ ३१ १५–१७]

आत्मा प्रत्यगात्मा जीवात्मा अन्तरात्मा अध्यात्मा परमात्मा ये शब्द साथ साथ आते ह। मनुष्यकी बुद्धि रहस्यको ढूढती है। असकी नजर पहले बाहर दौडती है (पराड पश्यति)। असलिअ प्रथम विश्व का रहस्य ढूढा जाता है। ढूढते ढूढते मनुष्य परब्रह्म तक पहुच गया। ब्रह्म शब्द बहुत् परसे आया है। सबसे बडे सवव्यापक सवश्रेष्ठ सनातन तत्त्वको ब्रह्म नाम दिया गया है। अुसीको परब्रह्म भी कहते ह। अिसके बाद या साथ मनुष्य अपने अन्दर दखने लगा। कश्चित धीर प्रत्यक आत्मानम अैक्षत (कठ० ४–१)।

अन्दर ढढते प्राण मन बुद्धि अन्त करण आदि पहचानते आगे बढते मनुष्य आत्मा तक पहुच गया। अिस आत्माको ही परमात्मा कहते ह। [यहा आत्मा शब्दका विवेचन भी दख लेना चाहिये।]

अब मनुष्यने देख लिया कि अतरात्मामें और परब्रह्ममें सचमुच काअी भद नही है। जो तत्त्व अन्दर है वही विश्वमें है। असलिअ मनुष्यने परब्रह्मको परमात्माका नाम दे दिया। व्यक्तिकी अुपाधिसे जब ब्रह्म सोचा जाता है तब अुसे जीवात्मा कहते ह जब और व्यापक दृष्टिसे सोचा जाता है तब अुसीको परमात्मा कहते ह। जीवात्मा परमात्माका अभद दिखानेके लिअे 'तत त्वम असि' यह महावाक्य प्रवत्त हुआ है।

(पुरुषोत्तम शब्द भी देखिये।)

परमेश्वर [११-३, १३-२७]

√ओीश (अश्वर्य) राज्य करना, प्रभाव रखना, आज्ञा करना अित्यादि।

परब्रह्म और परमात्मा आदि शब्दोंमें व्यापकत्व स्थायित्व और सनातनत्वका खयाल आता है। परमेश्वर शब्दमें परमात्माके सामर्थ्यका प्रभावका योगमायाका और स्वामित्वका खयाल आता है। अन्यथा ये सब शब्द अेक ही हैं।

साहित्यमें धनी पुरुषको सत्ताधारीको और राजाको भी ओीश्वर या परमेश्वर कहते हैं। परमेश्वर शब्दका अर्थ महादेव शंकर भी होता है।

परमेश्वर सुख-दुःखसे परे होता है स्वतंत्र होता है, सर्वशक्तिमान होता है शानका रक्षक होता है और भूतोंका अनुग्रहकारी होता है।

परम्परा [४-२]

पर यानी दूसरा बादका पीछेसे आनेवाला, बडा। परम्परा यानी अेक स्थितिको छोडकर दूसरी स्थिति दूसरी स्थितिको छोडकर तीसरी स्थिति, असे सीढीमें जानेका क्रम। परम्पराकी खूबी दो बातोंमें है। नित्य परिवर्तन करते हुओ भी पूर्वकी बातोंका सम्बन्ध या अनुबन्ध वह नहीं छोडती। परिवर्तनशीलता यह अेक खूबी और अविच्छिन्न सम्बन्ध यह दूसरी खूबी। असी परम्परा ही प्रगतिका सच्चा व्याकरण है। From Precedent to Precedent daily Self-surpassed यह है सूत्र परम्परावादका। पुराना छोडना नहीं नया लेना नहीं यह सूत्र परम्परावादका नहीं हो सकता किन्तु यह सूत्र अपरिवर्तन वादका या जडवादका हो सकता है। मुर्दा भी अिस सूत्रका अवलम्ब नहीं करता। जीवित शरीर बढता है मृत शरीर सडता है। दोनोंमें अपरिवर्तन नहीं है। परम्परामें क्रम-परिवर्तन रहता है, क्रान्तिमें क्रम शून्य अुथल-पुथल रहती है।

गीतामें योग विद्याको परम्पराप्राप्त कहा है क्योंकि भगवान विवस्वान मनु अिक्ष्वाकु असी अिस योगकी परम्परा है।

परिग्रह [१८-५३]

परि + √ग्रह (ग्रहण) स्वीकार करना आश्रय लेना स्नेह करना वेष्टना विवाह करना अित्यादि। परिग्रहके अनेक अर्थ हैं — स्वीकार द्रव्य मालमत्ता विवाह पत्नी शरीर आलिंगन सवक-परिवार। जिसका आश्रय लेकर मनुष्य अपना काम करता है या जीवित रहता है वह परिग्रह है। मोक्षमार्गमें सब प्रकारका परिग्रह बाधक माना जाता है। योग शास्त्रमें जो अहिंसादि पांच यम बताये हैं अुनमें अपरिग्रह है।

जो मनुष्य अपनी आवश्यकताओंसे अधिक वस्तुओंका अुपभोग करता है वह अस्तेय व्रतका (चोरी न करनेके व्रतका) भंग करता है। जो मनुष्य आवश्यकतासे अधिक वस्तुओंका संग्रह करता है, स्वामी बनता है वह अपरिग्रहका भंग करता है। स्तेय और परिग्रह दोनोंका जो समाज शास्त्र है वह सम्पत्ति शास्त्र है।

परिग्रहका अेक अर्थ होता है शरीर। आत्मा अथवा जीव अिस शरीरमें फँसकर तरह तरहके बंधनोंका अनुभव करता है। लेकिन अिन बंधनोंसे मुक्ति पानेकी कोशिश भी अिसी शरीरकी मददसे वह कर सकता है। अिसलिअे यह शरीर कारागार भी है और बंधन-मुक्तिका साधन भी है।

जिसका हाथ पकड़कर शादी की ((गृह्णामि ते सौभगत्वाय हस्तम्।) अुस पत्नीको भी परिग्रह कहा है। पुराने राजाओंका परिग्रह अन्तःपुर बहुत बड़ा रहता था। शरीर और पत्नीके बाद जितना भी धनधान्य पशु और अुपकरण आदि हम अिकट्ठा करते हैं वह भी परिग्रह है।

परिग्रहका यह व्यापक अर्थ देखनेसे स्पष्ट होता है कि अुसे परिग्रहका संपूर्ण त्याग मरणके बिना हो नहीं सकता। और मरण कोअी मुक्ति नहीं है। बंधन है वासनाका ममत्वका जो मरणके साथ मरता नहीं।

पेट बनकर जब हम हदसे ज्यादा खाते हैं तब वह अन्न शरीरको पोषण नहीं देता किन्तु रोग पैदा करता है। शरीरको ही खाता है। शारीरिक मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियोंको क्षीण करता है।

अनुभव कहता है कि जिस तरह अधिक खानेवालेमें अथवा अधिक सोनेवालेसे साधना नहीं होती, उसी तरह बिल्कुल न खानेवाले और बिल्कुल न सोनेवाले व्यक्तिसे भी साधना नहीं होती। यही नियम परिग्रहके बारेमें भी है। प्राण धारणके लिये शरीर अन्न वस्त्र आदिकी व्यवस्था होती है। इसी तरह जीवन सिद्धिके लिये समाज सेवाके लिये और सततिके उत्पत्तिके लिये कुछ न कुछ अन्न वस्त्र आदि साधनोंकी आवश्यकता होती ही है। साधनोंकी मात्रा हदसे भी कम रखनेसे जीवन-यात्रा इतनी मुश्किल होती है कि जैसा जीवन साधना या सेवाके लिये योग्य नहीं रहता। खेतमें गिरा हुआ धान्य इकट्ठा करके मुट्ठी भुजनी बनाकर उसमें चबाकर खानसे शायद जीवनकी निष्पापना सिद्ध होगी। जीवनका पुरुषार्थ समाप्त करके वानप्रस्थ बने हुओ लोगोंके लिये शायद असे जीवन-क्रमसे सनाप भी होगा। लेकिन जीवन विकास और जीवन-मुक्तिका वह साधन या लक्षण सिद्ध नहीं हुआ है।

समाजके लिये तो युक्ताहार, युक्तविहार और युक्तपरिग्रह यही शुद्ध आदर्श है। इसलिये मनसा त्यक्तपरिग्रह और जीवनमें युक्तपरिग्रह यही आदर्श शुद्ध है असा मैंने पढ़ा है।

परिचर्या [१८-४४]

परि + √चर (गतौ) किसीके आसपास घूमते रहना। अपनी आजीविका पानेके लिये किसीकी व्यक्तिगत सेवा करना (menial service)।

जहां समाज है वहां किसी न किसीकी शारीरिक सेवा करनेके प्रसंग आते ही हैं। किन्तु हरअेक व्यक्तिका धर्म है कि वह अपना काम आप ही करे दूसरोंकी सेवा कमसे कम ले। छोटे बच्चे अति वृद्ध रुग्ण और पागल लोगोंकी सेवा करनी ही पड़ती है। सेवाभावसे यानी करुणासे प्रेरित होकर असोंकी सेवा करना सब वर्णोंके लोगोंका नैमित्तिक धर्म है। धर्म समझकर वेतन लिये बिना जब असी सेवा की जाती है तब वह आवश्यकतासे अधिक नहीं की जाती है। सेवा लेनेवाले भी जो सोच सकते हैं कि बड़े संकोचसे दूसरोंसे सेवा लेने

है तथा असे परोपकार और परावलम्बनसे जल्दीसे जल्दी बच जानेकी कोशिश करते हैं।

किन्तु जब आजीविकाके लिअ कोअी औरोंकी शारीरिक सेवा करता है तब समाजमें आलस्य और परावलम्बन बढ़नेकी संभावना रहती है। जो लोग ज्ञान द्वारा शौर्य द्वारा या कौशल्य द्वारा समाजकी सेवा नहीं कर सकते अनके लिअ परिचर्याका काम ही बाकी रहता है। वे शूद्र कहे जाते हैं। आज्ञाकारितासे और मत्सर न रखते हुअे अन्हें अैसी सेवा करनी चाहिये।

आजीविकाके लिअ परिचर्या करनेवाले अज्ञानी और असंस्कारी शूद्रोंकी संख्या समाजमें कमसे कम होनी चाहिये। अिस वर्णकी संख्या बढ़ना समाजके लिअ बड़ा खतरा है।

परिदेवना [२–२८]

√दिव् (परिकूजन) रोना दुःख करना। संस्कृतमें दिव नामक तीन धातु हैं। अिनमें से अेकका अर्थ है रोना दुःख करना। अिसी परसे परिदेवना शब्द आया है। अिसका अर्थ होता है रोना पीटना और प्रलाप।

परिपन्थी [३–३४]

√पन्थ (गतौ) जाना। पथिन अथवा पन्थाका अर्थ है रास्ता। अिसमें परिपन्थीका अर्थ होता है वह चोर जो रास्तेमें छुपकर बैठता है और आने-जानेवाले मुसाफिरोंको रोककर अुनका सर्वस्व लूट लेता है। अंग्रेजीमें परिपन्थीको Highway man कहते हैं हिन्दीमें बटमार अथवा राहजन कहते हैं। राग और द्वेष ये मनुष्य-जीवन-यात्राके बटमार हैं।

परिप्रश्न [४–३४]

प्रश्न और परिप्रश्नका अेक ही अर्थ है किन्तु परिप्रश्नका विशेष अर्थ यह होता है कि किसी अेक ही विषयका पूर्ण परिचय होनेके लिअे अस विषयके अिर्दगिर्द (परि) अुठनेवाले अनेक प्रश्न बार-बार पूछ

लेना। जो शिष्य गुरुके सहवासमें रहकर ज्ञानकी अुपासना करते हैं और जीवनके प्रयोग करके जीवन-दर्शन स्थिर करनेका प्रयत्न करते हैं अुनके लिअे तीन साधन बताये हैं — गुरुके प्रति आदर, गुरुकी सेवा और परिप्रश्न।

परिमार्गितव्यम [१५–४]

√मर्ग (मार्ग अन्वेषणे) ढूंढना, तपासना, मांगना और विचार करना। किसी चीजको ढूंढनेके लिअे जब हम जाते हैं तो जानेके रास्तेको मार्ग कहते हैं। परिमार्गका अर्थ है ढूंढना। क्योंकि हम किसी चीजको अच्छी तरहसे स्वायत्त करनेके लिअे अुसके अिर्द गिर्द घूम कर अुसके पास पहुंचनेका रास्ता ढूंढते हैं। अर्थात यह ज्ञानप्राप्तिका रास्ता होता है।

परिसमाप्यते [४–३३]

(अिस विवचनमें क्रियापद बहुत कम लिये हैं। यहां पर विशेष अर्थ देखनेके कारण ही अिस क्रियापदको लिया है।) परिसम + √आप (लम्भने) सब ओरसे पूर्ण होना।

गीता कहती है कि मनुष्य जितने भी कर्म करता है अुनके और सब फल तो नाशवन्त हैं, क्षणजीवी हैं, किन्तु सब कर्मोंका अंतिम स्थायी फल ज्ञानवृद्धि है। (ज्ञाने परिसमाप्यते)। अिस परसे काअी कहते हैं कि गीता प्रधानतया ज्ञानपरक है, कर्मपरक गौणतासे है। जो लोग कर्मको प्रधान मानते हैं वे कहते हैं कि कर्मसे प्रारम्भ होनेवाला प्रवृत्ति-चक्र ज्ञानमें पहुंचकर अेक वर्तुल (परिधि) पूरा करता है और वहांसे दुबारा कर्मचक्रका नया प्रारम्भ होता है। ज्ञान तक पहुंचने पर कर्म निवृत्ति नहीं होती। 'परि' अुपसर्गमें परिवर्तनको ये सब खूबियां वे देखते हैं।

पर्युपासते [४–२५, ९–२२, १२–१, ३, २०]

परि = समन्तात् अुपासते (अुपासना शब्द देखिये)।

'परि' का अर्थ है सब बाजूसे। प्रत्येक चीजके और क्रियाके अनेक पहलू होते हैं। अुन सब पहलुओंको देखना, सोचना, आजमाना यह

पापयोनि [९–३२]

पूर्वजन्ममें पाप करनेसे जो हीन स्थिति या जन्म प्राप्त होता है अुसे पापयोनि कहते हैं।

स्त्री, वैश्य और शूद्रको ही कोअी पापयोनि समझते हैं वह गलत है। समाजने अिन लोगोंको अुन्नतिके मार्गसे और मार्गके ज्ञानसे वंचित रखा अिनके प्रति पाप किया अिसलिअे अिन दुर्दैवियोंको पापयोनि कैसे कहें? औरोंकी अपेक्षा अिन्होंने स्वयं कुछ अधिक पाप किया है असा तो सिद्ध नहीं होता। पूर्वजन्मके पापसे अिन्हें यह योनि यानी जन्म प्राप्त हुआ है अैसा अगर मानें तो भी अिसमें कठिनाअी आती है। अगर सब स्त्रियां पुण्य करें और अपना पाप धो डालें तो क्या स्त्री जन्म ही नष्ट हो जायगा?

पापयोनिका अर्थ मनुष्येतर प्राणी भी हो सकता है। अथवा स्त्री पुरुषके पापी व्यवहारसे जिनका जन्म हुआ है असे लोगोंको भी पापयोनि कहा जाता है।

स्त्री पुरुष और शूद्र तो क्या, जो प्राणी भी पापयोनि हैं भगवानका आश्रय लेकर परम गतिको प्राप्त करते हैं। यही कहनेका गीताका आशय है।

पारुष्यम् [१६–४]

परुष = कठोर कठिन। जिस परसे पारुष्य यानी कठोरता कठिनता निर्दयता कठोर वाणी गालियां दयाका अभाव। आसुरी वृत्तिका यह लक्षण है।

पितृव्रता [९–२५]

पिता माता ये दोनों शब्द संस्कृत फारसी लैटिन अित्यादि अनेक भाषाओंमें जैसे पाये जाते हैं। अिनकी धातु कौनसी है सो देखना होगा। √पा यानी रक्षण करना √मा यानी नापना ये धातु शायद होंगे।

पितृ शब्दमें माता पिता और पूर्वज आ जाते हैं। पितृव्रता वे लोग हैं जो श्राद्धादि द्वारा पितरोंकी पूजा करते हैं। जापानके बुशिडो

धर्ममें पितरोंकी पूजाका विधान है। प्राचीन रोमन लोगोंके और मीजिप्शियन लोगोंके धर्ममें सम्राटोंकी पूजा भी होती थी। मृतोंकी आत्माकी पूजा सब प्राचीन धर्मोंमें किसी न किसी रूपमें पाओ जाती है। हमारे पुरखा मृत्युके बाद भी पितर बनकर अपने वंशजोंके हिताहित पर निगाह रखते हैं और संकटके समय अुन्हें मदद करते हैं असे विश्वाससे यह पूजा प्रचलित हुआी है। सन्त-पूजा भी अिसी भावसे प्रचलित हुआी है।

दयानंद सरस्वती जैसे आधुनिक धर्म-सुधारक सवाल अुठाते हैं कि पितरोंकी पूजा अुनके मरनेके बाद ही क्या करनी चाहिये। मा-बापके जीते जी श्रद्धापूर्वक अुनकी सेवा करना, अुनकी आज्ञाका पालन करना यही सच्चा पितृव्रत है — "पितरि प्रीतिम् आपन्ने प्रीयन्ते सर्वदेवता।" पुराणकारोंने स्वर्गके समान अेक पितृलोककी भी कल्पना की है। जो लोग अनन्य भावसे पितरोंकी ही पूजा करते हैं वे पितृलोक जाकर पितरोंको मिलते हैं।

भारतवासियोंमें पितृभक्ति विशेष रूपसे है। लोग मानते हैं कि नये जमानेकी अपेक्षा पूर्वजोंका ज्ञान, अुनकी तपस्या और दूरदृष्टि अधिक थी। स्वर्णयुग भूतकालमें ही था। मनुष्य-जाति दिन पर दिन गिरती ही जाती है असे विचार रखनेवालोंके लिअे भविष्यकालके प्रति आदर या अुत्साह कैसे रहेगा? पितृव्रतके साथ अवतारों पर विश्वास होनेके कारण ही भारतवासी बच गये। गीताने पितृव्रतके प्रति आदर नहीं दिखाया है, हालांकि श्रीकृष्णका अभिप्राय था कि धर्मका सच्चा ज्ञान वृद्धोंकी सेवासे ही प्राप्त हो सकता है।

पुण्य [७–९, २८, ९–२०, २१, ३३, १८–७१ ७६]

√पुण् (शुभकर्मणि) पवित्र बनना, हितकर बनना, धर्मकार्य करना। अिह-परलोकमें जो कल्याणकारक है अुसे पुण्य कहते हैं। धार्मिक्य-वृद्धि करनेवाली हरअेक क्रिया पुण्यकर है।

पुण्य शब्दके अनेक अर्थ हैं। पुण्यका अर्थ है शुभ, प्रिय, सुन्दर सुवासित। पुण्यगन्ध यानी सुवास (७–९)। पुण्य अहन् यानी शुभ दिवस।

पुण्यश्लोक = सुकीर्तिमान महापुरुष अथवा सन्त। पुण्यलोक = स्वर्ग।
पुण्यगृह = मन्दिर।

सत् क्रियाको भी पुण्य कहते हैं और औश्वरके दरबारमें सत् क्रियाके परिणामस्वरूप हमारी जो मजाअी जमा रहती है और जिसके फल पानेके हम अधिकारी रहते हैं अस थातीको भी पुण्य कहते हैं। अिसलिअे धर्मशास्त्रमें पुण्यका संग्रह करनेकी और पुण्य-संग्रह क्षीण होनेसे स्वर्गसे गिर जानेकी बातें आती हैं। गीतामें भी (९-२१) जिसका जिक्र है। पुण्यवान लोगोंको भी पुण्य कहते हैं (९-३३)।
(अत्समकुलयम शब्द भी देखिये।)

पुत्र

पुत् नाम नरकात् त्रायते अिति पुत्र। निपुत्रिक आत्मीको पुत् नामक नरकमें जा गिरना पड़ता है। अस दुर्गतिसे जो बचाता है सो पुत्र है असा कहा गया है। पुत्र अपने माता पिताको नरकसे बचाता है और अुनके लिअे अच्छे लोक प्राप्त कराता है असी मान्यता हमारे पूर्वजोंकी थी।

अिस पर उपनिषद्-कालके अृषियोंने कहा कि पुत्रका केवल जन्म देनेसे माता पिताको शुभ लोककी प्राप्ति नहीं होती। पुत्रको अच्छी शिक्षा-दीक्षा देनेसे ही वह लोक प्राप्तिमें मदद कर सकता है। पुत्रम अनुशिष्टम लोक्यम आहु। अनुशासन (शिक्षा) प्राप्त पुत्र ही लोक प्राप्तिकर है असा बताया गया है।

पुराणम् [२-२० ८-९ ११-३८, १५-४] **सनातन** [१-४० २-२४ ४-३१, ७-१०, ८-२० ११-१८, १५-७], **पुरातन** [४-३,

√पुर (अग्रगमन) आगे जाना हो चुकना। पुरा = पूर्वकालमें सदा = हमेशा। जिन शब्दोंको तन प्रत्यय लगाकर पुरातन और सनातन शब्द बनते हैं। पुरातन = पूर्वकालीन। सदातनका रूप होता है सनातन = सर्वकालीन जो हमेशा है असा। पुराण शब्दकी व्युत्पत्ति ध्यान देने लायक है। पुरा अपि नवम अिति पुराणम्, पुराना होने हुअे

भी जो नयाका नया रहता है और जिसकी अुपयोगिता कम या क्षीण नहीं होती वह पुराण है। सूर्यनारायण वेद भगवान परमात्मा ये सब पुराण पुरुष हैं।

सृष्टिकी अुत्पत्ति, अुसका विस्तार मन्वन्तरादि काल मनुष्य जातिके वंश और राजाओंकी करतूतें अित्यादि बातें देकर तथा देश-वर्णन धर्म-मीमांसा धर्म-संवाद युद्ध-वर्णन युगोंके स्वरूपादि — धर्म संस्कृति विषयक सब बातें जिसमें दी जाती हैं असे सार्वभौम पठनीय ग्रंथोंको भी पुराण कहते हैं। गीतामें पुराण शब्द जिस अर्थमें नहीं आया है। अितिहास और पुराण मिलकर संस्कृतिका बयान पूरा होता है।

जो चीज या तत्त्व जीर्ण होता ही नहीं जो हमेशाके लिअे है अुसे सनातन कहते हैं। जो सनातन है वह हमेशा नित्य नूतन रहता है जैसे सूर्योदय सूर्यास्त सत्य-अहिंसादि जीवन-तत्त्व और जिनके आधार पर रचा हुआ हिंदू धर्म।

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वंतराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

पुरुष [२–१५, २१, ६०, ३–४, १९, ८–४ ८, १०, २२, ९–३, १०–१२, ११–१८ ३८, १३–१९, २०, २१, २२, २३, १५–१६, १७, १८, १७–३]

पुरि शेते अिति पुरुष। पुर = शरीर। शरीरके अन्दर जो रहता है वह जीवात्मा या आत्मा पुरुष है। अिसमें स्त्री-पुरुषका भेद नहीं है। पुरुषमें स्त्रीका भी अन्तर्भाव है। पुराने साहित्यमें पूरुष भी लिखते हैं। पुरुष = अन्तर्यामी।

सांख्योंकी परिभाषाके अनुसार पुरुष और प्रकृति सृष्टिके मुख्य तत्त्व हैं। अिनमें से पुरुष केवल साक्षीरूप है अथवा अध्यक्ष है। सुख दुःखका अनुभव करता है और बाकी सब कार्य तो प्रकृति ही करती है। सत्त्व रजस तमस ये तीन गुण प्रकृतिके ही हैं। अिन्हींके विस्तारसे

विश्व बनता है। पुरुष जो प्रकृतिके बाबत केवल साक्षी है, अपनेको अविद्याके कारण कर्ता मानता है और बन्धनमें आ पड़ता है। गीताके पन्द्रहवें अध्यायके अन्तमें (१५–१६ १७ १८) क्षर पुरुष अक्षर पुरुष और अिन दोनोंसे पर असा अुत्तम पुरुष अथवा पुरुषोत्तम अिन तीनोंका वर्णन है। सब भूतोंको क्षर पुरुष कहते हैं। कूटस्थ जीवात्माको अक्षर पुरुष कहते हैं। और अिन दोनोंको धारण करनेवाले परमात्माको अुत्तम पुरुष कहते हैं। वह अव्यक्त और नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभावका होता है। अुसीको नारायण कहा है।

पूतपापा [९–२०] पूता [४–१०]

√पू (पवने) स्वच्छ करना पवित्र करना धो डालना। अपना पाप जिन्होंने धो डाला है अुन्हें पूतपाप कहते हैं। अिस तरहसे जो शुद्ध हुअे हैं धोये हुअे हैं अुन्हें पूत कहते हैं। संस्कृतमें दूसरी अेक धातु है √पूय् (विशरणे दुर्गन्धे च) फाड़ना दुर्गन्ध देना। पू और पूय् दोनोंका भूत कृदन्त अेकसा पूत बनता है। अिस परसे विशेषण आया है पूति = दुर्गन्धयुक्त (गीता १७–१०)।

शास्त्रमें कहा गया है कि यज्ञमें तैयार किये हुअे सोमरसके पानसे सब पाप धोये जाते हैं। सोमवल्ली क्या चीज है सो तो आज कोओ नहीं जानता है। सोमके नामसे कुछ वनस्पतियां बताओ जाती हैं सही किन्तु अुनमें सोमके गुण कम नहीं पाये जाते। किसी खास वनस्पतिके रसके द्वारा शरीर शुद्धि होती हो तो वह समझने लायक बात है। किन्तु अस रसके पानसे पाप धोया जाय यह तो केवल श्रद्धाका ही फल हो सकता है। अिसलिअे सोमपानेन पूतपापा शब्द किल्बिषा भवन्ति' यह बात ध्यानमें नहीं आती। किन्तु 'पालनपरम् पूता यह बात अवश्य मानी जा सकती है।

सोमका अर्थ होता है चन्द्र। वह है मनका देवता। अिसलिअे सोमरसका अर्थ मनको सकल्प शक्ति हम करें तो सकल्प शक्ति द्वारा पाप धोया जाता है यह बात ध्यानमें बैठती है। अनुभव भी वैसा ही है।

पूर्वाभ्यास [६-४४], अभ्यास [६-३५, ८-८, १२-९, १०, १२, १८-३६]

अभ्यासका मूल अर्थ है कोअी चीज बार-बार करना। बार बार करनेसे आदत पडती है आदत पडनेसे सौकर्य और कौशल्य बढता है बादमें आदत ही स्वभाव हो जाती है (Habit is second nature)। सफलता पानेका सबसे अच्छा अुपाय अभ्यास ही है गीताने अभ्यासको योग कहा है। 'सर्वत समाहृत्य चित्तस्य अेकस्मिन आलम्बने पुन पुन स्थापनम अभ्यास।' अभ्यास यानी आवर्तिमें चित्त न रहा तो वह केवल यांत्रिक क्रिया बनती है। अुससे सौकर्य जरूर बढता है किन्तु और प्रगति नही हो सकती। अिसलिअे गीता कहती है कि अभ्यासकी — (केवल अभ्यासकी) अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ है और ज्ञानसे तो ध्यान श्रेष्ठ है। क्योंकि ध्यान तो ज्ञानका ही अभ्यास है। मनुष्य जो जो अभ्यास या ध्यान करता है वह अुसकी अविनाशी पूजी है। अगर पूर्वजन्ममें किसी चीजका अभ्यास किया है तो अिस जन्ममें अुस पूजीसे ही मनुष्य अिस जन्मका प्रारम्भ करता है और वेगसे आगे बढता है। बाह्य साधन-सम्पत्तिका नाश हो सकता है आन्तरिक साधन-सम्पत्तिका नाश है ही नही। जन्मान्तरमें भी वह काम आ सकती है।

पूर्वे [४-४५]

=पूर्व कालके लोगो द्वारा पूर्वजोंके द्वारा।

मनुष्यमें पूर्वजोंके प्रति आदर-बुद्धि स्वभावत रहती ही है। अुनका अनुभव अुनका ज्ञान और अुनकी दूरदृष्टि नये जमानेमें नही पायी जाती असा मान लेनेकी नवीनाकी रुचि सब जानते है। किन्तु अनुभव तो असा निरपवाद नही है। प्रगतिके और परागतिके युग आते जाते रहते है सर्वत्र प्रगति ही है अथवा परागति ही है असा अेकमात्र नियम नही है। नये नये प्रयोग करना, प्रगतिके बारेमें श्रद्धा रखना तो यौवनका स्वभाव है ही। तो भी अुत्साहमें दृष्टि अंधी न बन जाय और पुरानी ज्ञानराशिके

प्रति अनास्था न हो जाय असलिअ प्राचीनाके प्रति आदरभाव रखना आवश्यक है।

यह भी देखा गया है कि बहुतसी बातोंमें जिसे हम नयी चीज कहते हैं वह प्राचीनाकी आजमाओी हुआ पाओी जाती है। असीलिअ तो अंग्रेज यह अर्ध-सत्य चलाया है There is nothing new under the sun हमारे यहां भी उत्साहके साथ कहा गया है — व्यासो च्छिष्टं जगत सर्वम।

पृथक्त्व [९-१५, १८-२१ २९]

पृथक यानी अलग अलग। भेद पर ध्यान देकर सृष्टि और जीवनको ओर देखनेकी दो प्रधान दृष्टियां होती हैं। सत्त्वगुणी दृष्टि भेदको समझ तो लेती है किन्तु असे गौण असार अथवा केवल भास मात्र मानती है और भिन्न वस्तुओंमें जो मूलगत अभेद है असीको महत्त्व मानती है। अधर रजोगुणी वृत्ति अेक्ताको भूल जाती है और भेदको ही सच्चा और बड़ा मानकर असीके साथ समझौता करनेकी कोशिश करती है किन्तु अिस व्यापारमें आज तक कभी भी कामयाब नहीं हुआ है। हम भेदका नाश नहीं कर सकते किन्तु असका तिरस्कार कर सकते हैं असकी तुच्छता या निःसारता समझकर असे ignore कर सकते हैं। Ignore करना ही तिरस्कार है। व्यावहारिक और पारमार्थिक दोनों दृष्टिसे देखना ही सच्ची बुद्धिमानी है। जो लोग अेकत्वकी भी अवमानना करते हैं और विश्वतामुखम् कहा पृथक्त्वकी भी अवमानना करते हैं वे अमान्य और निःश्रेयस दोनोंको प्राप्त करते हैं।

प्रकाश [७-२५ १४-११] अप्रकाश [१४-१३]

प्र + √काश (चमको) प्रकाश करना। प्रकाशके दो अर्थ हैं। अेक है उजाला। अप्रकाश = अंधेरा अंधेरा। दूसरा अर्थ है — ज्ञान अथवा प्रकट जाना हुआ। अज्ञान अंधेरेके समान है जिसलिअ ज्ञानको प्रकाश कहते हैं असको सूक्ष्म अुपमा करते हैं (५-१६ १३-३३)। ज्ञान ही सच्चा प्रकाश है जिसकी काली छाया नहीं है। प्रकाशमें हर चीजको

सच्चा स्वरूप हम जान सकते हैं। जिसलिये सफेद काला भला बुरा छोटा बडा आदि भेद अथवा विवेक हम कर सकते हैं। अप्रकाश तो अत्यंत अविवेक है। सत्वगुण निर्मल होनेके कारण स्फटिक मणिके समान प्रकाश देता है (१४-६)।

जो गुणातीत हो गया है वह तो सत्वगुणी प्रकाश रजोगुणी प्रवृत्ति और तमोगुणी मोह तीनोंके प्रति समानिक औदासीनता धारण करता है।

प्रकृति

प्रकृति, विकृति और संस्कृति ये हमारे महत्वके शब्द हैं। विकार अथवा विक्रिया ये दो शब्द भी जिन्हींके साथ हैं। प्रकृतिके मानी हैं कुदरत या सृष्टि और असका असली स्वभाव। जिस परसे प्रकृतिके अनेक अर्थ होते हैं।

सांख्यदर्शनने पुरुष और प्रकृतिका भेद बताया है। यह सारी सृष्टि — पंच महाभूत और मन बुद्धि अहंकार जित्यादि सब कुछ — प्रकृति है और जिनमें साक्षीरूप रहकर जिन्हें प्रेरणा देनेवाले आत्मतत्वको पुरुष कहा है। प्रकृतिके भी दो भेद हैं — परा और अपरा।

सामान्य भाषामें हम मूल स्वभावको प्रकृति कहते हैं। असमें जब बिगाड होता है स्वास्थ्य नष्ट होता है या बदलता है तब असे विकृति कहते हैं।

मनुष्यका अनुभव है कि असकी प्रकृति अपना मूल स्वरूप स्थायी रूपसे पकड नहीं रखती। असे या तो प्रयत्नपूर्वक सुधारकर संस्कृतिका रूप दिया जाय नहीं तो जिस तरह दूध आप ही आप बिगड जाता है प्रकृतिकी विकृति होती है। दहीको दूधका विकार कहा जाता है लेकिन हमारी दृष्टिसे दही दूधकी संस्कृति ही है। दूधको बिगडने न देकर असमें अिष्ट परिवर्तन करनेसे दही बनता है। असा न करने पर दूध सड जाता है। मनुष्य अपनी व्याख्याके अनुसार व्यापक अर्थमें दहीको विकार कहेगा अथवा लाभको ध्यानमें रखकर असे संस्कार कहेगा।

सृष्टिमें दुःख दोष और मरण ही अधिक है असा देखकर जिसका मन मायूस हुआ है असने कहा है कि मरण ही हमारी प्रकृति है।

बीचमें थोडे समय जीवित दशामें हम रहते हैं अुसीको हम विकृति क्या न कहें?

मरणं प्रकृतिः शरीरिणाम् विकृतिर् जीवितम् अुच्यते बुधैः।

यह मायसीकी भाषा है तत्त्वज्ञानकी नहीं। तत्त्वज्ञान कहेगा — जीवन और मरण दोनों प्रकृतिके अन्तर्गत ही हैं। दोनों अकसे शुभ हैं। जन्म मरणके परे जाना यही है आध्यात्मिक संस्कृति। जिसीको गीतामें भूत प्रकृति मोक्ष कहा है। भूतमात्रकी प्रकृति अविद्यालक्षणा, अव्यक्ता है। अुसके परे जाना भूत प्रकृति-मोक्ष है।

संस्कृतमें राजाकी प्रजाको भी प्रकृति कहते हैं। प्रजाके अुत्कर्षके लिअे मेहनत करके समाजको सन्तुष्ट रखना यही राजाका कर्तव्य है। राजा प्रकृति रंजनात्। राजाके कर्मचारियोंको भी प्रकृतिपुरुष कहते हैं। (जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः।)

सत्त्व रज-तम ये प्रकृतिके तीन गुण हैं। प्रकृतिका असर जन्म जन्मान्तरमें भी पाया जाता है।

प्रजहाति, प्रजहि, प्रजहीहि

ये अनेक रूप हा धातु परसे आये हैं। हा = छोड़ देना फेंकना। असा ही अेक रूप है जहि लेकिन वह हन् (= मारना)का रूप है। गीताके तीसरे अध्यायके अंतमें प्रथम कहा है कि ज्ञान विज्ञानका नाश करनेवाले पापीका त्याग करो (३–४१)। आगे (३–४३) कहा है कि कामरूप दुरासद शत्रुको मार डालो।

प्रजहीहि की जगह प्रजहि असा भी अेक पाठ है जिसका अर्थ होता है मार डालो।

प्रजा [३–१० २४ १०–६] प्रजापति [३–१० ११–३९]

√जन (प्राद्रुभवि) जन्म लेना जन्म देना। प्रजाका अर्थ है सन्तति अथवा जनता अथवा रयत रियाया। ब्रह्मदेवने जिनको पैदा किया वे सब अुनकी प्रजा ही हैं और ब्रह्मदेव हैं प्रजापति। पुराणोंमें ब्रह्मदेवके पैदा किये हुअे दस प्रजापतियोंका अुल्लेख है अुन्होंने शेष सब प्राणी पैदा किये। (अिसी सिलसिलेमें गीता १०–६ देखिये।) ब्रह्मदेवने

प्रजाको यज्ञके साथ पैदा किया और दोनोंको परस्परावलम्बी बनाया
असा यज्ञ रहस्य गीताने प्रगट किया है (३–१० ११)।

प्रजामें अमर मकर पठ गया तो प्रजाका नाश होता है (३–२४)।

शास्त्रमें राजा और प्रजाका सम्बन्ध पिता-पुत्रके समान बताया है। अिमीसे राजधर्म और प्रजाधर्म पैदा हुअे। सामान्य कुटुम्बोंमें पिता अपने लडकोंको अनाज आश्रित और विधेय मानता है। फिर वे बच्चे बडे और सयाने हुअे तो भी पिताकी वृत्तिमें वही भाव कायम रहना है। राजा लोग भी अिस पिताके अपमानके वश वही गल्ती करने लगे। हमारा असली आदर्श था कि राजा प्रजाका अनुरंजन करे प्रजाके स्वाभाविक नेताओंकी राय लेकर असके अनुसार राज्य करे हर महत्वके काममें प्रजाके प्रतिनिधियोंकी राय लेकर असके अनुसार काम करे।

राजा स्वच्छंदी बना तो प्रजाका अधिकार था कि वह राजाको गद्दीसे अुतार दे। गीतामें प्रजाधर्मका विवरण करनेका प्रसंग अुपस्थित नहीं हुआ, किन्तु यज्ञधर्ममें सब कुछ आ गया है।

प्रज्ञा [२–५७, ५८, ६१, ६७, ६८] **प्रज्ञावाद** [२–११],
स्थितप्रज्ञ [२–५४, ५५]
मेधा [१०–३४], **मेधावी** [१८–१०], **दुर्मेधा** [१८–३५]
बुद्धि [२–३९ ४९, ३–४२, १८–२९ अित्यादि],
अकृतबुद्धि [१८–१६]

प्र + √ज्ञा (अवबोधने) जानना।

प्रज्ञा = बुद्धि ज्ञान शक्ति, विचार शक्ति।

मेधा यानी बुद्धि, धारणा-शक्ति। √मिध या √मेध या √मेथ धातु। प्रज्ञामें किसी विषयके अंदर प्रवेश करके अुसका रहस्य ढूंढ निकालनेकी शक्ति व्यक्त होती है। मेधामें प्राप्त किये हुअे ज्ञानको धारण करनेकी स्मरणमें अुपस्थित रखनेकी शक्तिका बोध होता है।

अिसी सिलसिलेमें योग और क्षेमके बीचके भेदका स्मरण करना। बुद्धिके द्वारा सत और असतका बोध होता है। बुद्धिके

बारेमें अिसके पहले लिया है। विवेक शब्दका अर्थ होता है भेदका भेद सारासारका भेद जाननेकी शक्ति।

जिसने अपनी बुद्धि शुद्ध और तेज करनेका काम नहीं का है वह अकृतबुद्धि है। अकृतबुद्धि असत्कारिताका लक्षण है। दुर्मेधाका अर्थ होता है स्मरणशक्ति और बुद्धि हीन होनेके कारण जो बुरा बातें ही पकड़ कर रखता है छोड़ता नहीं।

प्रणव [७–८]

प्र + √नु = आवाज करना स्तुति करना कीर्तन करना। अिस परसे प्रणव आया है। ॐकारको प्रणव कहते हैं। सब वर्णोंका सार अिस ॐकारमें आ जाता है। [अिसका रहस्य माण्डूक्य अुपनिषद्में और गौडपादकी कारिकाओंमें दिया गया है। छान्दोग्य अुपनिषद्में भी प्रणवकी अुपासना बताओी है।]

छान्दोग्य ऋषियोंको ध्यानावस्थामें सुनाओी दिया कि सूर्य आकाशमें ॐ स्वर करते ही दौड़ता है। सब प्रार्थनाओंका सार ॐ ही है। भूत भविष्य वर्तमान सब ॐ ही है। आत्माका नाम भी ॐ है। ॐकारकी जो सात तीन अथवा अुससे भी अधिक मात्राओं हैं वे सब जागृति स्वप्न सुषुप्ति आदिकी ही प्रतीक हैं।

जब कोओी मनुष्य अपनी सम्मति व्यक्त करना है हां कहना चाहता है तब ॐ ही कहता है। अिस तरह ॐ सनातन हां का अस्तित्वका आस्तिक्यका श्रद्धाका द्योतक है। ॐ में सब देवताओंका अन्तर्भाव होता है। सब मन्त्रोंका यह बीज है। सब मन्त्रशास्त्रका यह विधान है। अध्यात्मशास्त्रका आरम्भ और अंत ॐकारसे ही है।

प्रणिपात [४–३४] **प्रणिधाय** [११–४४] **सेवा** [४–३४]

प्र + नि + √पत् = पांव पड़ना।

ज्ञान प्राप्तिके साधनोंमें मुख्य होते हैं निरीक्षण परीक्षण और प्रयोग। किन्तु यह हुआ भौतिक ज्ञान दुनियाका ज्ञान। ज्ञानेन्द्रिय आध्यात्मिक ज्ञान तो ज्ञानी गुरुके द्वारा ही मिल सकता है। वे अैसा ज्ञान अधिकार यानी योग्यता देखे बिना नहीं देते। हमारी सच्ची जिज्ञासा और

पारमार्थिकताका सबूत जब हम देंगे तभी वे अुपदेश दे सकते हैं। अिस पर भी हमारी ओरसे कुछ मेहनत करनेकी बाकी रहती है। ज्ञानी गुरुका आचरण और अुनकी वृत्ति देखकर ही हमारी तैयारी हो सकती है। केवल शब्दोंसे जो बात ध्यानमें नहीं आती वह सत्संगसे मिलती है। नम्रताके बिना हमारी चित्तवृत्ति अनुकूल नहीं होती। यह नम्रता बनानेके लिअे और बतानेके लिअे प्रणिपात (नमस्कार) जरूरी है। प्रणिपातके द्वारा हम अपनी नम्रता और श्रद्धा व्यक्त करते हैं। सेवाके द्वारा अेक तो हम गुरुसे अुऋण होते हैं, दूसरे गुरुका काम करनेसे अुन्हें फुरसत मिलती है जिसमें वह ज्ञानदानका काम कर सकें। लेकिन अिनसे भी बड़ी बात यह है कि सेवाके द्वारा ही शिष्य गुरुका सच्चा परिचय पा सकता है। अिसीलिअे सेवक शिष्योंको अन्तेवासी (नजदीक रहनेवाला) कहते हैं।

आजकल शुश्रूषा शब्द सेवा या परिचर्याके अर्थमें प्रयुक्त होता है किन्तु अिसका असली अर्थ — सुननेकी अुत्कट अिच्छा अितना ही है। गुरु जैसा कहें वैसा करनेकी और अुनका काम करनेकी तत्परता भी शुश्रूषाका अर्थ है। अिस तरह शुश्रूषामें श्रद्धा जिज्ञासा परिप्रश्न नम्रता और सेवा ये सब बातें आती हैं। श्रोतुम् अिच्छा शुश्रूषा। जिसी अर्थमें अुपासना शब्द भी आता है। अुपासना यानी पास बैठना।

प्रणिपात' यानी नमस्कार द्वारा शरीरको झुकाकर।

प्रतिजाने [१८-६५], प्रतिजानीहि [९-३१]

प्रति+ √ज्ञा (अवबोधने नियोग)। ज्ञा=जानना किसीका नियुक्त करना। प्रतिजाने=मैं प्रतिज्ञा करता हूँ सत्य कहता हूँ वचन देता हूँ। प्रतिजानीहि=हे अर्जुन, तू अपने मनके साथ निश्चय कर खात्रीसे मान ले (कि मेरे भक्तका कभी भी नाश नहीं होता है)। प्रतिजानीहि में दो भाव हैं (१) स्वयम् निश्चयपूर्वक जान ले और (२) अपना यह विश्वास निःशंक होकर दुनियाको जाहिर कर कि ।

जिस चीजको हम निश्चयपूर्वक सिद्धान्तके तौर पर जानते हैं अुसीको हम प्रतिज्ञा कहते हैं।

शास्त्र-वचनों'को शास्त्रकी प्रतिज्ञा' भी कहा जाता है।

प्रतिष्ठा [१४–२७], **प्रतिष्ठितम्** [३–१५], **प्रतिष्ठाप्य** [६–११], **प्रतिष्ठिता** [२–५७ ५८ ६१, ६८]

√स्था (तिष्ठ) (गतिनिवृत्ती) ठहरना राह देखना स्थिर होना। जिससे प्रतिष्ठाका अर्थ है आधार घर स्थिरता कीर्ति अुच्च भूमिका स्थापना प्राप्ति शान्ति। भगवान ही ब्रह्मकी धर्मकी और सुखकी प्रतिष्ठा है (१४–२७)। गीताका आदर्श है कि जीवन कृतार्थ करनेके लिअ ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करनेके लिअ मनुष्यकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित यानी स्थिर होनी चाहिये।

प्रत्यक्षावगमम् [९–२]

अव+ √गम = समझ लेना।

अक्ष = आंख। जो वस्तु आंखके सामने होती है वह तुरन्त दिखाओ देती है। देखी हुअी चीजके प्रति विश्वास भी बैठता है। अक्ष शब्द सब अिंद्रियोंका द्योतक माना जाता है। अगर हमने कोअी चीज स्वयम् सुनी तो हम कहते हैं कि मैंने प्रत्यक्ष सुनी। जो चीज किसीके कहनेसे माननेकी बात नहीं है तर्कसे अनुमान करनेकी नहीं है केवल श्रद्धासे ग्रहण करनेकी भी नहीं है किन्तु जिसका सीधा अनुभव ही हो सकता है अुसे प्रत्यक्षावगम कहते हैं। अवगम् = जानना।

भगवान गीतामें जो राजविद्या बता रहे हैं वह धर्मानुकूल है अनुष्ठान-सुलभ है असके फल अस्थायी नहीं हैं और वह विद्या प्रत्यक्ष अनुभवमें आनेवाली है। जिस आचरणका फल तुरन्त ही मिल जाता है और अनुभवमें आता है अुसके बारेमें रोचक फलश्रुतियां कहनी नहीं पड़ती। श्रद्धासे मान लो असी appeal भी नहीं करनी पड़ती। क्योंकि प्रत्यक्ष अनुभवकी ही वह बात होती है।

असी अर्थमें भगवान बुद्ध अपने अष्टांगिक मार्गको अहि पस्यक धम्म कहते हैं [अहि=आओ पस्य=देखो।] आओ और प्रत्यक्ष देखो अनुभवमें आ जाय तो अुसका स्वीकार करो। जिसकी भी यही दावा है कि अुसकी बातें जितनी युक्तिसंगत हैं कि अुन्हें सुनते ही मनुष्य प्रकृतिमें अुनका विश्वास बैठ जाता है।

जब किसीको हम दान करते हैं, कुछ देते हैं तब केवल असके भलेका ही खयाल मनमें रहना चाहिये। दान करनेसे असके फलस्वरूप मुझे दिव्य लोक मिलेगा असी आशासे दान करना अथवा दानके द्वारा आज जिसका मैं अपकार कर रहा हूं वह कृतज्ञता-बुद्धिसे अथवा ऋण हानेके लिअे मेरे संकटके समय मेरा अुपकार अवश्य करेगा या कमसे कम कृतज्ञ तो हमेशा रहेगा ही असी आशासे अपेक्षासे जो दान दिया जाता है वह रजोगुणी दान है। दानके बदले जो प्रतिदान दिया जाता है अुसे प्रत्युपकार कहते हैं। प्रत्युपकारकी वासना मनमें रखनेसे दान दान न रहकर सौदा हो जाता है, वह तो अुधार देनेका अेक प्रकार हुआ। जो व्यक्ति सात्त्विक वृत्तिसे दान देता है वह प्रत्युपकारकी प्रतिफलकी अपेक्षा नहीं रखता, निष्काम भावसे ही दान देता है। किन्तु अिसका यह अर्थ नहीं है कि कर्मके अटल आध्यात्मिक सिद्धान्त वह नहीं जानता अथवा नहीं मानता। हम जिसे मदद करते हैं वह हमारी मदद करेगा अथवा असी रूपकी मदद या प्रतिसेवा हमें मिलेगी असी बात नहीं है। किन्तु भलाओका फल भलाओके द्वारा मिल ही जाता है। वह कब कैसे किस रूपमें और कहांसे मिलेगा सो हम नहीं जान सकते हैं, न हमें जाननेकी कोशिश करना चाहिये।

असी कोशिश या अपेक्षा करनेसे दानकी सात्त्विकता नष्ट होती है।

सर्वोच्च दान वही है जो असे लोगोंको दिया जाता है कि जिनके प्रत्युपकार करनेकी संभावना ही नहीं। अथवा जो दान किसीने अपने प्रति किये हुअे अुपकारका बोझा अुतारनेके भावसे नहीं किया है। दीयते अनुपकारिणे (१७–२०)।

प्रपन्नम् [२–७], अनुप्रपन्न [९–२१]

प्र+ √पद (गतौ) शरण जाना, शरण लेना, पास जाना, स्थिति प्राप्त करना। अनुप्रपन्नका अर्थ है अनुसरण किया हुआ।

जब तक मनुष्यमें अहंकार है तब तक अुसमें आध्यात्मिक वृत्तिका अुदय नहीं हो सकता। अपना आग्रह छोडकर सांसारिक वस्तुओंकी

आसक्ति छोडकर निराग्रही अनासक्त बननसे नान-ग्रहणकी योग्यता आती है। सद्गुरुकी नरण जानसे और सच्छास्त्राका अनुसरण करनसे नान मिलता है और हजम होता है। नरण जाकर आत्मशुद्धि प्राप्त करनके मार्गको प्रपत्ति या प्रपत्तियाग कहते ह। प्रपत्तिके द्वारा नान प्राप्त हाकर संशयकी निवृत्ति होती है और प्रसाद मिलता है। (प्रसाद = मनकी प्रसन्नता बुद्धिकी निर्मलता)

प्रभु [५-१४, ९-१८ २४] **प्रभव** [७-६ ९-१८ १०-८] **प्रभवम** [१०-२] **प्रभविष्णु** [१३-१६]

√भ भव (सत्तायाम् प्राप्तौ) होना रहना बनना पना हाना अित्यादि। प्रभव = अुत्पत्ति जन्म अुत्पत्ति-कारण। प्रभविष्णुका अथ हाता है अुत्पत्ति करनवाला प्रभाव डालनवाला समर्थ अथवा स्वामी। अस प्रभविष्णु तत्त्वका ही जानन योग्य समझकर अुसकी प्राप्तिका प्रयत्न करना चाहिय।

जो अुत्पन्न करता है प्रभाव डालता है और स्वामी है अुसे प्रभु कहते ह (५-१४ ९-१८ २४ ११-४ १४-२१)।

परमात्माका लक्षण दो ढगसे बताया जाता है। एक वह सच्चिदानन्द स्वरूप है। दूसरा वह प्रभविष्णु है प्रभु है।

प्रमाण [३-२१, १६-२४]

श्रेष्ठ पुरुष जिसे मान्य आदरणीय या योग्य बताते ह जिसे अपनी संमति देते ह और प्रतिष्ठित बनाते ह वही सब लोगोंके लिअ मान्य या ग्राह्य होता है। अस श्रेष्ठ व्यक्तियोंके अभिप्राय अुनकी सूचनाओं और अुनकी नसीहत जिन ग्रथोंमें लिखी जाती ह वे शास्त्रग्रथ भी आदरसे पढ जाते ह। अनुभवी ज्ञाना और समाज हितैषी व्यक्तियोंके अवचन अुपदेशोंका स्वीकार करना चाहिय। शास्त्रको ही प्रमाण समझना चाहिय। अैसे विश्वस्त ज्ञाननायकोंके वचनको आप्तवचन कहा जाता है।

न्यायविद्याने प्रत्यक्ष अनुमान और अुपमानके साथ आप्तवचनको भी प्रमाण माना है।

प्रमादालस्यनिद्रा [१४–८, १८–३९]

तमोगुणके ये तीना प्रतीक ह प्रमाद यानी भूल अथवा असाव धाना, आल्स्य और निद्रा।

प्रमाद (११–४१, १४–९ १३ १७)। √मद (हृपग्लेपनया) सतुष्ट हाना दयनीय स्थितिमें रहना पागल होना अित्यादि। प्रमादका अथ है असावधानीसे का हुआी भूल। मद्य पीनसे मनुष्य असावधानीमें आ जाता है। जा नशा पदा करता है वह मद्य है। तरुण स्त्री भी अपने लावण्यसे आकर्षित करती है और पागल करती है अिसलिअे अुसे प्रमदा कहते ह।

प्रमाद और माह तमोगुणके प्रधान लक्षण है (१४–१७)।

आलस्य (१८–२८) जा मनुष्य अुत्साहरहित है यहा तक कि कतव्य कममें भी प्रवृत्तिशील नहीं रहना अुसे हम आलसी कहते है और अुसक स्वभावका आलस्य कहत ह। मनुष्यके और दोष दूर करना शायद आसान हा किन्तु आलस्यके समान मुरदार दोषका दूर करना सबसे कठिन है। वद्यशास्त्रमें आलस्यकी व्याख्या अिस प्रकार की है— 'शक्तस्य अपि अनुत्साह कमसु नालस्यम अुच्यते।

बुद्ध भगवानने प्रमादको मृत्युका स्थान या कारण बताया है। 'पमादो मच्चुनो पदम्। जो अप्रमादी है वहा अमृतत्व पा सकता है।

प्रलय [७–६, ८–१८, १९, ९–१८, १४–२, १४, १५, १६–११]

√ली (द्रवीकरणे) गीला करना, गलाना। √ल्य्–जाना। परब्रह्म में से अथवा परम महत्में से यह सृष्टि अुत्पन्न हानी है। अुसीका शक्तिसे वह जीवित रहती है और बढती है तथा अन्तमें अुसीमें लय होती है। अुत्पत्तिके देवता है ब्रह्मा पालनके विष्णु और प्रलयके महादेव। मनुष्यके सामान्य मरणका भी प्रलय कहा जाता है, पृथ्वीका जब अन्त होता है तब अुसे भी प्रलय कहते है। अनक युगोके कल्पके बाद जब ब्रह्मदेवकी आयु खतम हानी है तब महाप्रलय हाना है जिसमें भू भुव स्वर् अित्यादि सब लोक सब देव ऋषि, मुनि और स्वयम् ब्रह्मा

सबका नाश होता है। महाप्रलयके बाद दीर्घकाल तक प्रसुप्त रह कर सृष्टि फिरसे जन्म लेती है। गीतामें नीचेके स्थानामें प्रलयका अर्थ सामान्य मरण है (१४–१४ १५ १६–११)। युगके नाशके अर्थमें नीचे के स्थानोंमें वह आया है (८–१८ १९ १४–२)। और ७–६ ९–१८ में दोनों अर्थ अभिप्रेत हैं।

अुपनिषदका वचन 'यतो वा अिमानि भूतानि जायन्ते, यन जातानि जीवन्ति, यत प्रयन्ति, अभिसंविशन्ति तत जिज्ञासस्व, तद ब्रह्म अिति।' भूतमात्र जब लौटते हैं और अुसीमें प्रवेश करते हैं तब वह प्रलय है। (तत+ज) (तत+ल) (तत+अन) = तत (ज+ल+अन) = तज्जलान। ब्रह्मका ही यह अेक गुप्तनाम है तज्जलान।

प्रलय और महाप्रलयके बीचमें कल्पान्त आता है। जिस समय 'गायत' ब्रह्मदेवकी अेक कल्पनाका विस्तार पूरा हो कर अुसका प्रयाण भी पूरा होता है। अेक कल्पमें हजार युग होते हैं और हमारे ४३२०००० वर्ष होते हैं। कल्पक्षय (गीता ९–७) कल्पादौ (९–७)।

प्रविलीयते [४–२३]

पूर्णतया विलीन यानी नष्ट होता है।

प्रवृत्ति [११–३१ १४–१२ २२ १५–४ १६–७ १८–३० ४६] **अप्रवृत्ति** [१४–१३]

निवृत्ति [१६–७ १८–३०]

√वृत (वर्तन) रहना होना बनना जीना। कठोपनिषदमें कहा है कि ब्रह्मदेवने अिन्द्रियोंको बाहर दौड़नेवाली बनाया है अिस वास्ते मनुष्य बाहर देखता है। दृष्टि अुलटा कर आत्माको देखनेवाले बहुत कम होते हैं (कठ० ४–१)। मनुष्यका स्वभाव ही दुनियवी वस्तुओंकी ओर दौड़नेका है। जिसकी वृत्ति बहिर्मुखी होती है अैसा मनुष्य जो कुछ भी कार्य करता है जो कुछ भी कर्म करता है अुसे प्रवृत्ति कहते हैं। सामान्य तौर पर सब तरहके कार्यको प्रवृत्ति कहते हैं। प्रवृत्ति यानी व्यापार चेष्टा संसार माया अुत्पत्ति अित्यादि।

जैसी प्रवृत्तिका छोड़ देनेका और निष्क्रिय बैठ जानेका कहते हैं अप्रवृत्ति। अप्रवृत्ति थकानके कारण आलस्यके कारण अथवा तमोगुणके कारण हो सकती है (१४–१३)।

किन्तु जब मनुष्य अधिकांश प्रवृत्तिकी व्यर्थता देख लेता है और जीवनकी कृतार्थताके लिअे आत्माकी ओर लौटना चाहता है तब वह दुनियवी बातोंकी ओर दौड़ना बन्द कर देता है और फिर अेकाग्रतामें और अध्यात्म आत्माकी ओर जानेकी नये ढंगकी प्रवृत्ति जारीमें चलाता है। जिस लौटनेकी प्रवृत्तिको निवृत्ति कहते हैं। निवृत्ति अकर्मण्य नहीं होती। निवृत्तिमें कर्मोंका विस्तार संकुचित किया जाता है सही। किन्तु दूसरे प्रकारकी प्रवृत्ति बढ़ाओ जाती है। निवृत्तिमें कर्मविहीनताके लिअे अवकाश नहीं है। (निवृत्ति शब्द भी देख लीजिये।)

प्रशान्तात्मा [६–७, १४ २७]

जिसका मन या हृदय शान्त हुआ है पूर्णतया स्थिर हुआ है अुसीको प्रमाद प्राप्त हो सकता है वही योगी बन सकता है। अुसीको प्रशान्त-मनस भी कहा है (६–२७)।

प्रव्यथितान्तरात्मा (११–२४) और प्रशान्तात्मा (६–१४) अेक दूसरेके विरुद्ध हैं। जैसे विषाद और प्रसाद भी अेक दूसरेके विरुद्ध हैं।

प्रसाद [२–६४, ६५]

प्र+ √सद् (विशरण-गति-अवसादनेषु) टूटना जाना गिरना अित्यादि। प्रसाद=प्रसन्नता निर्मलता शान्ति सन्तोष। प्रसादका दूसरा अर्थ है दया कृपा मेहरबानी।

बारिशके दिनोंमें मिट्टीके कारण पानी मैला रहता है। कुछ दिनके बाद मिट्टी नीचे बैठ जानेसे पानी आप ही आप साफ होता है तब कहते हैं पानी प्रसन्न हो गया। निर्मलीका बीज (कतकरेणु) डालनेसे भी पानी जल्दी साफ होकर पीने लायक होता है।

मनका भी वैसा ही है। मनमें जब कामक्रोधादि दोष प्रबल होते हैं तब बुद्धि धुंधली-सी हो जाती है। मन निर्विकारी होते ही चित्तमें प्रसाद आ जाता है। प्रसाद प्राप्त होते ही मनकी सब आधियां

और आधियां, और सब दुःख दूर होने हैं (२–६५)। मनुष्य प्रसन्नचित्त होने पर (२–६५) अुसकी बुद्धि स्थिर होती है। अिस मनुष्यको प्रसन्नात्मा भी कहते हैं क्योंकि अुसका हृदय (आत्मा) स्थिर शुद्ध और सन्तुष्ट हुआ है। प्रसन्नात्मा (१८–५४) ब्रह्म-स्वरूप पर रहता है अुसमें पक्षपात नहीं होता किसी चीजकी अपेक्षा आकांक्षा भी नहीं रखता अिसलिअ अुसे पराभक्ति (१८–६८) प्राप्त होती है।

गीताका पहला अध्याय विषाद-योग है। आखिरी अध्याय प्रसाद-योग है (१८–७३)।

प्रियहितम [१७–१५], **हितम** [१८–६४]

जो चीज सुखकर भी है और हितकर भी है अुसे प्रियहित कहते हैं।

अिस दुनियामें असी बातें दुर्लभ बहुत कम होती हैं। कठोपनिषद्में (२–१ २ ४) प्रत्यक्ष यमराज कहते हैं कि श्रेय अलग है और प्रेय अलग है। ये दोनों मनुष्यको अलग अलग दिशाओंमें खींच ले जाते हैं। अिनमें से श्रेयको हितकरको पसन्द करनेवालेका भला होता है। और प्रेय (सुखकर) को पसन्द करनेवालेका नुकसान होता है। जो बुद्धिमान है वह सुखकरको छोडकर हितकरको पसन्द करता है। जो बुद्धिमन्द है वह सिर्फ पेट चलानेके लिअ प्रेय यानी सुखकरको पसन्द करता है। अिन दोनोंका फल अलग अलग है। [नीचे श्रेय देखिये।]

लेकिन नित्य-सत्त्वस्थ व्यक्तिको अपनी वाणीके तपके लिअ प्रियहित बोलनेकी ही आदत डालनी चाहिये।

श्रेय [१–३१ २–७ ३–२ ११, ३५, ४–३३ ५–१, १२–१२ १६–२२, १८–४७]

√श्री (पाके) पकाना अबालना। √श्रि (सेवायाम्) आश्रय लेना।

अन्यत श्रेय अन्यत अुत अेव प्रेय
ते अुभे नानार्थे पुरुषम सिनीत ॥

तयो श्रेय आददानस्य साधु भवति
हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते
प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥ (कठ० २-१, २)

ऐहिक सुखोपभोग और योग-क्षेम सब प्रेयमें शामिल किया गया है तब हम श्रेय किसे कहें? श्रेय वही है जो आत्माकी अुन्नति करता है आत्माको गिरने नहीं देता। श्रेय वही है जिसमें दूसरेके भलेको हम अपना भला समझते हैं। जितेन्द्रिय-जयके बिना काम क्रोध लोभके नाशके बिना मनको मारे बिना श्रेयकी प्राप्ति नहीं होती है।

प्रिय [७-१७, ९-२९, ११-४४, १२-१४, १५, १६, १७, १९, १७-७, १८-६५]

√प्री (प्रीणो तर्पणे च) स्नेहका अनुभव करना सताप पाना किसीका खुश करना।

अुपनिषदोंमें प्रेय और श्रेयका विरोध बताया है। प्रिय परसे ही प्रेय शब्द आया है। जो चीजें प्रिय अथवा सुखकर होती हैं वे हितकर होती ही है असा अनुभव नहीं है और जो हितकर होती है वे प्रारम्भमें शरीरको या मनको सुखकर होती ही हैं असा भी अनुभव नहीं है।

बुद्धिहीन मनुष्य श्रेयको नहीं समझता है प्रेयकी ओर दौड़ता है और नुकसान पाता है। बुद्धिमान पुरुष श्रेयको ही स्वीकार करता है और अुसीको प्रियकर बनानेकी कोशिश करता है।

जो मनुष्य ज्ञानी है स्थितप्रज्ञ है त्रिगुणातीत है वह प्रिय और अप्रिय दोनोंके प्रति समान भावसे अुदासीन और अलिप्त रहता है (५-२० १४-२४)।

सर्वभूतोंका हित चाहनेवाला तपस्वी असी ही बातें बोलता है जो सत्य हों प्रिय हों और हितकर भी हों (१७-१५)। श्रेय और प्रेयका विरोध टालकर वाणीका प्रयोग करना सचमुच बड़ी कठिन तपस्या है।

प्रियाय [११–४४]

जब अर्जुन श्रीकृष्णका विश्वरूप देखता है और अुसके काल स्वरूपका काम समझ लेता है तब श्रीकृष्णकी भव्यताका खयाल करके और जैसे विराट पुरुषको सखा समझकर अुसके साथ जो अति परिचय किया असके लिअ क्षमा मागता हुआ विनती करता है कि हे भगवान जिस तरह पिता अपने पुत्रके और मित्र अपने मित्रके अपराध सहन करता है अुसी तरह मेरे अपराध सहन करो अर्थात क्षमा करो। पिता पुत्रकी और सखा-सखाकी अुपमा तो स्पष्ट है। जिसके बाद प्रिय प्रियायार्हसि देव सोढुम् असे शब्द आये हैं। यहा अुपमावाचक 'अिव' शब्द नही है तो भी जिस तरह कोओी प्रिय पुरुष अपनी प्रिय स्त्रीको सहन करता है असी तरह मुझे सहन करो असी तीसरी अुपमा बद लोग लेते हैं। जिसमें सधि-दोष आदि व्याकरणके दोष आ जाते हैं। प्रियाया जैसा स्त्रीलिंगी षष्ठी विभक्तिका रूप लेना व्याकरणके विरुद्ध है। अिसलिअ प्रियाय जैसा पुल्लिंगी चतुर्थीका रूप लेना ही ठीक है तथा तीसरी अुपमा न लेकर केवल अितना अर्थ लेना चाहिये कि तुम प्रिय मेरे जैसे प्रियके लिअ सहनशीलता बताओ।

प्रेत्य [१७–२८ १८–१२], प्रेत [१७–४]

प्र + √अी (गतौ)। प्रेत्य = अिस दुनियासे विदा होकर जाकर यानी मरकर। अिस अर्थ परसे प्रेतका अर्थ परलोकमें असा भी होता है। प्रेत शब्दका अर्थ है अिस दुनियासे गया हुआ यानी मृत व्यक्तिकी आत्मा। अब तो प्रेत शब्दका अर्थ जीव चले जानेके बाद पीछे रहे हुअे शरीरके शवका लगाते हैं। प्रेतोंकी पूजा शव पूजा नही है किन्तु मृतात्माकी पूजा है। अिसी सिलसिलेमें पितृव्रता शब्द देखना चाहिये।

कठोपनिषद्‌में साम्परायं शब्द आया है जिसका अर्थ है मरणके बादकी आत्माकी स्थिति। अुस शब्दके और भी अर्थ होते हैं जैसे कि परलोक प्राप्तिके साधन भविष्यकालकी मीमांसा युद्ध और युद्ध-सम्बन्धी बातें। अिहलोक और परलोकके संधि-स्थानमें ही युद्ध रहता है।

हो सकती है हमारी शक्तियोंका विकास हो सकता है। प्रत्यक्ष फलसे तो कमोबेश सुख मिलेगा या संग्रह बढेगा साथ साथ संग्रहका बंधन भी बढेगा। जिसलिअे कर्म करनेके कारण फलके बारेमें जितना भी अधिकार हमें प्राप्त हुआ हो अुसे छोड देना ही अच्छा है।

फलहेतु [२–४९]

किन्तु जो लोग फलका लोभ करते हैं वे बंधनमें आ पडते हैं। फलतृष्णासे प्रेरित होकर वे कृपण बनते हैं और समत्व-बुद्धि खो बैठते हैं।

फलाकांक्षी [१८–३४]

फल प्राप्तिकी अिच्छा रखनेवाला।

बलम् [१–१०, ७–११, १६–१८, १८–५३]

√बल् (प्राणन धान्यावरोधने च) सांस लेना जीना अनाजका संग्रह करना जीना पहुंचाना। जिस परसे बलका अर्थ हुआ सामर्थ्य, शक्ति, जबरदस्ती। सैन्यको भी बल कहते हैं (१–१०)। जबरदस्तीके अर्थमें बलेन अथवा बलात् शब्दका व्यवहार होता है जिसी परसे बलात्कार शब्द आया है। बलका मूल अर्थ शारीरिक शक्ति भले ही हो किन्तु बाहुबलके साथ बुद्धबल, बुद्धिबल द्रव्यबल मंत्रबल आत्मबल आदि प्रयोग भी प्रचलित हैं। अुपनिषदोंमें शारी किन्तु निर्बल मनुष्यकी अवहेलना ही की है अपि ह शतम् विज्ञानवताम् अेको बलवान आकम्पयन अर्थात अेक भी बलवान मनुष्य सौ ज्ञानियोंको कंपाता है। अुपनिषद्के ऋषियोंने अथवा स्वयम् यमराजने कहा है 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्य' अर्थात् बलहीन मनुष्य आत्माको प्राप्त नहीं कर सकता। और आगे पर कहा है बलेन लोक तिष्ठति — बलके आधार पर ही यह जीवलोक खड़ा है।

भगवान स्वयं कहते हैं कि बलवान लोगोंमें काम रागके दोषोंसे मुक्त जो बल होता है विजय पानेकी शक्ति होती है वह मेरी ही विभूति है। यह शक्ति जिसमें नहीं है वह अिहलोक-परलोकमें कुछ भी नहीं पा सकता। सारा पुरुषार्थ अुसके लिअे आकाशपुष्पवत् है। अुसकी मनोवृत्तिको भगवानने हृदय-दौर्बल्य कहा है।

बहुमत [२–३५]

बहुभि गुण युक्त अिति बहुमत । अनेक अच्छे अच्छे सदगुणासे युक्त है अैसा जिसके बारेमें समाजका अच्छा अभिप्राय है अुसे बहुमत कहते है। जिस तरह बहुमत माय व्यक्तिको जो मान मिलता है अुसे बहुमान कहते है।

बहुशाखा [२–४१]

√शाख (व्याप्तौ) फलना।

भारतीय संस्कृति वनोपवनकी संस्कृति है, अिसलिअे संस्कृत भाषामें वन और वृक्ष आदि शब्द अुपमा रूपक आदिके रूपमें जहा तहा पाये जाते है। ग्रथके विभागको शाखा पव वल्ली कहना सन्यासियोंके नामके साथ वन अरण्य, गिरि, सरस्वती तीर्थ, पवत अित्यादि नाम लगाना सब अिसीके लक्षण है।

जैसे वृक्षकी अनेक शाखाअें होती है और अेक अेक शाखामें अनेक प्रशाखाअें होती है। वैसे ही जो लोग प्रमाणजनित विवेक-बुद्धिसे रहित है अर्थात् अव्यवसायी है, अुनके मनमें सकल्प विकल्पात्मक अनेक शाखाअें फूटती है।

बाल [५–४]

बालका मूल अर्थ है बच्चा। लेकिन शास्त्रप्रयोगमें बालका अर्थ होता अज्ञ लोग, अविचारी लोग। ग्रहण धारण-पटु बाल न तु स्तनपय ।

बुद्धि [२–३९, ४१, ४९, ३–२, ४२, ४३, ५–११, ६–२५, १२–८, १८–२९, ५१ अित्यादि]

(बुद्धिके प्रधमान्य स्थान बहुत है वे यहा नही दिये है। अप्रधान वाक्यके स्थान लिये है।)

√बुध् (बोधने) जानना, समझना, मानना। समझनेकी शक्तिको भी अथवा बुद्धि कहते हैं। निश्चयात्मकवृत्तियुक्तम अन्त करणम बुद्धि । बुद्धिका काम निर्णय देनेका है। गीतामें (१८–३०, ३१ ३२) बुद्धि तीन प्रकारकी बताअी है—सात्त्विकी, राजसी तामसी। शास्त्रोंमें

बुद्धिके पाच और सात गुण बताये गये है (१) अिष्टानिष्ट विपत्तिश्च (२) व्यवसाय (३) समाधिता (४) संशय (५) प्रतिपत्तिश्च बुद्ध पच-गुणान विदु ।

अिसी बुद्धिके सात गुण ये है

शुश्रूषा श्रवणम् चैव ग्रहणम् धारणम् तथा।
अूहापोहोऽर्थविज्ञानम तत्त्वज्ञानम् च धीगुणा ॥

अिस बुद्धिको नष्ट करनेवाले बारह दोष बताये है

शोक क्रोधश्च लोभश्च कामो मोह परासुता।
ओर्षा मानो विचिकित्सा हिंसाऽसूया जुगुप्सता ॥

अनुभव कहता है कि बुद्धि तटस्थ होने पर भी मनुष्यके अपने कर्मके प्रभावके नीचे आ ही जाती है। अिसीलिअ भर्तृहरिने कहा है—बुद्धि कर्मानुसारिणी। जसे जिसके कर्म वसी अुसकी बुद्धि। अिसलिअे जो कुछ कर्म हम करें सोचकर ही करें ताकि बुद्धि भ्रष्ट न हो जाय, बुद्धिका भेद न हो जाय। मनुष्यके पास अपनी जो शक्तियाँ हैं अुनमें सबसे श्रेष्ठ है बुद्धि। अुसे शुद्ध रखनेसे सब कुछ सिद्धियाँ प्राप्त होती है। आय चाणक्य कहता है मेरे सब साथी मुझे छोड दें तो परवाह नही मेरी बुद्धि मुझे छोड न जाय—बुद्धिस्तु मा गात मम।

बुद्धिग्राह्यम [६–२१]

जो आत्यंतिक सुख है वह अिन्द्रिय-जन्य नही किन्तु बुद्धिग्राह्य होता है। अिन्द्रिय-जन्य सुख अंतसर दुःखको ही पैदा करता है। अिसीलिअे कहा है 'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय अेव ते (५–२२)। जो बुद्धिग्राह्य सुख है वह परम सुख है। असा बुद्धिग्राह्य सुख जिसे प्राप्त है वह बडा दुःख आने पर भी विचलित नहीं होता।

बुद्धिनाश [२–६३]

बुद्धिनाशके जो अनेक कारण बताये है अुनमें गीताने अेक कारण बताया है स्मृति भ्रंश (स्मृतिका अर्थ होता है जागृति alertness memory विवेक)। अिसके नाशसे बुद्धिनाश होना स्वाभाविक है।

जिस सिलसिलेमें दूसरे अध्यायके ६२ ६३ दोनों श्लोक देखने चाहिये और उनके साथ अूपर बताये हुअे बारह दोषोंका मुकाबला करना चाहिये।

बुद्धिभेदसे भी (३–२६) बुद्धिनाश होता है। परस्पर विरोधी सिद्धान्त लोगोंके सामने रखनेसे अथवा लोगोंके अधिकारके बाहरके सिद्धान्त शुरू बतानेसे अुनकी वृत्ति जो डांवाडोल होती है अुसे बुद्धिभेद कहते हैं।

ज्ञानीको जिस बातकी सावधानी रखनी चाहिये कि अुसके अुपदेश या आचरणसे आम जनताका बुद्धिभेद न होने पाये।

बुद्धियुक्त [२–५०, ५१]

यहां बुद्धिका अर्थ समत्व-बुद्धि है। समत्व-बुद्धिवाला आदमी ही योगी बन सकता है।

बुद्धियोग [१०–१०, १८–५७]

भक्तियोग ज्ञानयोग, कर्मयोगके समान बुद्धियोग कोअी स्वतंत्र मार्ग नहीं है। यहां योगका अर्थ केवल संयोग ही है। बुद्धि प्राप्त होना और समत्व-बुद्धिसे चलना ही बुद्धियोग है। अिसको गीताने साम्ययोग भी कहा है (६–३२ और ३३)। जो भक्त है अुसकी बुद्धि शुद्ध और विवेकयुक्त करनेका कौल भगवानने दिया है (१०–१०)। यहां बुद्धिका अर्थ सम्यक् ज्ञान अथवा अीश्वर विषयक ज्ञान भी है। बुद्धियोग Rationalism नहीं है। अपनी बुद्धि अीश्वरमें स्थापित करके अुसकी शरण जाना अुसीका ध्यान करना बुद्धियोग है (१८–५७)।

साम्यबुद्धि विश्वात्मैक्य-बुद्धि और अीश्वर-शरण-बुद्धि — ये बुद्धियोगके तीन पहलू हैं।

बुद्धियोगका अर्थ बुद्धिसे योग भी होता है (६–४३)।

बुध [४–१९, ५–२२, १०–८]

√बुध् (बोधने) जानना समझना मानना। गीतामें जिसे बुध कहा है वह ज्ञानी ही है। ज्ञानी, पंडित धीर, मनीषी और बुध ये सब

अत ही आदर्श पुरुषके नाम हैं। गीतावा बुध भानागिने कर्म-बन्धनको जला देता है। अुसके सब कर्म काम-संकल्पसे मुक्त रहते हैं। अिन्द्रिय-जन्य भोगोंकी ओर अुसकी रुचि नहीं रहती। यह सारा विश्व भगवानसे ही पैदा हुआ है यह समझकर अुस भगवानकी ही वह भक्ति करता है।

ब्रह्म [३–१५, ४–२४, ३१, ५–६, १९, ७–२९, ८–१ ३, १३, २४, १०–१२, १३–१२, ३०, १४–४, १८–५०]

√बृह (अुगमने बृद्धौ) अुद्योग करना, बढ़ना आवाज करना। अिसी परसे बृहत् (= बड़ा) शब्द आया है।

जो सबसे बड़ा है, सर्वव्यापी है सर्व-समय है वह ब्रह्म है। अिस ब्रह्मका वर्णन या स्तवन जिसमें है अुसे भी ब्रह्म कहते हैं। अिस अर्थमें ब्रह्म याने स्तोत्र, मंत्र वेद ॐकार।

वेद और तपस्या द्वारा जो सर्वव्यापी ब्रह्मकी अुपासना करते हैं, अुन्हें भी ब्राह्मण कहते हैं। अिस अर्थमें ब्रह्मन् = तपस्वी ज्ञानी, ब्राह्मण, और ब्रह्मदेव।

ब्रह्मकर्म [१८–४२]

ब्राह्मण जातिका जो खास कर्म है अुसे ब्रह्मकर्म कहते हैं। गीताने ब्रह्मकर्ममें ब्राह्मणोंके काम न देते हुअे अुनके गुण और अुनका ध्येय ही बताया है। ज्ञान और विज्ञान (Culture and mystical experience, Realization) हैं ब्राह्मणके ध्येय और शम, दम तप शौच क्षान्ति (क्षमा) और आर्जव (अकुटिलता) ये हुअे अुनके गुण जिन्हें प्राप्त करनेके लिअे सारी जिन्दगी अुसे मेहनत करनी चाहिये। स्मृतियाँमें ब्राह्मणोंके छह कर्म बताये हैं। तीन हैं धर्म पालनके लिअे और तीन आजीविकाके लिअे। अध्ययन यजन और दान ये आत्मोन्नतिके लिअे हैं। अध्यापन याजन और प्रतिग्रह (पढ़ाना यज्ञ करवाना और दान लेना) ये तीन ब्राह्मणकी आजीविकाके लिअे हैं। जिनमें से अध्यापन केवल आजीविकाके लिअे नहीं है। अुसके द्वारा लोकजागृति और संस्कृति रक्षण भी होते हैं।

ब्रह्मकर्मसमाधिना [४–२४], ब्रह्मैव गतव्यम्

ब्रह्मकर्म-समाधि यह ज्ञानीका विशेषण है। ब्रह्मरूपी कर्ममें जिसने अपनी समाधि लगाओ है अुस ब्रह्मकर्म-समाधि कहते हैं। असे आत्मीका ब्रह्मकी ओर ही जाना है। ज्ञानीका सब कर्म निष्काम यज्ञका रूप ही धारण करता है। तमाम कर्म ब्रह्म ही है अैसा श्रद्धासे ज्ञानी काम करता है और अुसका कर्म ब्रह्मके रूपमें ही प्रगट होता है। अैसा कर्म बन्धनकारक नहीं होता।

हरअेक द्विजको अपना जीवन निष्पाप बनानेके लिअे समाजसे अुऋण होनेके लिअे पंच महायज्ञ करने पड़ते हैं। अुनमें ब्रह्मयज्ञ अेक है। यहां पर ब्रह्मका अर्थ है वेद ज्ञान पारमार्थिक आध्यात्मिक ज्ञान। जिस ज्ञानका, जिस कर्मविद्याका रक्षण, संवर्धन और प्रचार अव्याहत चालू रखनेके लिअे ब्रह्मयज्ञका विधान है। वेद सीखना और सिखाना जिसका प्रधान रूप है। पारमार्थिक संस्कृतिके आधाररूप जो महाग्रन्थ हैं अुनका पठन-पाठन अध्ययन-अध्यापन मनन चिन्तन लगातार चलता रहे अिसलिअे रोज ब्रह्मयज्ञ किया जाता है। अिसके साथ साथ जिन प्राचीन और अर्वाचीन ऋषियोंने अपने अन्वेषण संशोधन और अनुशीलन द्वारा ज्ञानकी परम्परा कायम रखी है अुनका कृतज्ञतापूर्वक स्मरण यानी श्राद्ध करनेकी बात भी ब्रह्मयज्ञमें आती है।

ब्रह्मचर्य [६–१४, ८–११, १७–१४]

अिस शब्दका मूल अर्थ कुछ अलग है। ब्रह्म = वेद। वेदोंका ज्ञान पानेके अध्ययन करनेके लिअे जो चर्या यानी संयमित जीवनक्रम बनाया है वही ब्रह्मचर्य है। गुरुगृह-वास अिंद्रिय निग्रह और अध्ययन तीनों मिल करके ब्रह्मचर्य होता है। अिनमें से अिंद्रिय निग्रह द्वारा कायिक वाचिक, मानसिक वीर्यरक्षा सबसे प्रधान है। अिसलिअे अुसीको ब्रह्मचर्य कहने लगे। ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठित यानी स्थिर होनेसे मनुष्यको वीर्यलाभ होता है (योगसूत्र २–३८)। अुससे मनुष्य वज्रकाय होता है। वीर्यरक्षा ब्रह्मचर्यका प्रधान लक्षण होनेसे अुसे शारीरिक तप कहा है। ब्रह्मचर्यके सामर्थ्यसे ही वेदग्रहण और ब्रह्मज्ञान हो सकता है। योग-साधनाके लिअे भी ब्रह्मचर्य अत्यन्त आवश्यक है।

आश्रम-व्यवस्थाके अनुसार आठ वर्षकी अुमरसे कम-से-कम बारह वर्ष तक और अधिकसे अधिक अड़तालीस वर्ष तक अविवाहित रहकर जितेन्द्रिय निग्रह-पूर्वक वेद-अध्ययनके लिअे गुरुगृहमें अुसके अधीन रहनेका विधान है। स्मृतियोंमें अुसका विस्तार पाया जाता है। गीतामें सिर्फ दो ही जगह पर ब्रह्मचर्य-आश्रमका जिक्र आता है (४–३४ ६–१४) जहां गुरुगृहमें रहकर गुरु-शुश्रूषा, भिक्षा-भोजन प्रणिपात परिप्रश्न, सेवा आदि द्वारा ज्ञानप्राप्तिकी साधना करनेकी बात है।

गांधीजीका कहना है कि पक्षपात रहित सर्वात्मैक्य-भाव दृढ़ करनेके लिअे भी ब्रह्मचर्यकी आवश्यकता है। शादी करनेसे विशिष्ट स्त्रीके प्रति पत्नीभावके कारण जो आकर्षण या विशेष आत्मीयता पैदा होता है वह समदर्शिताके लिअे बाधक हो सकती है। गृहस्थाश्रमी बननेसे अपने पैदा किये हुअे बालबच्चोंके प्रति विशेष प्रेम पैदा होता है। अुसके होते हुअे समदर्शिता सिद्ध करना आसान नहीं है। भाअी-बहनका नाता और माता पिताका नाता हमारा बनाया हुआ नहीं होता। लेकिन पत्नी और अपत्यका संबंध हम क्यों पैदा करें?

ब्रह्मनिर्वाण [२–७२, ५–२४ २५ २६] ब्राह्मी स्थिति [२–७२]

सब कर्म निष्काम भावसे अर्पण करके वृत्तिको ब्रह्ममय करके रखना अिसे ब्राह्मी स्थिति कहते हैं। असी ब्राह्मी स्थितिमें अन्तकाल तक रहनेसे मनुष्य ब्रह्मनिर्वाणको पहुंचता है अर्थात् मोक्ष पाता है। अन्तिम घड़ीमें ब्राह्मी स्थिति रही तो भी मनुष्य मोक्ष प्राप्त करता है। फिर जो शुकदेवके समान बचपनसे ही असी वृत्ति रखकर ब्रह्मचर्याश्रमसे ही संन्यास लेते हैं और जीवन भर ब्रह्म भावना कायम रखते हैं वे ब्रह्मनिर्वाणको जायेंगे यह कहनेकी आवश्यकता ही क्या?

बौद्धोंने ब्रह्म शब्दके झगड़ेमें न पड़ते हुअे केवल निर्वाण शब्द ही अपनाया। अुनका कहना था कि निर्वाणका वर्णन हम क्या करें? निर्वाण अनुभवकी वस्तु है। अगर निर्वाण ब्रह्म निर्वाण ही है तो अुसका अनुभव हुअे बिना रहेगा नहीं। चर्चामें अुतरनेसे निर्वाण साधनामें विक्षेप पैदा होता है। अुससे बचना ही अच्छा।

ब्रह्मयोग [५–२१]

परब्रह्मके साथ लौ लगानेको ब्रह्मयोग कहते हैं। ब्रह्मयोगके द्वारा जिसका अन्तःकरण साम्यावस्थाको पहुंच गया है अुसे ब्रह्मयोगयुक्तात्मा कहते हैं।

ब्रह्मवादिन् [१७–२४]

वेदको या ब्रह्मको जो मानते हैं और वेदका पाठ प्रवचन चलाते हैं अुन्हें ब्रह्मवादी कहते हैं। ब्रह्म जाननेवालेको ब्रह्मविद् कहते हैं (५–२० ८–२४)।

ब्रह्मज्ञानके साथ ब्रह्म-साक्षात्कारकी सिद्धि प्राप्त होनेके बाद दूसरोंको ब्रह्मकी शिक्षा-दीक्षा देनेका अधिकार जिसे प्राप्त हुआ है अुसीको शायद ब्रह्मवादी कहना चाहिये।

ब्रह्मसंस्पर्शम् [६–२८]

ब्रह्मके साथ होनेवाले सम्पर्कसे प्राप्त होनेवाला (सुख)।

सुख दो प्रकारके होते हैं। अेक है अिन्द्रिय-गम्य बाह्य स्पर्शज (५–२१) और दूसरा है बुद्धिग्राह्य अतीन्द्रिय (६–२१)। जो बुद्धिग्राह्य है अुसीको ब्रह्म-संस्पर्श कहा है। अिन्द्रिय-जन्य सुख (अिन्द्रियोंके) विषयोंके साथ अिन्द्रियोंका स्पर्श होनेसे प्राप्त होता है और वह सुख अन्तमें दुःख ही पैदा करता है (५–२२) (ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय अेव ते)। जो बुद्धिग्राह्य सुख होता है वह अतीन्द्रिय होकर आत्यन्तिक होता है। वह अिन्द्रियोंके सम्पर्कसे पैदा नहीं होता, किन्तु ब्रह्मसंस्पर्श होता है (६–२८)।

ब्रह्मसूत्र [१३–४]

जिस स्थानमें ब्रह्मसूत्रका अुल्लेख आया है वह महत्वका स्थान है। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-मीमांसा जिस अध्यायमें है अुस तेरहवें अध्यायको क्षेत्राध्याय कहते हैं। क्षेत्रकी व्याख्या करते समय भगवानको ऋषि-वचनोंका और ब्रह्मसूत्रोंका स्मरण हुआ है।

प्रधान अुपनिषदोंके दार्शनिक वचनोंका अेकत्रित करके अुनमें से अेक निश्चित तत्त्वज्ञान निकाल कर श्री कृष्ण द्वैपायनने ब्रह्मसूत्रोंके द्वारा यह सिद्धान्तकी स्थापना की है कि अुपनिषद्-वचनोंका यह तत्त्वज्ञान फल फलित होता है। भारतीयोंने अुसे स्थापितका महत्त्व माना है। अिसलिअे जो कोअी अुपनिषदोंका अर्थ करने जाता है अुसका कर्तव्य होता है कि वह यह भी सिद्ध करे कि अुसका किया हुआ अर्थ ब्रह्मसूत्रोंसे विरोधी नहीं है।

ब्रह्मसूत्रपद में श्री कृष्ण द्वैपायनके ब्रह्मसूत्रोंका अथवा न्यायोंका सूत्रोंका अुल्लेख है या नहीं प्रश्न पर अैतिहासिक चर्चाका निर्णय है। जो लोग मानते हैं कि शारीरसूत्रोंका अिसमें अुल्लेख नहीं है वे ब्रह्मवाचक वचनों द्वारा अर्थ करते हैं। किन्तु सूत्रपद शब्द अितने व्यापक अर्थमें नहीं आ सकता है। विशिष्ट ग्रंथका ही अुल्लेख यहां लेना चाहिये।

गीताकी रचना कब हुअी और बादरायणके ब्रह्मसूत्रोंकी रचना कब हुअी अुसका निर्णय अगर हो जाय तो हम आसानीसे अिसका निर्णय कर सकते हैं। गीताका ब्रह्मसूत्र शब्द देखकर ही बादरायणको अपने सूत्रोंके लिअे यह शब्द रखनेका मन हुआ होगा। अथवा बादरायणके सूत्रग्रंथका ही गीतामें स्पष्ट अुल्लेख होगा।

ब्राह्मण

जो ब्रह्मको जानता है वह ब्राह्मण। गीतामें २–४६ में ब्राह्मण शब्द आया है, वहां श्री शंकराचार्यने अुसका अर्थ संन्यासी किया है।

गीतामें चार वर्णोंका अुल्लेख आता है। वहां (१८–४१ ९–३३ १७–२३ और ५–१८) ब्राह्मण शब्दका अर्थ प्रथम वर्णका व्यक्ति अितना ही है।

अुपनिषदोंमें धम्मपद आदि बुद्ध भगवानके वचनोंमें और जैन ग्रंथोंमें भी ब्राह्मण शब्द विशिष्ट गुणवाचक अर्थमें आया है। बुद्ध भगवानके वचनोंसे असा ही मालूम होता है कि ब्राह्मण शब्द जो वर्णवाची है अुसका निषेध करके वे गुणवाचक अर्थमें ब्राह्मण शब्दका प्रयोग करते हैं।

अुपनिषदमें ब्राह्मण शब्द कृपण शब्दके विरोधमें आया है (बृहदारण्यक ३–८–१०)। वहां जो आदमी अक्षर ब्रह्मको न जाननेके कारण जन्मान्तरके फेरमें फंसा हुआ है अुसे कृपापात्र कृपण कहा है और जिसने ब्रह्मको जाना है वह ब्राह्मण है।

गीतामें ब्राह्मण और क्षत्रिय जिन दो वर्णोंके बारेमें आदर व्यक्त हुआ है। और शूद्र स्त्री-वैश्य-शूद्रोंसे श्रेष्ठ बताया है। स्मृतियोंमें भी यह सिलसिला चला है। लेकिन वेदान्त विद्या वर्णगत श्रेष्ठत्वको महत्त्व नहीं देती। गीतामें ब्राह्मण गाय हाथी कुत्ता और चाण्डाल सबके प्रति समदर्शी होनेकी सिफारिश है। महाभारतमें भी जगह जगह चारों वर्णोंकी समानता पर जोर दिया है। गीताका बोध तो चार वर्णमें (और चार आश्रममें) समानता देखनेका ही कहता है।

भक्त [४–३, ७–२१ ९–३१ ३३, १२–१ १४ १७, १९, २०], **भक्ति** [८–१० २२, ९–१४, २६ २९, ११–५४, १३–१०, १८–५५, ६८]

√भज (सेवायाम्) सेवा करना बांट लेना अवलम्बन करना स्वीकार करना प्रेम करना भक्ति करना समीप होना। भज का असली अर्थ है आकृष्ट होकर पास जाना अुसकी सेवा करना और अुपभोग करना तथा अन्तमें अपनेको अुपभोगके लिअे अर्पित कर देना तथा जाकर आत्मार्पणके द्वारा द्वैतका नाश होकर अद्वैत सिद्ध होगा। भक्तिका सर्वोच्च रूप है अभेद भक्ति। जिसमें आत्मार्पण-अर्पणके लिअे द्वैत भी आवश्यक है और प्राप्ति-तृप्ति-आनन्दका अद्वैत भी। श्री शंकराचार्य कहते हैं— मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी — मोक्ष प्राप्तिका जो साधन-समुदाय है अुसमें सबसे श्रेष्ठ भक्ति ही है। अितना कहकर दूसरे ही वाक्यमें वे कहते हैं— स्वस्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते — अपने असली आत्मस्वरूपका प्रेमादरपूर्वक स्मरण ध्यान रखना यही भक्ति है। आत्मस्वरूपके साथ जुड जाना बंध रहना ही भक्ति है योग है। अनुसंधानका अर्थ ध्यान भी है निश्चय भी है अनुसरण भी है जुड जाना भी है और अन्तमें शान्त हो जाना भी है। अिसलिअे अपने आत्मस्वरूपकी खोज करनेसे लेकर

जगत साथ तन्मयाकार हो जाने तक सब भाव भक्तिमें आते ह
अिस तरह अन्तमें भक्त और भगवानका ऐक्य तो होता ही है साथ
साथ ज्ञान और भक्तिका भी अभेद हो जाता है।

भक्तियोग [१४–२६]

बारहवें अध्यायका भक्तियोग कहा है। सातवें और नौवें अध्यायमें भी भक्तके लक्षण पाये जाते हैं। अुसमें भक्तके जो लक्षण दिये हैं वे ही ज्ञानीके योगीके और स्थितप्रज्ञके भी लक्षण हैं। गीतामें ये जो भिन्न भिन्न लक्षण दिये गये हैं वे सब ऐक हो आदर्श पुरुषके लक्षण हैं। परन्तुमें थोड़ा कुछ अिधर अुधर फर्क होगा। भक्तियोगमें भक्तिके द्वारा आत्माका परमात्माके साथ सम्बन्ध या योग जोड़ देनेकी बात रहती है। भक्ति प्रेमके द्वारा अिस योगको सिद्ध करती है। जब तक जीवात्माको परमात्माके साथ कुछ दूरी है तब तक भक्तियोग विरहयुक्त आकर्षणका रूप धारण करता है और आत्माका परमात्माके चरणोंमें पहुंचनेका प्रयत्न रहता है अिस प्रयत्नके लिअ भज् क्रियापदका अुपयोग होता है (भजस्व ९–३३ भजन्ति भजन्ते ७–१६ २८ ९–१३ २९ १०–८ भजते भजति ६–३१ ४७ ९–३० १५–१९)।

जो आकर्षण भक्तका भगवानके प्रति है वही अथवा असे अधिक भगवानका भक्तोंके प्रति भी होता है अिसलिअ भगवानके लिअ भी यही क्रियापद आता है (४–११)। भगवानकी वत्सलता इलोक ९–६ और ०–१२ से चलता है। भगवानकी वत्सलता भक्तोंके चार प्रकार बताये ह और अुनमें ज्ञानियोंको अपनी आत्मा बताया है। साथ साथ अिस तरहसे ज्ञान और भक्तिका अभेद भी बताया है।

भक्त्युपहृतम् [९–२६]

अप+ √हृ (हरण)।

पत्र पुष्प फल तोय आदि जो कुछ भी वस्तु भक्ति भावसे अर्पण की जाती है अुसे भगवान प्रसन्नतासे खा लेते ह। √हृ (हरण)

+अुप, पास ले जाना अुपहार यानी भेंटके तौर पर लाकर देना अर्पण करना। भक्त्या, भक्तिपूर्वकम प्रापितम अर्पितम।

भगवन् [१०–१४, १७]

यह शब्द गीतामें श्रीकृष्णके भाषणके पहले आता है। संस्कृतमें निम्नलिखित छह गुण और अैश्वर्य माने गये हैं, अुन्हें भग कहते हैं।

> अैश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
> ज्ञान-वैराग्ययो चेति षण्णाम भग अितीरणा॥

श्री शंकराचार्यने ये छह गुण अिस प्रकार बताये हैं

> ज्ञानैश्वर्य-शक्ति-बलवीर्यतेजोभि सदा सम्पन्न भगवान।

सूर्यका भी नाम भग है। भगका अर्थ दैव अथवा भाग्य भी होता है। अुदाहरण

> आस्ते भग आसीनस्य अूर्ध्व तिष्ठति तिष्ठत।
> शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भग।

अैत्रेयका यह वचन है।

समस्त कल्याणकारी गुण और शक्तिके निधानको भगवान कहते हैं। भगवान श्रीकृष्णकी गाअी हुअी अुपनिषदका भगवद्गीता कहते हैं। असलमें यह गीता शब्द अुपनिषदका विशेषण है।

भयम [२–३५, ४०, १०–४, ११–४५, १८–३५]

√भी (भये)।

गीतामें कहा है कि भय और अभय दाता भगवानके ही भाव हैं (१०–४)। देह-बुद्धिके साथ भय आता है, आत्म-बुद्धिके साथ अभय आता है। जब काअी तारक पुरुष किसी भयभीत पुरुषको 'मा भै' की अभय-वाणी सुनाता है तब वह डरे हुअे आदमीके हृदयको अपने हृदयके साथ जोड़ देता है और अपनी सहायताके साथ अपनी निर्भयता भी कुछ न कुछ दे ही देता है। अगर काअी मनुष्य विश्वात्माके साथ अपने हृदयको जोड़ दे तो वह निर्भय बनेगा और सहायता पानेकी अपेक्षा छोड़कर सहायताका दाता बनेगा।

जुनके साथ तन्मकार हो जाने तकके सब भाव भक्तिमें आते हैं। जिस तरह अन्तमें भक्त और भगवानका अन्वय तो होता ही है साथ साथ ज्ञान और भक्तिका भी अभेद हो जाता है।

भक्तियोग [१४–२६]

बारहवें अध्यायको भक्तियोग कहा है। सातवें और नौवें अध्यायमें भी भक्तके लक्षण पाये जाते हैं। जिसमें भक्तके जो लक्षण दिये हैं वे ही ज्ञानीके, योगीके और स्थितप्रज्ञके भी लक्षण हैं। गीतामें ये जो भिन्न भिन्न लक्षण दिये गये हैं वे सब अेक ही आदर्श पुरुषके लक्षण हैं। पहलूमें थोड़ा कुछ जिधर अुधर फर्क होगा। भक्तियोगमें भक्तिके द्वारा आत्माको परमात्माके साथ सम्बन्ध या योग जोड़ देनेकी बात रहती है। भक्ति प्रेमके द्वारा जिस योगको सिद्ध करती है। जब तक जीवात्माकी परमात्माके साथ कुछ दूरी है तब तक भक्तियोग विरहयुक्त आकर्षणका रूप धारण करता है और आत्माका परमात्माके चरणोंमें पहुंचनेका प्रयत्न रहता है। जिस प्रयत्नके लिअे भज क्रियापदका अुपयोग होता है (भजस्व ९–३३ भजन्ति भजन्ते ७–१६ २८ ९–१३ २९ १०–८ भजते भजति ६–३१ ४७ ९–३० १५–१९)।

जो आकर्षण भक्तका भगवानके प्रति है वही अथवा अुससे अधिक भगवानका भक्तोंके प्रति भी होता है जिसलिअे भगवानके लिअे भी यही क्रियापद आता है (४–११)। भगवानकी वत्सलता इत्यादि ९–६ और ९–१२ में चलता है। भगवानने स्वयम भक्तोंके चार प्रकार बताये हैं और अुनमें ज्ञानियोंको अपनी आत्मा बनाया है। साथ साथ जिस तरहसे ज्ञान और भक्तिका अभेद भी बनाया है।

भक्त्युपहृतम् [९–२६]

अुप+ √हृ (हरण)।

पत्र पुष्प फल तोय आदि जो कुछ भी वस्तु भक्ति भावसे अर्पण की जाती है अुसे भगवान प्रसन्नतासे खा लेते हैं। √हृ (हरण)

+अुप, पास ले जाना अुपहार यानी भटके तौर पर लाकर देना अपण करना। भक्त्या भक्तिपूवकम प्रार्पितम् अर्पितम्।

भगवन [१०–१४ १७]

यह शब्द गीतामें श्रीकृष्णके भाषणके पहले आता है। सस्कृतमें विभूतिके छह गुण और अन्वय माने गये ह अुह भग कहते ह।

अन्वयस्य समग्रस्य धमस्य यशस श्रिय ।
ज्ञान-वराग्ययो श्चेति षण्णाम भग अितीरणा ॥

श्री शकराचायने ये छह गुण अिस प्रकार बताये है

ज्ञानश्वय शक्ति-बलवीयतेजोभि सदा सम्पन्न भगवान।

सूयका भी नाम भग है। भगका अथ दव अथवा भाग्य भी होता है। अुदाहरण

आस्ते भग आसीनस्य अूर्ध्व तिष्ठति तिष्ठत ।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भग ।

अिन्द्रका यह वचन है।

समस्त कल्याणकारी गुण और शक्तिके निधानको भगवान कहते हैं। भगवान श्रीकृष्णकी गाआ हुअी अुपनिषदका भगवदगीता कहते हैं। असलमें यह गीता शब्द अुपनिषदका विशेषण है।

भयम् [२–३५, ४०, १०–४, ११–४५, १८–३५]

√भी (भये)।

गीतामें कहा है कि भय और अभय दोनो भगवानके ही भाव ह (१०–४)। देह-बुद्धिके साथ भय आता है, आत्म-बुद्धिके साथ अभय आता है। जब काअी तारक पुरुष किसी भयभीत पुरुषको 'मा भ की अभय-वाणी सुनाता है तब वह डरे हुअे आदमीके हृदयको अपने हृदयके साथ जोड देता है और अपनी सहायताके साथ अपनी निभयता भी कुछ न कुछ द ही दता है। अगर काअी मनुष्य विश्वात्माके साथ अपने हृदयको जोड द ता वह निभय बनेगा और सहायता पानेकी अपक्षा छोडकर सहायताका दाता बनेगा।

जब याज्ञवल्क्य मुनिने राजा जनकको ब्रह्मज्ञान दिया तब अन्तमें कहा — 'हे सम्राट अभयम् व ब्रह्म अभयम् व प्राप्तोसि सम्राट।" (बृहदारण्यक ४–१–७ ४–४–२५)

जो मनुष्य ब्रह्मसंस्थ हुआ वही अेक पूर्णतया निर्भय हो सकता है। असीलिअे कहा है 'द्वितीयात् व भयम् भवति'। देह-आत्माका द्वैत स्व-परका द्वैत धनी-निर्धनका द्वैत भय पैदा करते हैं।

भयकारक वस्तुका या प्रसंगको भयानक (११–२७) या भयावह (३–३५) कहते हैं।

विश्व कल्याणकारी सब भूत हिते रत असे यतिका श्रेष्ठ धर्म यही है कि अपनी अहिंसा-वृत्तिके द्वारा सब भूतोंको अभय दान दें। विश्वासमय भाव दृढ होने पर हृदयसे द्रोह निकल जाता है। असा ही आदमी सबको अभय-दान दे सकता है। संन्यास आश्रममें प्रवेश करते समय विश्वासमय भावके साथ भूतोंको अभय-दान देनेका मंत्र बोला जाता है जिसे प्रैष कहते हैं — अभयं सर्वभूतेभ्यः' 'मत्तः सर्वम् प्रवर्तते' (यतिधर्मसंग्रह)। यह दूसरा मंत्र गीता १०–८ में आया है।

भयाभये [१८–३०]

सात्त्विक बुद्धिका लक्षण बताते यह शब्द आया है।

जो बुद्धि अधर्मको ही धर्म मानती है असी विपरीत बुद्धि तामसी है। धर्म-अधर्मका भेद और कार्य-अकार्यका भेद तो जो जानती है लेकिन प्रवृत्तिके मोहके कारण जो बुद्धि असे भेदको स्पष्ट रूपमें नहीं जानती वह राजसी बुद्धि है।

सात्त्विक बुद्धिका ज्ञान शुद्ध और निर्मल होता है। कौनसी प्रवृत्ति योग्य है किस प्रवृत्तिसे दूर रहना अच्छा है असका भेद जो जानती है कौनसा कर्म करने लायक है कौनसा नहीं बंध किस तरह होता है मोक्ष किस तरह होता है असका विवेक जो शुद्ध रूपसे जानती है वह सात्त्विक बुद्धि है। असि विवेचनके अनुसंधानमें भयाभय का चिंतन और अनुसंधान करना चाहिये। श्री शंकराचार्य कहते हैं कि भय और अभयका कारण जाननेवाली बुद्धि सात्त्विक है।

सीधा अर्थ यह है कि भय किस बातका रखना और किस बातका नहीं रखना किस बातसे डरना चाहिये किससे नहीं डरना चाहिये अित्यादि विवेक जो जानती है वह सात्त्विक बुद्धि है। पापसे डरना तथा संकटमें मौतसे, गल्त-फहमियोंसे नहीं डरना अितना जो जानती है वह है सात्त्विक बुद्धि। (१०–४ भी देखिये)।

भाव [२–१६, ७–१२, १३, १५, २४, ८–४, ६, २०, १०–५, १७, १८–१७, २०], **भावना** [२–६६]

√भू (सत्तायाम प्राप्तौ अवकल्कने) होना पाना सोचना, शुद्ध बनना। भाव=हस्ती स्वभाव स्वरूप अस्तित्व अवस्था स्थिति, तत्त्व भाव पदार्थ भावना। भावना=ध्यान, भक्ति।

बंगालीमें भावनाका अर्थ होता है चिन्ता गुजरातीमें लागणी, मराठीमें श्रद्धा। यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।

भावसंशुद्धि [१७–१६], **सत्त्वसंशुद्धि** [१६–१]

मानस तप और दैवी संपत्तिके गुणोंमें भावसंशुद्धिका स्थान है। मन प्रसादके साथ और आर्जवके साथ और अद्रोहके साथ भाव-संशुद्धि और सत्त्व-संशुद्धि आना ही चाहिये। भाव-संशुद्धि यानी अन्तःकरणकी निर्मलता।

भूतग्रामम् [८–१९, ९–८, १७–६]

√भू (सत्तायाम्)। जिन्हें अस्तित्व है वे भूत हैं।

जो सांस लेते हैं वे प्राणी हैं, जिन्हें चैतन्य है वे जीव हैं और जड़ चेतनादि सब स्थावर जंगम सत्तामात्र भूत हैं।

√ग्राम (आमन्त्रणे) बुलाना, अिकट्ठा करना। ग्रामका अर्थ है समुदाय जाति संघ गाँव। गीता १७–६ में भूतग्रामका अर्थ होता है 'अिन्द्रियोंका समुदाय' अिन्द्रियोंके रूपमें जो पंचभूत अिकट्ठा हुअे हैं अुनका समुदाय। भूतग्रामका अर्थ होता है सृष्टिके तमाम व्यक्ति।

भूतभृत [९–५, १३–१६], भर्ता

√भृ (भरणे धारणपोषणयोः) पोषण देना पालन करना आश्रय देना। भगवान अिस विश्वमें रहकर चराचर सचेतन अचेतन सब तत्त्वोंका पालन करते हैं। अुनका जीना भी भगवानपर ही आधार पर निर्भर है। अिसलिअे भगवानको भर्ता कहते हैं।

भूतभावोद्भवकर [८–३]

अर्जुनके सवालके जवाबमें भगवान कर्मकी व्याख्या देते हुअे कहते हैं कि — भूतोंकी अुत्पत्ति करनेवाले विसर्गको कर्म कहते हैं। अिसमें विसर्ग शब्द मुख्य है। श्री शंकराचार्यने विसर्गका अर्थ किया है देवताके अुद्देशसे चरु पुरोडाश आदि द्रव्योंका परित्याग यही है लक्षण जिसका असा यज्ञ। विसर्गका व्यापक अर्थ है भेजना, फेंकना, त्याग, दान, सृष्टि, सृष्टि-व्यापार अित्यादि। यहां पर विसर्गका व्यापक अर्थ है सृष्टिका व्यापार।

भूतोंका भाव यानी भूतोंकी हस्ती अुत्पन्न करनेवाला जो सृष्टिका व्यापार है वही सचमुच कर्म है The Process of Creation अितना व्यापक अर्थ करके भी अुसमें कर्ममात्रका समावेश नहीं होता। अुत्पत्तिकर कर्मका ही यहां अुल्लेख हुआ। हालांकि अर्जुनने जिस कर्मकी व्याख्या पूछी थी वह तो ७–२९ में भगवानने जिस अखिल कर्मका अुल्लेख किया वही था।

भूतसर्ग [९–१२, १३, १६–३, ४, ५, ६ अित्यादि]

भूतसर्गका सामान्य अर्थ है प्राणियोंकी अुत्पत्ति अथवा सहज स्वभाव। यहां पर अिसका अर्थ है प्राणियोंके दो प्रकार, दो स्वभाव, अथवा दो संस्कृतियां। दैव और आसुर अिन दो विभागोंमें मानवी संस्कृति बंटी हुअी है। दैवी सम्पत्तिके लोग आत्मिक कल्याणको सामने रखकर अध्यात्मशास्त्रका प्रमाण रखकर चलते हैं। आसुरी सम्पत्तिके लोग भोग और अैश्वर्यके पीछे लगे हुअे रहते हैं। वे लोकायतिक होते हैं।

तीसरा प्रकार राक्सी वत्तिके लोगोका है। तमोगुणके कारण अुनका विकास नहीं होता, अिसलिअे अुनके जीवनका सम्पतका नाम भी नहा दिया है। नौवे अध्यायमें राक्षसी आसुरी और दवी असी तीन प्रकृतिया बताअी ह। अिनमें स अन्तिम दो ही सम्पत्ति या सम्पत कहने लायक ह अेक आसुरी, दूसरी दवी।

प्रकृति { १ दवी, २ आसुरी, ३ राक्सी } — सम्पत { १ सात्विक। २ राजसिक। } विपत् — ३ तामसिक।

राक्सीके लिअे यह लोक भी नहीं है परलोक भी नहा है। वह अयन (४–३१) है। आसुरी सम्पत सवत्र फैली हुअी है और अुसीका अुरूप दीख पडता है।

जो लोग स्वभावसे ह तो आसुरी सम्पत्तिके किन्तु पुरुषार्थके अभावमें प्रवत्ति कम करते ह महत्त्वाकाक्षा नही दिखाते व अपनेको सत्त्वगुणी दवी सम्पतवाले भले ही कहलावे किन्तु वे असली तमोगुणकी ओर झुके हुअे रजोगुणी आसुरी सम्पतके प्रतिनिधि ह। सत्त्वगुणका अुत्कर्ष हुअे बिना रहता ही नही कमसे कम अुनमें आत्म विश्वास और आत्म-सतोषकी कमी कभी नहीं होती है।

भूति [१८–७८]

√भू (सत्तायाम प्राप्तौ अवकल्कने) होना जन्म होना, जीना, प्राप्त करना शुद्ध बनना। भूतिके अर्थ होते ह जन्म जीवन कल्याण उत्कर्ष, वभव प्रतिष्ठा भस्म।

अुत्तरोत्तर अश्वयकी वद्धि (श्रियो विशेषो विस्तारो भूति)।

अुपनिषदके ऋषियोने अुपदेश दिया है *'भूत्य न प्रमदितव्यम'*, समाजके अुत्कर्षके बारेमें सदा प्रयत्नशील रहना चाहिये गफलत नही करनी चाहिये। जहा अर्जुनके जसा धनुर्धर और कृष्णके जसा योगेश्वर हैं वहा विजय श्री, भूति और ध्रुवा-नीति रहनी ही ह।

भूतेज्या [९–२५]

भूत+अिज्या (√यज्)।

विनायक वेताल अव क्षत्रपाल आदि भूतगणाकी पूजा करने वाले। भूत प्रतादिकी पूजा करनेवाल पच महाभूताकी पूजा करनेवाले। भूतेभ्य अिज्या येषाम् ते। (अिज्या=यजन पूजन दान √यज्)

भक्ष्यम [२–५]

√भिक्ष् (भिक्षायाम लाभ अलाभ च)। अिसी परसे भिक्षा भक्ष भक्ष्य भिक्षुक भिक्षु दुर्भिक्ष्य भिक्षाम अित्यादि नाम आय ह। भिक्षासे प्राप्त अनको भक्ष्य कहते ह। सयासीके लिअे कहा है कि वह भूखको अक रोग समझ और अुसके निवारणके लिअ अन-रूपी दवा ल ल। मतलब यह है कि स्वादका सयाल छोडकर और मेदोवद्धि न हो जाय जितना ही अन्न खाय और वह भी सन्तोष वत्तिसे लाअी हुअी भिक्षाका अन्न हो। क्षुव व्याधिश्च चिकित्स्यताम, तवुचितम भिक्षौषधम गह्यताम स्वादु अन्नम न तु याच्यताम, विधिवशात प्राप्तेन सतुष्यताम। अजुन कहता है कि अिस राज्य लाभस स्वजनाकी हत्या करनकी अपेक्षा सयास लेकर भिक्षा पर जीना बहतर है। क्षत्रियाक मनमें अगर अधिकसे अधिक तिरस्कार हो सकता है तो वह भिक्षान्नके बारेमें। असा भिक्षान भी खाकर जीना स्वजन-हत्याकी अपेक्षा बहतर है। अिस तरह अजुनने अपन विषादकी पराकाष्ठा बताअी है।

भोक्ता [५–२९ ९–२४ १३–२२]

√भुज् (पालन-अभ्यवहारयो) पालन करना भोजन करना खाना।

भगवान स्वय अन्न भी है और अन्न खानवाला अर्थात भी है कर्ता भी है और भोक्ता भी है। प्राणियोंके द्वारा वह स्वयम भोक्ताकी क्रिया करता है किन्तु अुसका बधन प्राणियाको होता है भगवान तो अलिप्त रहते ह।

भोगा [१–३२, ३३, २–५, ३–१२, ५–२२]

अिन्द्रियोंके द्वारा जो कुछ भी अनुभव लिया जाता है या पाया जाता है वह सब भोग है। भोगके द्वारा जो सुख मिलता है वह तो क्षण-जीवी होता है, किन्तु अुसके कारण अिन्द्रियां क्षीण होती हैं। यह हानि दीर्घकालीन होती है अिसलिअे भर्तृहरि कहते हैं— **भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता** ' हमने भोगोंका अुपभोग नहीं किया हम ही अुपभोग किये गये। अफीमची मानता है कि वह अफीम खाता है, किन्तु असली बात तो यह है कि अफीम ही अुसे खा जाती है। भोगे रोगभयम्।

भोग और त्यागके बीचका रास्ता है योगका। (६–१६ १७)

भोगैश्वर्यप्रसक्त [२–४४]

आसुरी सम्पत्तमें रहनेवाले लोग अैहिक जीवनको ही सर्वस्व मानते हैं। *अुनके सामने सुख और सामर्थ्य अुपभोग और अैश्वर्य, ये दो* ही आदर्श रहते हैं। √अीश् (अैश्वर्य) हुक्म करना राज्य करना, अधिकार रखना, वशमें रखना। दूसरे पर या किसी वस्तु पर जो अपना प्रभुत्व रखता है अुसे अीश कहते हैं। असे श्रेष्ठ अीशको अीश्वर कहते हैं। राजा मालिक धनी अिन सबके लिअे अीश्वर शब्द आता है। अस अीश्वरके सामर्थ्यको अैश्वर्य कहते हैं। मनुष्य दूसरेको आज्ञा करनेकी शक्तिसे सन्तुष्ट होता है और सम्पत्तिके द्वारा मिलनेवाले अुपभोगोंसे भी सुख पाता है। आसुरी संपत्तिमें अिन्हींका खयाल रखा जाता है।

मच्चित्ता [६–१४, १०–९, १८–५७, ५८]

मयि चित्तम् येषां ते जिनका चित्त मुझमें लगा हुआ है पिरोया हुआ है असे मनुष्य। भक्तोंके लक्षणोंमें यह विशेषण सबसे अधिक महत्त्वका है। यहां पर मत् का अर्थ भगवान परमात्मा श्रीकृष्ण है।

आत्माके लिअे भी अहम् शब्द आता है। अुस अर्थमें भी अिसको विशेषण देना चाहिये। मनुष्यको चाहिये कि वह अपना मन जो विषयोंके साथ अेकरूप होकर अुनकी तरफ दौड़ता है अुसे रोके

रागद्वेष छोड़ना, समभाव धारण करना। अतः साधक अन्तरात्मामें ही स्थिर रहे। अन्तरात्मा ही आत्माराम है। भगवानमें और अुसमें कोअी भेद नहीं है। आत्म-परायण होना और परमात्म-परायण होना अेक ही बात है।

मत्-कर्मकृत [११–५५], मत्-कर्मपरम [१२–१०]

मत्कर्मकृत् का अर्थ है भगवानके लिअे ही कर्म करनेवाला। मनुष्य जिस कर्मको भगवानका कर्म समझता है अुसीको करनेवाला और अुसीको ही सबसे श्रेष्ठ समझनेवाला मनुष्य जो कुछ भी कर्म करता है अुसे वह भगवानको ही अर्पण करेगा। कर्म करते समय वह मनुष्य सोचता है कि यह काम आवश्यक है या नहीं और आवश्यक हो तभी अुसे करनेके लिअे तैयार होता है तब वह न तो कोअी स्वार्थका कर्म करेगा न सकाम वृत्तिसे करेगा। मत्कर्मकृतका यह लक्षण है।

मत्परम [११–५५, १२–२०], मत्परायण [९–३८]

अहम् परम यस्य सः — मैं ही जिसके लिअे सर्वश्रेष्ठ हूँ। अिसका भी अर्थ मत्कर्मपरमके समान लगता है। यह भी भक्तका लक्षण है।

मध्यस्थ [६–९]

मध्यस्थ वह है जो अुदासीनके जैसा पक्षपात रहित और तटस्थ तो है ही, लेकिन परस्पर विरोधी और झगड़नेवाले दोनोंका भला चाहता है और अुसके लिअे प्रयत्न भी करता है।

मन [३–६, ७, ४२, ५–११, १३, ६–२४, ८–१०], मनीषिन् [२–५१, १८–३, ५], मन प्रसाद [१७–१६], मनुष्य [१–४४, ३–२३, ४–१८ अित्यादि]

√मन् (ज्ञाने अवबोधने स्तम्भे) जानना, सोचना, विचार करना, अभिमान करना।

किसी वस्तु पर आगे पीछेका विचार करके सोचना मनुष्यका ही काम है। मननात मनुष्य । जो अुत्तम मनन कर सका वह मनु था (४–१ १०–६)।

जब मन कलुषित होता है तब वह शुद्ध निर्णय नहीं कर सकता। स्वच्छ पानी जिस तरह पारदर्शक होता है अुसी तरह निर्मल मन रागद्वेष रहित मन, जीवन और सृष्टिका रहस्य आसानीसे और पूर्णतया समझ सकता है। मनकी जिस स्थिति और शक्तिको मन प्रसाद कहते हैं। मन स्वभावतः चंचल होता है। स्थिर होने पर अुसमें प्रसाद आता है।

(अिसके साथ मुनि शब्दका विवरण भी देखिये।)

मनु [४–१, १०–६]

√मन् (ज्ञाने, अवबोधने, स्तंभे) जानना सोचना परख करना, गर्व करना।

मन परसे ही मन्ता मनुष्य मानवी मंत्र, मन्मथ, मन्यु मनन मानिनी मनीषा मंत्रि आदि शब्द आये हैं।

मनुष्य-जातिके मूल पुरुषको मनु कहते हैं। पुराणोंमें असे चौदह मनु बताये हैं। ब्रह्मदेव मनुओंको पैदा करता है और अुनके द्वारा सब प्रजा पैदा होती है। अेक अेक मनुके कालको मन्वन्तर कहते हैं जो ८३ २०,००० मानवी वर्षका माना गया है। मनुष्य मनुकी प्रजा है अिसलिअे अुसे मनुज कहते हैं।

चार वर्ण चार आश्रम राजा प्रजा, न्यायाधीश, साक्षी सेना अित्यादि समाजके सब अंगोंका कर्तव्य-कर्म बतानेवाला धर्मशास्त्र मनुस्मृतिके नामसे प्रसिद्ध है।

मनुका पुत्र अिक्ष्वाकु मनुष्य-समाजका सबसे प्रथम राजा हुआ।

मनोरथ [१६–१३]

जिसका शब्दार्थ है मनका रथ अथवा मनरूपी रथ। अिसका रूढ अर्थ है अिच्छा वासना। वासनाओं पर आरूढ होकर मन चाहे वहां दौड़ता है। मामूली रथ तो सीधी जमीन या रास्ता मिलने पर

महात्मा कहा ही है। जिस परसे सिद्ध होता है कि जिसकी आयताके बारेमें मनमें आदर हो अुस महात्मा शब्द लगाया जाता था। जब सञ्जयन अर्जुनको महात्मा कहा तब सञ्जयके मनमें अर्जुनकी भगवद्भक्ति कृष्णनिष्ठा धर्म-पालनका आग्रह ये सब गुण थे ही। साथ साथ भगवानकी कृपाका वह पात्र है यह बात भी संजयके मनमें अवश्य होगी।

महानुभाव [२–५]

√भू (सत्तायाम् प्राप्तौ अवकल्कन) होना पैदा होना प्राप्त करना शुद्ध होना जित्यादि।

अनुभावका अर्थ है पराक्रम राजतेज प्रभाव सामर्थ्य निश्चय दृढ़ अभिप्राय मनोविकारका बाह्य चिह्न। अिस परसे महानुभावका अर्थ होता है प्रभावशाली मनुष्य समर्थ पुरुष।

कार्लाअिल जिस अर्थमें Hero शब्दका व्यवहार करता है अुस अर्थमें हम महानुभाव शब्द चला सकते हैं। आजकल Hero-worship के लिअे 'विभूति-पूजा' शब्द चला है। सब महात्माओंमें महानुभावता होनी ही चाहिये।

महायोगेश्वर [११–९], **योगेश्वर** [११–४ १८–७५ ७८]

योगियोंमें जो श्रेष्ठ होता है अुसे योगेश्वर या महायोगेश्वर कहते हैं। महादेव शंकरके लिअे और श्रीकृष्णके लिअे यह नाम खास लगाया जाता है।

महाशन [३–३७]

√अश् (भोजन) भोजन करना। अशन = आहार। महत् अशनम् अस्य अिति महाशन। जो बहुत खानेवाला या पेटू होता है अुसे महाशन कहते हैं। काम और क्रोध ये दो जिसके पहलू हैं असा वासनारूपी शत्रु रजोगुणसे पैदा हुआ है सब पाप करता है अुसकी कभी तृप्ति होती ही नहीं।

अर्जुनका भाई भीम बहुत खाता था। अिसलिअे अुसका नाम हुआ था वृकोदर (१–१५) अर्थात् भेड़ियेका पेट रखनेवाला। किन्तु वह जितना खाता था अुतना हजम करके काम भी करता था। अिसलिअे अुसे भीमकर्मा (१–१५) पराक्रमके काम करनेवाला भी कहते थे।

काम-क्रोधरूपी शत्रु महापापी हैं, महाशन हैं किन्तु अुसके शुभकर्म तो कहीं दीख नहीं पड़ते। कहते हैं कि जिसे भस्मक रोग होता है वह खाता बहुत है किन्तु अुस आहारसे अुसकी शक्ति नहीं बढ़ती प्रत्युत शरीर क्षीण होता जाता है। काम-क्रोधका भी यही हाल है। कामी मनुष्य क्षीणवीर्य होने पर और भी अधिक काम-सेवन करता है और जल्दी रोगग्रस्त हो जाता है।

मात्रास्पर्शा [२–१४]

√मा (माने) नापना।

नाप्यन्ते शब्दादयः अेभिः अिति मात्रा।

√स्पृश् (संस्पर्शने) छूना सम्बन्धमें आना।

स्पृश्यन्ते अिति स्पर्शाः = विषयाः = शब्दादयः। मात्रा = अिन्द्रिया स्पर्शा = अिन्द्रियोंके विषय। जिनके द्वारा वस्तुओंका अनुभव नापा जाता है वे हैं अिन्द्रिया और अिन्द्रियोंके साथ जिनका स्पर्श यानी संयोग होता है वे हैं विषय। शब्द स्पर्श, रूप रस गन्ध ये सब विषय अथवा स्पर्श हैं और श्रोत्र त्वक् अक्षि जिह्वा घ्राण ये सब मात्रा अथवा अिन्द्रिया हैं। वस्तुओंके साथ अिन्द्रियोंका संयोग होनेसे शीत, अुष्ण सुख, दुःख आदिका अनुभव होता है। ये सब अनुभव और संयोग स्थायी नहीं होते, वे आते हैं और जाते हैं अुन्हें सहन करना ही योग्य है।

माया [४–६, ७–१४, १५, २५, १८–६१]

मायाका असली अर्थ है सामर्थ्य। अीश्वरका सामर्थ्य गूढ है अिसलिअे अुसे माया कहते हैं गूढ सामर्थ्य माया है। जादूगर लोग गूढ मंत्र-सामर्थ्यसे भ्रम पैदा करते हैं और लोगोंको ठगते हैं, अिसलिअे

ठगनेकी शक्तिको और अिच्छाको भी माया कहने लगे। जब कोअी चीज जसी है वसी नहीं दीखती है तब अुसके भासमान स्वरूपको भी माया कहते ह। वेदान्तमें प्रकृतिको माया कहते ह और भगवानको मायिन् कहा है

मायाम् तु प्रकृतिं विद्धि मायिनम् तु महेश्वरम्।
(श्वताश्वतर ४–१०)

शाक्त लोग देवीको ही माया या आद्‌माया कहते ह। मायावादी अज्ञानमूलक भ्रमको माया कहते ह। श्री शंकराचायके अिन दो श्लोकोंमें मायाका स्वरूप पूणरूपसे आया है

अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्ति अनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा।
कार्यानुमेया सुधियव माया यया जगत सर्वमिदम् प्रसूयते॥
सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो।
साङ्गाप्यनङ्गाप्युभयात्मिका नो महाद्भुतानिर्वचनीयरूपा॥
(विवेकचूडामणि ११०–१११)

परमेश्वरकी त्रिगुणात्मक जो महान शक्ति है अुसे अव्यक्त कहते है। अुसीको अनादि अविद्या भी कहते ह और माया भी कहते ह। अिस जगतकी अुत्पत्ति अिस मायासे ही है। माया दीख नहा पडती लकिन अुसका काय देखकर बुद्धिमान पुरुष अुसका अनुमान कर सकते ह। अिस मायाका रूप न सद् है न असत् न सदसद। वह भिन्न भी नहीं अभिन्न भी नहीं और अुभयरूप भी नहीं। वह न है सावयव और न है निरवयव न अुभयात्मक। असी यह माया अति अद्भुत आश्चयकारक और अनिवचनीय है।

मागशीष [१०–३५]

जिस महीनेकी पूर्णिमाके दिन चन्द्र मृगशीष नक्षत्रमें रहता है वह मागशीष महीना है। विभूतियाका विस्तार समझाते हुअ भगवान कहते ह कि सब महीनोंमें म मागशीष मास हूँ। अिसी महीनेका महत्त्व देनेका कारण यह है कि वह महीना प्राचीन कालमें वषके प्रारम्भमें आता था। आज भी अुसे अगहन यानी अग्रहायण कहते ह (हायन = वष अग्र = आरम्भ)।

ज्योतिषकी मददसे गणित करके मार्गशीर्ष महीना वर्षके आरम्भमें कब आता था अिसका निश्चय करना कठिन नहीं है। यह गणित करके तथा और भी सबूत देकर लोकमान्य तिलकने वेदकालका निर्णय करके अेक पुस्तक लिखी है जिसका नाम अुन्होंने रखा है मृगशीर्ष अथवा वेदकाल निर्णय। जब दिन रात समान रहते हैं अर्थात् जहां विषुववृत्त और क्रांति वृत्तका क्षेप होता है तब अुस स्थानसे (संपातसे) वर्षारम्भ गिनते हैं। वर्षमें असे दो स्थान आते हैं। आजकल वसंत संपात भाद्रपदा नक्षत्रमें आता है अिसके पहले रेवतीमें था। बहुत काल पूर्व वह मृगशीर्षमें था। संपातके अिस तरह पीछे हटनेको *अयन चलन* कहते हैं।

मार्दवम् [१६–२]

मार्दवम् = मृदुता, अक्रौर्यम् सौम्यता। √मृद (क्षोदे) दबाना मसलना, घिसना।

दबाकर घिसकर मसलकर मृदुता लाअी जाती है। मार्दवका यह स्वभाव प्रयत्नसे ही लाया जाता है। जिसने बहुत दुःख सहन किया है अथवा देखा है वह दूसरोंका दुःख देखकर पिघल जाता है।

दुर्बल मनुष्य प्रमादशाली है अवरदस्त विकारोंके सामने यह पराभूत होता है। यह देखकर सज्जन लोग अेक ओर स्वयम् सचेत रहते हैं और दूसरी ओर पतितोंके प्रति क्षमावृत्ति धारण करते हैं। सहानुभूति और क्षमाशीलता ये मार्दवके दो पहलू हैं। अिसके अलावा जीवनके व्यवहारमें हरअेकके प्रति सत्कारी सौम्यता धारण करना भी मार्दवका अेक पहलू है।

हम अपने हेतुओंको और विकारोंको समझ पाते हैं और अपनी अुन्नतिके लिअे हम ही पूर्ण रूपसे अुत्तरदायी हैं। अिसलिअे हम अपने प्रति कठोर बनें यह योग्य है। दूसरेकी परिस्थिति हम नहीं जानते अुसके हेतुको नहीं पहचानते और अुसके विचारके काजी बननेका हमारा काम और अधिकार भी नहीं है। अिसलिअे हम अुसके प्रति मृदुता धारण करें यही सच्चा न्याय है। जो मनुष्य और सब बातोंमें अच्छा है किन्तु लोगोंके प्रति कठोर या न्यायनिष्ठुर है अुसका सद्‌भाव सब

लोग टालते हैं। और जो मनुष्य निःस्पृह होकर क्षमाशील है अुसके प्रति लोग आकर्षित होकर अुसके अिर्द गिर्द अिकट्ठा होते हैं और अुसके खुदके प्रति कठोरता लेकर जीवन-साधना सीख लेते हैं। अिस तरह मार्दव-युक्त मनुष्यका सहवास आह्लादक और कल्याणकारी होता है। वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि लोकोत्तराणां चेतांसि। यह दृष्टि भी सोचने लायक है — सम्पत्सु महतां चित्त भवति श्रुत्पलकोमलम्। आपत्सु च महाशैलशिलासंघातकर्कशम्॥

मिथ्याचार [३–६]

अदम्भित्व शब्द देखिये।

मित्रद्रोह [१–३८]

√द्रुह् (जिघांसायाम्) किसीका द्रोह करना बुरा चाहना।

जो मनुष्य स्नेह करता है हित् है असीका बुरा चाहना सबसे हीन पाप है। मित्रद्रोह समाजकी बुनियादको ही काट देता है।

मित्रारि [१४–२५]

मित्र = स्नेही। अरि = शत्रु।

शत्रु मित्र दोनोंके प्रति जो मनुष्य समान भाव रखता है यानी जो अन्याय करके मित्रोंका पक्षपात नहीं करता और द्वेष करके शत्रुका नुकसान नहीं करता वह गुणातीत है। गीतामें (६–९) सुहृद मित्र अरि अुदासीन मध्यस्थ द्वेष्य और बन्धु साधु और पापी सबके प्रति समान भाव रखनेका साम्य योग बताया है।

अिसी सिलसिलेमें तुल्य और सम वाले शब्द भी देखिये।

मुक्त [४–२३ ५–२८ १२–१५, १८–४० ७१],

मुक्तसंग [३–९ १८–२६] **विमुक्त** [९–२८, १५–५]

√मुच् (मोक्षणे) छोड़ना त्याग करना छूट जाना।

जो बन्धनसे छूट गया अुसे मुक्त कहते हैं। मनुष्यके मुख्य बन्धन तो काम क्रोध लोभ मोह मद मत्सर ये छह शत्रु हैं। अज्ञान आलस्य और परावलम्बिता भी अुसके बड़े बन्धन हैं। अिन नौ बन्धनोंसे छूट

जाना ही मोक्ष या मुक्ति है। पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणारूपी भव-बंधनसे जो मुक्त हुआ वह मुक्त है।

जिनमें से जो बंधन मोहके कारण हम पसन्द करते हैं छोड़ना नहीं चाहते अुन्हें सग कहा जाता है। सबके बंधन सबसे कठिन होते हैं। अुनसे जो बच गया वह मुक्त-संग है।

सकाम कर्म करनेसे कर्मफलके साथ संग पैदा होता है। अुस संगको जिसने निष्काम-वृत्तिसे छोड़ा वह मुक्त-संग हुआ।

('द्वन्द्वमोहविनिर्मुक्त' 'जन्मबंधविनिर्मुक्त' शब्द देखिये।)

मुनि [२–५६, ६९, ५–६, २८, ६–३, १०–२६, ३७, १४–१], **मौन** [१०–३८ १७–१६]

√मन (अवबोधने ज्ञाने) सोचना विचार करना।

जो ठीक सोचता है वह कम बोलता है अिसलिअे मुनिका अर्थ वाणीका संयम करनेवाला भी होता है। मननात् (श्रीदेवस्वरूपस्य) मुनि। मनन करनेसे मनुष्यको सब पदार्थोंका ज्ञान होता है जिसलिअे मुनि ज्ञानी होते हैं। मनन करनेसे आसक्ति छूटती है जिसलिअे वे संन्यासी बनते हैं और विवेक प्रखर होनेके कारण वाचा-संयम अुनका स्वभाव बनता है वह स्वभाव ही मौन है।

प्राकृत लोग जिन बातोंमें सावधान रहते हैं अुन बातोंमें मुनि अुदासीन याने सोये हुअे-से रहते हैं और जिन बातोंमें दुनिया सोयी रहती है अुनमें संयमी मुनि जाग्रत रहते हैं (२–६९)।

(अिसके साथ मनुष्य शब्दका विवरण भी देखिये।)

मुमुक्षु [४–१५]

√मुच् (मोचने) छोड़ देना ढीला करना छूट जाना त्याग करना।

अिसी परसे मुक्त मुक्ति, मोक्ष मुमुक्षा मुमुक्षु आदि शब्द आये हैं। मुक्त होनेकी अिच्छाको मुमुक्षा कहते हैं। जिसमें अैसी अिच्छा जाग्रत हुआ है वह मुमुक्षु है। यह अिच्छा सिद्ध होने पर अुसको मुक्त कहते हैं।

मूढग्राह [१७–१९], **असद्ग्राह** [१६–१०], **मूढ** [७–१५, २५ ९–११, १६–२०], **मुह्यति** [२–१३, ५–१५, ८–२७]

√मुह (वचित्य) वमान होना भूल करना पागल हाना। अिस परस मुग्ध और 'मूढ दोना शब्द आय ह।

√ग्रह (अुपादाने) लेना पकडकर रखना। अिस परसे ग्राह शब्द आया है। ग्राहका अथ है अभिप्राय निश्चय मगर वगा। अिसी परसे आग्रह शब्द भी आया है। अिस परसे मूढग्राहका अथ होता है मोहक कारण पकडकर रख हुअ (असत् = अशुभ) निश्चय।

जो ज्ञानी नही ह वे होने ह अज्ञानी। किन्तु अज्ञानी कवल ज्ञानक अभावसे शान्त कसे रह सकत ह वे कुछ न कुछ तो ल ही लेते ह। मोहका यह गुण है। अिस तरह अज्ञानजनित मोहके कारण जिन जिन बातोको मनुष्य पकड रखता है अुन्हे मूढग्राह कहते ह। यह आसानीस नही छटता।

जो लोग तमोगुणी होते ह आसुरी वृत्तिके होते ह अुनकी बुद्धि शुद्ध नही होती और जिद बडी मजबूत होती है जो काअी बात व पकडकर रखत ह अुसे आत्मनाश होन पर भी नही छोडत। Obsession को भी मढग्राह कह सकत ह।

मत्युससारवर्त्मनि [९–३] **मत्युससारसागर** [१२–७] **ससार** [१६–१९]

सम + √स (जाना बहना दौडना)। अिस परसे ससार याना जीवनकी गति अथवा जिन्दगी जीवयोनि। अब यह सब ससार अथवा योनिया मृत्युस व्याप्त ह अिसलिअ सब जीवयोनियाको मत्यु-ससार कहत ह। अिस मत्ययक्त ससार-गतिको रास्तकी (वत्म) अुपमा भी दी जाती है और क्योकि जीव अिसमें डूब जात ह अिसलिअ सागरकी भी अुपमा दी जाती है।

जन्म-मृत्युका चक्र चालू ही है। यह रास्ता कभी खतम ही नहीं होता। जो लोग भगवानकी शरण जाते हैं वे ही अिस संसार सागरसे बच जाते हैं। अुन्हींका रास्ता खतम होता है।

जन्म और मृत्यु मिलकर सम्पूर्ण जीवन होता है। मृत्यु जीवनका ही अेक अंग — आवश्यक अंग है। मृत्युके बिना जीवन परिपूर्ण नहीं होता। भगवानने हमें जानेका मौका दिया है और मरनेका अधिकार भी दिया है। It is our privilege to die. अिसी चीजको दूसरे ढंगसे हमारे लोगोंने कहा है — मरणं प्रकृतिः शरीरिणाम्।

मृत्युसे बचनेका अमर होनेका आदर्श मनुष्यके सामने है। सब धर्मोंमें अिसका जिक्र है। शरीरसे तो कोअी अमर हुआ नहीं। लेकिन जन्म-मृत्युके फेरेसे बचनेकी बात अवश्य मानी जाती है। आत्माको भूल जाना, केवल जड़ तत्त्व पर ही श्रद्धा रखकर जीना यही है मृत्यु। असा आत्मघाती मानते हैं।

मेधा [१०–३४], मेधावी [१८–१०]।

देखिये सुमेधा।

मत्र [१२–१३]

√मिद् (स्नेहे) प्रेम करना स्नेह करना। जो मनुष्य अनुकूल है मित्र चाहता है, अुसकी प्रगति देखकर संतुष्ट होता है अुसे मित्र कहते हैं। दुनियाके सब लोगोंके प्रति जिसका स्नेह है हित-बुद्धि है अुसे भूतानाम् कहते हैं।

मैत्री करुणा मुदिता और अुपेक्षा ये चार आर्य वृत्तियां हैं।

अिनमें औरोंका सुख देखकर सुखी होनेकी वृत्तिको मैत्री कहते हैं। समानोंके प्रति मैत्रीभाव रखना है।

दूसरोंका दुःख देखकर दुःखी होना और अुसके दुःखका निवारण करनेकी चिन्ता होना यह करुणा है।

अपनेसे अधिक भाग्यवान पुरुषका भाग्य देखकर अीर्ष्या न करना प्रसन्न होना यह है मुदिता। मुदिता असा सुंदर सद्गुण है जो मत्सर अीर्षा असूया आदि दोषोंका नाश करता है।

दुष्टोंकी दुर्जनता देखकर भी अुन पर क्रोध न करना अुनका द्वेष नहीं करना अुनका अहित नहीं करना अुपेक्षा है। ये मन आय वृत्तियां हैं। वन्की सीख है कि सबको मैत्रीके भावसे ही देखो। मैत्री भाव जब निःस्पृह होता है तभी वह पक्षपात रहित हो सकता है अन्यथा मैत्री मैत्री नहीं है। हर जगह पक्षपातको देखकर निराश हुअे किसीने कहा है—'There are no friends but only accomplices' जो मनुष्य सर्वभूत हित रत है अुसका कोअी खास मित्र नहीं हो सकता और वह भी किसीका खास मित्र नहीं हो सकता। अथवा यों कह सकते हैं कि वह सबका मित्र विश्वमित्र होता है।

मैत्रीके बारेमें लोगोंका जो आदर्श है वह भर्तृहरिने नीचेके सुंदर श्लोकमें दिया है

> पापान निवारयति, योजयते हिताय,
> गुह्यम च गूहति, गुणान प्रकटीकरोति
> आपद्गतम च न जहाति ददाति काले
> सन्मित्र-लक्षणम इदम प्रवदन्ति सन्त।

दूध और पानीकी मैत्रीका अुदाहरण भी भर्तृहरिने दिया है।

मोक्ष [१८–३०]

√मुच (मोचण)। मुक्त होना देखिये। यह चार पुरुषार्थोंमें से अंतिम है।

मोघाश [९–१२] **मोघज्ञान** [९–१२] **मोघम** [३–१६]
मोघकर्मा [९–१२]

मोघ यानी व्यर्थ निष्फल। मोघम् अव्यय है। अुसका अर्थ भी यही है—अप्रयोजन। जो मनुष्य समाज-सेवा नहीं करता दूसरेका खयाल नहीं रखता केवल अपनी अिन्द्रियोंको ही सन्तोष देता रहता है अुस पापीका जीवन व्यर्थ है।

जो लोग दैवी प्रकृतिके नहीं हैं आसुरी अथवा राक्षसी प्रकृतिके हैं अुनकी बुद्धि काम नहीं करती। मोहके वश होनेके कारण अुनका ज्ञान अुनका कर्म और अुनकी आशाअें सब मोघ यानी निष्फल होती हैं।

मोह [४–३५, १४–१३, २२, १६–१०, १८–७, २५, ६०, ७३]

√मुह् (वैचित्त्ये) बेहोश होना, मूढ़ बनना, भूल करना।

कोअी चीज जब अूपर अूपरसे सुन्दर होती है, भड़कीली या आकर्षक होती है, क्षणिक सुख देती है तब अुसके असरसे मनुष्य आपेसे बाहर हो जाता है, भले-बुरेका भेद भूल जाता है। तब कहते हैं कि अुसे मोह हुआ है। जो भावना सत्यकी विरोधी है वह मोह है। कर्तव्य-अकर्तव्यका भेद भी जब मनुष्य नहीं जानता तब कहते हैं कि अुसे मोह हुआ है। मोह=विवेकभ्रष्ट बुद्धि। तमोगुणके कारण मोह बढ़ता है। श्री शंकराचार्य कहते हैं — अज्ञानज मोह समस्त संसार-अनर्थ-हेतु सागर अिव दुस्तर। मोहको ही संमोह कहते हैं। मोह=मूर्छा चित्तवैकल्यम् भ्रान्तिसाधनम् अज्ञानम्, मिथ्या प्रीति।

मोहनम् [१४–८, १८–३९]

√मुह् (वैचित्त्ये) बेहोश होना, मूढ़ बनना, भूल करना।

मोह पैदा करनेवाली चीजको मोहनम् कहते हैं। अज्ञान अविवेक और मोहको पैदा करनेवाली चीज मोहन है। पौराणिक युद्धोंमें मोहन नामका अस्त्र काममें लाते थे जिससे सारी सेना या तो मूर्छित हो जाती थी या भ्रममें पड़ जाती थी। प्राचीन राजनीतिमें कहा है कि राजाको चाहिये कि अपने शत्रुके राज्यमें भ्रामक विचारोंका प्रचार करके शत्रु प्रजामें मोह पैदा करे जिससे अुसका संगठन टूट जाय और वह चारित्र्य दुर्बल बने। काव्योंमें मोहन शब्द अच्छे अर्थमें भी आता है।

यज्ञ [३–१४, १५, ४–२३, २५, ३२, ३३, ८–२८, ९–१६, २०, १०–२५, १६–१, १७–७, ११, १२, १३, २३, २७, १८–५], **यज्ञचक्र** [३–१६]

√यज् (देवपूजा-संगतिकरण-यजन-दानेषु) यज्ञ करना, आहुति देना, दान करना, संगति करना।

यज्ञका असली अर्थ है अर्पण करना, ओीश्वरके नाम अग्निमें आहुति देना। अिसके बाद प्रत्येक धर्मकृत्यको यज्ञ कहने लगे। पर ब्रह्मको भी यज्ञ कहते हैं। समाज-सेवाके जो तीन प्रधान कर्तव्य हैं अुनमें यज्ञका प्रधान स्थान है। यज्ञ दान, तपके द्वारा समाज अुन्नत होता है और जिन्हें करनेवाला पुनीत होता है।

गीताने यज्ञ शब्दका बहुत ही व्यापक अर्थ किया है। अुपभोगके कारण सृष्टिमें जो कमी पैदा होती है अुसे पूरा करनेका काम यज्ञका है। यज्ञका प्रयोजन अुसकी विधि और अुसका रहस्य जो जानता है वह यज्ञविद् है (४-३०)। अुपभोगके कारण विश्वमें जो क्षीणता आती है वह यज्ञके द्वारा दूर होती है। फिर यज्ञ होनेसे सारा विश्व यज्ञभावित होता है।

गीताने द्रव्ययज्ञ तपोयज्ञ जपयज्ञ ज्ञानयज्ञ, दैवयज्ञ ब्रह्मयज्ञ योगयज्ञ नामयज्ञ अैसे अनेक यज्ञ बताये हैं। और अैसे व्यक्तिके जीवनकी धन्यता भी बताओी है। किसी न किसी रूपमें यज्ञ हमारे धर्मका प्रधान रूप शुरूसे रहा है। वेदमें ही कहा है — यज्ञेन यज्ञम् अयजन्त देवा तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्।

यज्ञशिष्टम् [३-१३, ४-३१]

स्मृतियोंमें कहा है कि देवयज्ञादि कर्तव्य पूर्ण करनेके बाद अन्न बच जाता है वह अमृत है, अुसे खानेमें पाप नहीं है। समाजका ॠण पूर्णतया अदा करनेके बाद जो वित्त बचता है अुसका स्वार्थके लिअे अुपयोग करनेमें दोष नहीं है। अैसे अवशिष्ट अन्नके दो प्रकार होते हैं। विघस और अमृत।

यतचेता [४-२१, ५-२६ ६-१०, १२, १९]

गीतामें भिन्न भिन्न विशेषणोंके साथ चेतस शब्द पन्द्रह जगह और अिसी अर्थका चित्त शब्द सात जगह आया है। मन और बुद्धि भी चित्तके ही क्षेत्रमें आते हैं। अुनके स्थान भी तीस या चालीससे कम नहीं है। अिनके अलावा गीतामें मन बुद्धि और चित्तके व्यापारका,

अुसके निरोधका वर्णन जगह् जगह् आया है। अिन सब स्थानोका अेकत्र विचार करके गीताका मानसशास्त्र संगृहीत करना चाहिये। मन, बुद्धि, अहंकार आदि सबका जिसमें अन्तर्भाव होता है अैसा व्यापक शब्द है चित्त और चेतस।

अितने ही व्यापक अर्थमें मन शब्दका भी प्रयोग हुआ है। मनुष्य शब्द ही मन परसे आया है। मनुष्यके लिअे सब पुरुषार्थकी पूंजी ही अेकमात्र मन है। विज्ञानशास्त्री (Physicist) भी कहते हैं "हमारी सबसे श्रेष्ठ प्रयोगशाला हमारा मन ही है। भोग विलासमें डूबे हुअे लोग भी कहते हैं 'सुखका सच्चा साधन मन है।' बन्ध और मोक्ष दोनों मनके ही द्वारा होते हैं। ऋषियोंने यहां तक कहा है कि मन ही परब्रह्म है। यह सारी जड-चेतन सृष्टि भी मनकी ही सृष्टि है। बुद्ध भगवानने कहा है "मनो पुब्बंगमा धम्मा।" सब पदार्थ मनपूर्वक ही होते हैं। अिसलिअे मनका स्वरूप अुसका व्यापार और अुसको शुद्ध संस्कारी और समर्थ बनानेका अुपाय गीताने किस तरह बताया है यह सब स्पष्ट रूपसे समझना जरूरी है।

'यतचेता' यानी जिसने अपने मनको यत नियत-संयत बनाकर खुदको अपने काबूमें रखा है अैसा मनुष्य।

अपना मन, अपना अन्तःकरण और अपनी अिन्द्रियां जिसने अपने वशमें रखी है अुसीके चारित्र्यका विकास हो सकता है मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियोंका पूर्ण अुत्कर्ष होता है और अैसा ही मनुष्य साधनाका और मोक्षका अधिकारी बनता है।

यति [४–२८, ५–२६, ८–११], अयति [६–३७]

√यत् (प्रयत्ने) प्रयत्न करना।

√यम् (अुपरमे) रोकना, अूपर अुठाना। अिन दोनों धातुओंके भूत कृदन्त 'यत' होते हैं। यति अपने मनको, अपनी अिन्द्रियोंको, शरीरको और क्रियाओंको रोकता है, रोकनेका प्रयत्न करता है। सद्वासनाओंको पोषण देनेका प्रयत्न करता है। यति संयमी और यत्नशील होता है। गीतामें अैसे यतियोंको यतचित्त (६–१९),

यतचेतस् (५–२६), यतचित्तात्मा (४–२१ ६–१०) [आत्मा = शरीर] यतचित्तेंद्रियक्रिय (६–१२) यतवाक्कायमानस (१८–५२), यतात्मवान् (१२–११) यतात्मा (५–२५ १२–१४) यतेंद्रिय मनोबुद्धि (५–२८) अित्यादि विशेषण दिये हैं। यतिको प्रयतात्मा (९–२६) भी कहा है और जो लोग संयमका प्रयत्न नहीं कर सकते हैं, मनको काबूमें रखनेमें शिथिल हैं, असोको अयति कहा है (६–३७)। दुनियामें अधिकांश लोग अयति ही होते हैं।

युक्त, युक्ततम [६–४७], युक्तचेष्ट [६–१७], युक्तचेता [७–३०], युक्तात्मा [७–१८] नित्ययुक्त

√युज् (संयमन समाधौ योगे च) जोड़ना नियुक्त करना मनको अैकाग्र करना। योग शब्दमें यही धातु है। जो अपने मनको अीश्वरके साथ जोड़ देता है सुख और दुःखके बीच समताका खाता नहीं जिसकी क्रियायें (चेष्टायें) यथायोग्य और नियमित हैं असको युक्त अथवा योगी कहते हैं। यही योग-वृत्ति स्थिर होने पर अुस आत्मीको युक्ततम कहते हैं।

युक्ताहारविहार, युक्तस्वप्नावबोध [६–१७]

योगमें अर्थात युक्तावस्थामें सोना जागना खाना, पीना और घूमना फिरना आदि सब बातोंमें प्रमाण नहीं खाया जाता है। अिसलिअ योगीका कर्म अत्यन्त कुशलताके साथ किया जाता है। अुसका जीवन सर्वांगपरिपूर्ण होता है। (अवबोध = जागना)

गीतामें असा कहा है कि जो बहुत खाता है या बिल्कुल नहीं खाता बहुत सोता है या बिल्कुल नहीं सोता अुसके लिअ योग साध्य नहीं है। बीचका रास्ता ही योगके लिअ अनुकूल है। ब्रह्मचर्यके बारेमें असा मध्यममार्ग नहीं बताया है हालांकि चंद शाक्त और सूफी लोग असा कुछ अभिप्राय रखते हैं। ब्रह्मचर्य अेक व्रत या नियम नहीं है किन्तु आत्माकी शुद्ध स्थिति है। ['अत्यन्त' शब्द देखिये (६–१६)]

सहज समाधि

योगमें अिधर अुधर दौड़नेवाले मनको रोककर अेक ही वस्तुके साथ जोड़ा जाता है और वहीं स्थिर रखा जाता है। अिसी अवस्थाको समाधि कहते हैं। प्रथम तो अिसी समाधि कठिनाअीसे टिकती है। आगे जाकर जब वह दृढ़ होती है तब दुनियवी व्यवहार चलाते हुअे भी समाधि अवस्था टूटती नहीं। अैसी युक्ततम अवस्थाको सहज समाधि कहते हैं।

युग्म [४–८, ८–१७], युगपत [११–१२]

√युज (योगे मनियमने समाधौ) जोड़ना (join, add, yoke), अेकत्र करना नियुक्त करना तयार करना देना अलग करना जोतना (yoke)। अिस परसे युग शब्दके अनेक अर्थ होते हैं। जुआ (yoke) जोड़ी (अिसे अर्थमें युग्म भी कहते हैं) और कलि कृत द्वापर अित्यादि युग।

गीतामें युग शब्द कलि कृत आदि युगोंके अर्थमें ही आया है। अेक युगके वर्ष निश्चित नहीं हैं। कृतयुगके १७२८००० वर्ष होते हैं, त्रेतायुगके १२९६००० वर्ष होते हैं द्वापरके ८६४००० और कलियुगके ४३२००० वर्ष। ये चार युग मिलकर मानवी ४३२०००० वर्षोंका महायुग होता है। [कहीं कहीं सामान्य चार वर्षका भी युग गिना जाता है, कहीं पांच वर्षका कहीं बारह वर्षका।]

दूसरे लोग कहते हैं कि युगका आधार वर्षों पर नहीं किन्तु समाजकी नैतिक अवस्था पर है। लोगोंकी धर्म-वृत्ति जब सोती है और कलह बढ़ते हैं तब कलियुग चल रहा है अैसा समझना चाहिये। अिसीलिअे कलियुगमें संघ-शक्तिका विशेष माहात्म्य बताया है।

युगपद अव्ययका अर्थ होता है अेक साथ होना। जब दो अथवा अधिक चीजें साथ होती हैं तब युगपत (११–१२) हुअीं अैसा कहा जाता है। हजार सूर्योंकी प्रभा अगर आकाशमें अेक साथ खड़ी हो जाय अित्यादि।

३

योग [२–३९, ४८, ५०, ५३, ४–१, २, ३, ५–१, ५, ६–२, ३, १२, १६, १७, १९, २३, ३३, ३६, ३७, ४४, ७–१, ९–५, १०–७, १८, ११–८, १२–६, १३–२४, १८–३३, ७५]

√युज (संयमने समाधौ, योग) जोड़ना अेकत्र करना नियुक्त करना दे देना मनको अेकाग्र करना।

योग यानी जोड़ना (yoke)। शरीरको मनके साथ जोड़ना मनको आत्माके साथ और आत्माको परमात्माके साथ जोड़ना यह सब योग है। योगसूत्रमें योगकी व्याख्या की है — योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः और अुसका फल बताया है — तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानम्। गीताने कहा है — समत्वम् योग अुच्यते, योगः कर्मसु कौशलम्। भक्तियोग ज्ञानयोग कर्मयोग जपयोग बुद्धियोग आत्मयोग अभ्यास-योग आत्म संयम-योग साम्ययोग संन्यासयोग, ब्रह्मयोग अिस तरहसे गीतामें अनेक योग बताये हैं। अिसमें योगका अर्थ मार्ग ही है। गीताके हरअेक अध्यायके साथ योग शब्द आता है वहां पर योगका कोअी विशेष अर्थ नहीं है। प्रथम अध्यायका अर्जुन विषाद-योग कहा है। यहां पर विषाद कोअी योग तो है नहीं। सामान्य तौर पर योगका अर्थ प्रसंग और घटना भी किया जा सकता है। योगके नीचेके व्यावहारिक अर्थ भी ध्यानमें रखने चाहिये योग = जोड़ या मिलाप सम्बन्ध स्पर्श अुपयोग (व्यवहार) पद्धति क्रम परिणाम कपट जादू अुपाय सामर्थ्य बल (व्याकरणमें व्युत्पत्तिमूलक अर्थ गणितमें जोड़, ज्योतिषमें नक्षत्रका मुख्य तारा। योगक्षेममें योगका अर्थ है अप्राप्त वस्तुका पाना और क्षेमका अर्थ है प्राप्त वस्तुका रक्षण करना।)

आहार विहार चेष्टा निद्रा जागृति सब बातोंमें योगी नियत रहता है। जिससे वह दुःखोंसे मुक्त और शरीर तथा मनसे निरोगी होकर वह अीश्वरका ध्यान कर सकता है। अभ्यास और वैराग्यके द्वारा मनको काबूमें रखनेसे योग साध्य होता है।

योगधारणा [८–१२]

अेकाग्रता अथवा समाधिकी अवस्थाको योग धारणा कहते हैं। अिन्द्रियोको अिधर अुधर दौडने नही देना अुन्हे काबूमें रखना, यह है अिन्द्रिय धारणा। यही स्थिर होने पर योग धारणा सिद्ध होती है।

योगभ्रष्ट [६–४१]

अूपर 'योग' शब्द देखिये।

योग आत्मोन्नतिकी अेक साधना है। पूरी अुत्कटता हो तो सिद्धि शीघ्र मिल जाय। नही तो अनेक जन्म तक चलानी पडे। योग मार्गमें शिथिलता आने पर कुछ कालके लिअे मनुष्य योगभ्रष्ट हो जाता है भ्रष्ट स्थितिमें पूर्व पुण्यका अुपभोग करके अुसे क्षीण भी कर सकता है, किन्तु आत्मोन्नतिका संकल्प अुसे फिर अनुकूल परिस्थितिमें ला देता है। योगमें अेकाग्रता और अुसकी अुत्कटता नष्ट होने पर अुसका मानस चलित होता है मनुष्य अनेक चित्त विभ्रान्त होता है (१६–१६), संयम शिथिल होता है (अयति ६–३७) तब अुसे योगभ्रष्ट कहते हैं।

योगसंसिद्ध [४–३८, ६–३७]

कर्मयोग और समाधियोगके अनुशीलनसे जिसे पूरी संस्कारिता यानी योग्यता प्राप्त हुअी है अुसे योग-संसिद्ध कहते हैं और अुसकी सिद्धिको योगफलको योग-संसिद्धि कहते हैं। दीर्घ और अेकाग्र प्रयत्नसे ही यह संसिद्धि प्राप्त होती है।

योगस्थ [२–४८]

साधक योग स्थितिमें सर्वकाल नही रह सकता। कुछ समय बाद व्युत्थान हो ही जाता है। सिद्ध दशा आने पर मनुष्य योग वित्तम अथवा योग-संसिद्ध बनता है। अुसीको योगारूढ भी कहते हैं (६–३४)। जब तक वह आरूढ नही हुआ है तब तक अुसे आरुरुक्षु कहते हैं। योगारूढ = प्राप्तयोग।

योगी [३-३, ४-२५ ५-११ २४, ६-१ २, ८, १०, १५, १९ २७, २८, ३१, ३२, ४२, ४५, ४६, ४७ ८-२३ २५ २७ २८, १०-१७, १२-१४ १५-११]

योग विद्यामें जिसका प्रवेश हुआ है अथवा अुसमें जो प्रवीण हुआ है अुन दोनोंको योगी कहते हैं। असे योगयुक्त अथवा योगयुक्तात्मा भी कहते हैं। सिद्ध योगी योगारूढ़ है। सब योगियोंके आदि आचार्य परात्पर गुरु प्रत्यक्ष अीश्वर ही हैं। अिसलिअे अुन्हें योगेश्वर कहते हैं (११-४ १८-७५ ७८)।

योनि [१४-३ ४ १६-१९ २०]

योनि = जन्मस्थान या मनुष्ययोनि भूतयोनि अित्यादि अेक

रज [१४-५ ७, ९ १० १२ १५ १६, १७ १७-१]

√रञ्ज् (राग) रंगना खुश होना प्रेम करना अनुरक्त होना।

सत्त्वगुण स्वच्छ सफेद माना जाता है। तमोगुण काला और बीचका यानी मध्यका जो गुण है वह रंगीन होता है अिसलिअे अुसे रक्तवर्ण कहते हैं। वही रजोगुण है। रजोगुणमें अज्ञान मूलक अल्प ज्ञान मूलक या विकृतज्ञान मूलक प्रवृत्तिकी बहुतायत होता है। अुसके प्रमाणमें प्रगति बहुत कम होती है। अथवा होती ही नहीं — मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः। सच्ची और स्थायी प्रगति सत्त्वगुणसे ही होती है।

अिसी रजोगुणसे काम और क्रोधकी अुत्पत्ति होती है। काम और क्रोध अेक ही चीजके दो पहलू हैं और पापके मूलमें ये दोनों होते हैं। अिस चीजको गीताने रजोगुण-समुद्भव (३-३७) कहकर अुसका विस्तारसे वर्णन किया है। जिसमें रजोगुण प्रगट होता है असे राजस या राजसी कहते हैं।

रस [२-५९ ७-८, १५-१३ १७-८]

√रस् (आस्वादन-स्नेहनयोः) स्वाद लेना चाहना प्रेम करना पतला बनाना।

किसी चाजको देखकर अुसके प्रति हमारे मनमें आस्वादकी जो वत्ति पदा होती है वह रस है। स्वादिष्ट खाद्य पदाथ देखकर जीभमें पानी छूटता है अिसलिअे जीभका रसनम (१५–९) अथवा रसना कहते ह।

अुपवास करनेसे विषय तो दूर होते ह किन्तु रस कम होनेकी जगह बढता ही है। अति आहारसे रस बिगडता है बिलकुल न खानेसे रस घटता है अिसलिअे युक्ताहार ही श्रेष्ठ माना गया है। अिन्द्रियोंका विषयोंके प्रति जो आकषण है वो रस है वह भगवानके दशन बिना आत्म-दशनके बिना दूर नही होता। न असति सम्यक दशने रसस्य अुच्छेद। रसका अथ सार भी है। अिस अथमें भगवानको भी रस कहा है — रसो व स। असा माना गया है कि वनस्पतियोंमें जो रस पाया जाता है वह चद्रमाके द्वारा अुन्हें मिलता है। सोम चद्र भी है और अुस नामकी वनस्पति भी (१५–१३)। आहारमें जो पिष्ट अश होता है अुसे रस्य कहते ह।

राक्षसी [९–१२]

यह शब्द किस धातुसे आया है कहना कठिन है। अिसके दो रूप हैं रक्षस् और राक्षस। √रक्षका अथ होता है पालन करना, जानवरोंको चराना राज्य करना। और दूसरी धातु है √रख गायणाल मथयो — सूखना अलकृत करना। अिनमें से किसी धातुसे शायद आया हो। दुष्ट वत्तिके मनुष्यको अथवा कोअी भिन्न योनिको राक्षस कहते ह। गीतामें तीन प्रकारकी सस्कृतियोंका अुल्लेख है। मनुष्य प्रकृतिके तीन प्रकारो पर जिनका आधार है दवी आसुरी और राक्षसी। अिनमें से राक्षसी तो अत्यन्त हीन है। यह दीघजीवी या आप्तकाम नहीं हो सकती अिसलिअे अिसे छोडकर आगे सोलहवें अध्यायमें दवी और आसुरी अिन दो प्रकृतियोंसे निकलनेवाली दो सस्कृतियोंका विवेचन किया है। राक्षसी प्रकृति सस्कार-क्षम ही नहीं है अिसलिअे राक्षसी सस्कृतिका वणन नहीं हो सकता है। शाकर भाष्यमें छिंधि भिन्धि पिब खाद परस्वम अपहर जिति —तोडो, फोडो पियो, खाओ दूसरोंका धन लूटो असा अिस प्रकृतिके लोगोंका जीवन क्रम बताया

विकास होता है और अपना जीवन सफल होनेका समाधान प्राप्त होता है, अुसीको अगर सुख माना जाय तो बात अलग है। कालिदासका दुष्यन्त कहता है 'नातिश्रमापनयनाय यथा श्रमाय राज्यम्'— (राज्यका स्वामित्व कष्टको जितना दूर करता है अुससे अधिक तो पैदा करता है)। किन्तु राजा लोग तो अक्सर राज्यको मिल्कियत समझते हैं, सुखोपभोगका साधन समझते हैं अनेक लोग पर हुकूमत (आज्ञा) चलानेके आनन्दका साधन समझते हैं। "राज्यम् किम्?" "आज्ञाफलम्।" अिसी भावसे अर्जुन कहता है कि राज्य-सुखके लोभसे हम स्वजनोंको मारनेके लिअे अुद्यत हुअे हैं, तुच्छ स्वार्थ और सुखके लिअे भयानक पाप करनेके लिअे तैयार हुअे हैं।

रात्रि [८–१७, १८, १९, २५]

प्रवृत्तिके लिअे दिवस है, विश्रान्तिके लिअे रात्रि है। यह बात जितनी मनुष्य और पक्षियोंके लिअे सही है अुतनी ही अिस ब्रह्माण्डकी कल्प-व्यवस्थाके लिअे भी सही है। हृदयकी धड़कनमें और नाड़ीकी ठोकरमें दिवस और रात्रि पाअी जाती है। प्रकृतिके वर्षमें शीतकाल माना रात्रि है समुद्रमें ज्वारके बाद जो भाटा आता है वह अुसकी रात्रि है। जीवनको अगर हम दिन कहें तो मरण जीवोंकी रात्रि है। पुराणकारोंने दिवस-रात्रिके तत्त्वका विनियोग ब्रह्मा प्रजापति अर्थात् विराटके जीवनमें भी करके दिखाया है। हजार युगका अेक दिन होता है जिसके बाद हजार युगकी रात्रि होती है। अिस हिसाबसे ब्रह्मदेव अपने सौ वर्ष जीता है। असे अनेक ब्रह्मदेवोंके राज्य-कालोंका मापना कोअी मुवान ऋषि है।

दिन होने पर अव्यक्तमें से सृष्टिकी अुत्पत्ति होती है। रात पड़ने पर वही सृष्टि मूल अव्यक्तमें फिरसे लीन होती है। दिवस और रात्रिके बीच दो दो सन्ध्याअें भी होती हैं।

लघ्वाशी [१८–५२]

लघु है आहार जिसका यानी कम खानेवाला। लघुका अर्थ केवल कम ही नहीं किन्तु सुपाच्य चीजें खानेवाला भी लेना चाहिये।

ऊपर पचाय खानेसे स्वास्थ्य पर बाधा पड़ता है और मन विकारी होता है, जिससे तन बिगड़ जाता है और संयम करना कठिन मालूम होता है। ज़्यादा खाना अति आहार करना और बार बार मौके बेमौके खाना ये सब शरीर-स्वास्थ्यका और मन स्वास्थ्यका विरोधी है। मनुने अति भोजनकी निन्दा करते हुए कहा है

अनारोग्यम् अनायुष्यम्, अस्वर्ग्यम् चातिभोजनम्।
अपुण्यम् लोकविद्विष्टम् तस्मात् तत् परिवर्जयेत्।'

यहां ध्यानमें रखना चाहिये कि स्मृतिकार समाजका सब ओरसे विचार करनेवाले थे। जो युवा है जिसका शरीर वर्धमान है जो ब्रह्मचर्यका पालन करता है उसे आहार तौल तौल कर और सोचते रहने खानेकी आवश्यकता नहीं है। स्मृतियाँ कहती हैं — अमितम् ब्रह्मचारिणाम् — ब्रह्मचारियोंके लिये नाप-तौल करके खानेकी जरूरत नहीं है।

एकान्तमें रहनेसे और आहार कम करनेसे हम स्वप्न-दोषसे बच जाते हैं और बाकीके सात्त्विक गुणोंका अनुशीलन करना आसान बनता है। योगशास्त्रमें भी सुपाच्य अल्पाहारका महत्त्व बहुत माना है। वैद्यशास्त्रने तो कहा ही है कि जो मनुष्य मितभुक और हितभुक है वही निरोगी रह सकता है। ['आहार' शब्द भी देखिये।]

लाभालाभौ [२–३८]

√लभ् (प्राप्तौ) पाना, लेना, सताना। लाभ और अलाभ प्राप्ति और अप्राप्ति दोनोंके प्रति सामान्य भाव समान भाव रखनेको गीताने साम्ययोग कहा है। सर्वभूतोंके हितके लिये और आत्मशुद्धिके लिये यज्ञ दान तप आदि कर्तव्य कर्म करते समय यह ध्यानमें रखना पड़ता है कि मनुष्यका अधिकार कर्म तक ही सीमित है। कर्मोंसे जो अनेक फल पैदा होते हैं उन पर मनुष्यका अधिकार नहीं है यह जानकर मनुष्यको चाहिये कि वह सुख-दुःख लाभ-हानि जय पराजय इत्यादि द्वन्द्वोंके प्रति समान भाव अथवा उदासीनता जैसा भाव धारण करे। इसीको साम्ययोग कहा है। 'समत्वम् योग उच्यते' — योगमें समवृत्ति आ जाती है।

अिसका यह अर्थ नहीं है कि मनुष्य कोअी कार्य प्रयोजन विहीन करे और यह भी अर्थ नहीं है कि जिस कार्यमें हानि हो यह पहली हो अैसा कार्य मनुष्य मूर्खाग्रहसे करता ही रहे। किन्तु समबुद्धिसे विहित कर्म करते हुअे लाभ-हानि जो कुछ भी प्राप्त हो अुसका अुद्वेगरहित और वासना-शून्य होकर स्वीकार करे।

लोकमहेश्वर [१०–३]

√लोक् (दर्शने) देखना निरीक्षण करना। (भाषायाम् दीप्तौ च) जानना, घूमना प्रकाशित होना।

लोक शब्दके अनेक अर्थ हैं। लोक=दुनिया। भूलोक स्वर्गलोक अिन्द्रलोक, सुरेन्द्रलोक मर्त्यलोक चन्द्रलोक पितृलोक गोलोक पाताल लोक, रसातल लोक नरकलोक अिहलोक परलोक अित्यादि अनेक लोक हैं ही। लोक यानी दुनिया। लोक क्या कहेंगे अिस वाक्यमें लोकका अर्थ होता है जनता। 'गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिक' अिस वचनमें लोकका अर्थ है सामान्य प्राकृत जन। लोकका अर्थ प्रजा भी होता है। 'लोके वेदे च' (१५–१८) अिस वचनमें धर्मग्रन्थ और लोक-वचनका क्षेत्र भेद दिखाया है।

लोक-महेश्वरका अर्थ होता है त्रिलोकी अथवा चतुर्दश भुवनोंका स्वामी। जो मनुष्य अखण्ड जानता है कि अज अनादि परमात्मा अिस त्रिलोकी पर जाग्रत भावसे राज्य करता है वह आदमी कभी गफलतमें नहीं आता। फलतः वह सब पापोंके आकर्षणसे पापी प्रवृत्तिसे मुक्त रह सकता है।

शास्त्रधर्म, लोकधर्म, शिष्ट-साहित्य, लोक-साहित्य शास्त्रीय संगीत, लोक-संगीत, अित्यादि विभागोंमें लोकका अर्थ सामान्य जनता (masses) किया जाता है। अिस लोगोंका जो स्वामी (God of the masses) है वह भी लोक-महेश्वर है।

नारायण शब्दके समान संस्कृतमें लोकायन शब्द भी पाया जाता है। लोक यानी जनता, है अयन रहनेका स्थान जिनका वह है लोकायन। नारायण शब्दका अर्थ होता है God of humanity चार्वाकोंका दर्शन भी लोकायतिक कहलाता है।

लोकसंग्रह [३–२०, २५]

श्री शंकराचार्यने लोक-संग्रहका अर्थ दिया है — लोकस्य अुन्मार्ग प्रवृत्ति निवारणम्, अर्थात् लोगोंकी खराब प्रवृत्ति रोकनेके लिअे जो जो करना अुचित है वह सब लोक-संग्रह है। समाजकी धारणा और अुन्नतिके लिअे ज्ञानी पुरुषको लोक-संग्रह करना पड़ता है। असा नहीं करनेसे लोग बिगड़ जाते हैं।

आजकल लोक-संग्रहका भ्रामक अर्थ किया जाता है। लोगोंको राजी रखनेके लिअे अनुकूल बनानेके लिअे अुनकी खुशामद करना अुनके अज्ञान, भ्रम और दोषको बनाये रखना ही माना लोक-संग्रह है असा माना और बताया जाता है। जो बात हम नहीं मानते अुसीको पोषण देना भी लोक-संग्रहके लिअे आवश्यक माना जाता है लोग नहीं सोचते कि अज्ञान असत्य और दम्भका गीता पुरस्कार नहीं कर सकती। कोअी भी मनुष्य समाजके लिअे धर्मके लिअे या भगवानके लिअे भी असत्याचरण या दम्भाचरण करनेको बाध्य नहीं है। लोगोंकी प्रगति क्रमशः होती है यह समझकर लोगोंके अूपर सुधारका बोझ क्रमशः डालना चाहिये और भिन्न भिन्न वृत्ति और योग्यताके लोगोंको सत्यकी ओर अेक साथ ले चलनेमें जो वृत्तिकी अुदारता चाहिये भिन्न भिन्न पहलू समझनेकी व्यापक दृष्टि चाहिये वही लोक-संग्रहमें आवश्यक है।

लोक [३–९, २१ २२, ४–३१, ४०, ५–१४, ७–२५ ९–३३ ११–४३, १२–५ १५, १३–३३ अि०]

√लोक (दर्शने भाषायाम् दीप्तौ च) दिखना देखना ढूंढना प्रकाशना जानना।

लोकके मुख्य दो अर्थ हैं। स्वर्ग पृथ्वी पाताल आदि स्थान या भुवन (११–२० ४३ १५–१७)। दूसरा अर्थ है असे भुवनोंमें रहनेवाले व्यक्ति। लोकोक्ति = कहावत — अिस शब्दमें यह दूसरा अर्थ है। गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिकः — अिस वचनमें भी लोक शब्दका वही अर्थ है।

गीतामें ये दोनों अर्थ आते हैं। भगवानको दोनों अर्थमें लोक महेश्वर (१०–३) और लोकक्षयकृत् (११–३२) कहा है।

लोभ [१–३८, ४५, १४–१२, १७, १६–२१], **लुब्ध** [१८–२७]

√लुभ् (गार्ध्ये) लोभ करना।

नरकके तीन द्वारोंमें काम क्रोधके साथ लोभ भी है। लोभ निलज्ज होता है और अन्धा भी होता है। जो चीज अपनी नहीं है अुसे तो वह चाहता ही है किन्तु जो चीज अपने कामकी नहीं है अुसे भी वह चाहता है। लोभीका मन (चेतस) मारा गया रहता है। लोभा पहतचेता मनुष्य पाप-पुण्य नहीं देखता। भूखसे अधिक खानेवाला जिस तरह बीमार पड़ता है, अथवा तरनेवाला गलेमें पत्थर बाधनेसे जिस तरह डूब जाता है अुसी तरह लोभी मनुष्य सग्रह बढाकर जीवन-यात्रामें डूब जाता है। कमसे कम चीजोका ध्यान करके हीन तो बन ही जाता है। लोभ रजोगुणका लक्षण है।

[वायव्य सरहद पर अंग्रेजी फौजके साथ सर्जन कीर्तिकर थे। पठानोंने फौज पर आक्रमण किया। लडाअीमें अंग्रेज अफसर मारा गया। घबराये हुअे लोगोंको डॉ॰ कीर्तिकरने अुत्साह दिया और अेक युक्ति रची। वे शायद अूट पर सवार थे। अुन्होंने अूट दौडाया और अपने पासकी थलियोंमें से मुट्ठी मुट्ठी रुपये अिधर अुधर फेंकना शुरू किया। लोभके अन्धे पठान लडना भूलकर रुपये बीनने लगे। अितनेमें हिन्दी फौजने गोली चला कर अुन्हें साफ कर दिया। अगर पठान लडते तो सब हिन्दी हार जाते और पठानोंको अुनका सारा माल-असबाब भी मिलता। लेकिन वे लोभसे अन्धे हो गये थे।]

काल गतिसे काम और क्रोधके क्षीण होनेकी सभावना है परन्तु लोभ कभी क्षीण होता ही नहीं।

वर्णसंकर [१–४१, ४३], **चातुर्वर्ण्यम्** [४–१३]

'चातुर्वर्ण्य'के नीचे वर्णके स्वरूपका विवेचन किया ही है। स्मृतियोंमें चार वर्णोंके साथ अनुलोम प्रतिलोम विवाहके अनेक प्रकार बताये हैं।

वे भी वर्ण-व्यवस्थाके अन्तर्गत ही हैं। लेकिन जहां वर्णका विचार ही छोड़ दिया जाता है अथवा विवाह-बाह्य सम्बन्ध शुरू होता है तब वर्णसंकर आ जाता है। गीताकालमें वर्णसंकर अत्यन्त अनिष्ट माना जाता था। भिन्न वर्णके विवाह (जिन्हें वर्णान्तर विवाह कहते हैं) तो होते ही थे वे समाजमान्य थे।

अर्जुनने जिस वर्णसंकरके दोष बताये हैं वे व्यभिचारमूलक हैं। वर्णोंका खयाल ही टूट जानेसे कौनसा पेशा कौन करे इसकी व्यवस्था टूट जाती है। अमर्याद प्रतियोगिता (competition) शुरू होता है कलह बढ़ता है जीवन-सहयोगका स्थान जीवन-संघर्ष लेता है और सामाजिकताका नाश होता है। वही नरक है। जहां वर्णसंकर आया वहां पति पत्नीकी अनन्य निष्ठा टूट जाती है कुलधर्मका नाश होता है और क्रमश सामाजिक जीवन भी नष्ट होता है।

वाद [१०–३२]

आजकल अध्यात्मवाद जड़वाद पूंजीवाद साम्यवाद आदि शब्दोंमें विशेष दृष्टिके अर्थमें वाद शब्द आता है। वादी प्रतिवादी शब्दमें वाद है ही। लेकिन गीतामें जहां — वादः प्रवदतामहम् कहा है वह तो तर्कशास्त्रमें वाद जल्प वितण्डा आदि शब्द आते हैं वहांका ही वाद शब्द लिया है। वितण्डा जल्प ये दोनों चर्चा-संवादके बुरे प्रकार हैं। केवल तत्त्वप्राप्तिके लिअे जिज्ञासु वृत्तिसे या सत्य स्थापनाके लिअे जो संवाद चलाया जाता है चर्चा की जाती है वह है वाद। लड़ाओ करके अपनी बातकी स्थापना करना जंगली प्रकार है। प्रतिपक्षीमें न्याय बुद्धि धर्मबुद्धि और कल्याण-वृत्ति जाग्रत करके न्यायको स्थापित करनेका प्रकार अिष्ट है। अिसलिअे सब राष्ट्रोंको भी चाहिये कि वे भगवानकी वादरूपी विभूतिकी आराधना करें। यही युगधर्म है।

गीतामें वेदवाद प्रज्ञावाद ब्रह्मवाद और अवाच्यवाद असे शब्द भी आये हैं।

विकर्म [४–१७]

'वि' का अर्थ होना है विरुद्ध अथवा विशेष।

सामान्य तौर पर मनुष्य हितकर या लाभदायी कर्म ही करता है। मनुष्यमें अगर दीर्घदृष्टि रही तो वह असे कर्म छोड देगा जो तुरन्त लाभ देते हैं किन्तु परिणाममें नुकसान करते हैं। और अगर मनुष्य अंधा रहा, विवेकशून्य रहा अथवा अधर्मनिष्ठ रहा तो अपने हितके विरोधी समाजविरोधी शास्त्रविरोधी कर्म यानी विकर्म कर बैठेगा।

कर्म जरूरी होते हुअे भी आलस्य प्रमाद, अनुत्साह आदि दोषोंके कारण जब मनुष्य अमे कर्म नहीं करता तब वह अकर्म है।

कभी कभी मनुष्य असी खूबीसे कर्म करता है कि अहंकार और फलाशा अुसमें नहीं आती। जिसका परिणाम यह होता है कि कर्म अुसे बंधनकारक नहीं होता। असे कर्म भी अकर्म कहे जाते हैं। जिस तरह कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म देखना ही पडता है।

कर्म अकर्म और विकर्मकी यह हो गअी सामान्य मीमांसा। श्री विनोबाने विकर्म शब्दके 'वि' अुपसर्गका अर्थ किया है विशेष। अहंकार त्याग और फलासक्ति-त्याग सिद्ध हो अिसलिअे जो विशेष भावनासे और विशेष प्रकारके कर्म किये जाते हैं असे कर्मोंको ही श्री विनोबाने विकर्म यानी विशेष कर्म कहा है। अुनका कहना है कि ४–१७ श्लोकके बाद जो अनेक यज्ञके प्रकार आये हैं वे सब विकर्म ही हैं (श्लोक २२ से ३२)। (जिसके साथ 'कर्म' और 'अकर्म' शब्द भी देख लीजिये।)

विगतकल्मष [६–२८]

'धूतपापा' और 'विगतकल्मष' का अर्थ अेक ही है। जिसका कल्मष यानी पाप और मल निकल गया है वह विगतकल्मष है।

'धूतपापा' शब्द देखिये।

विगतज्वर [३–३०]

विगत ज्वर यस्मात् स विगतज्वर विगतसंताप विगत शोक। ज्वरका असली अर्थ है बुखार। जिस परसे क्रोध संताप, चिन्ता आदि सब विकार भी अुसीमें आ जाते हैं। दर्पज्वर, मन्मथज्वर,

मदज्वर आदि शब्द प्रचलित ह ही। भगवान कहत ह कि विगतज्वर होकर अध्यात्म वृत्तिसे लडो।

जिस परसे अहिंसावादी कहते ह कि स्थूल युद्धमें कोभी भी मनुष्य बिना अुत्तजनाके लड नही सकता। अिसलिअे यहा स्थूल युद्ध करनका विधान नही है। गीतामें अपन विकाराके साथ निरतर लडते रहनका ही अुपदेश है।

विगतभी [६–१४]

विगता भी यस्मात् स। बचपनसे ही निभय आदमी मिलना मुश्किल है। आहार निद्रा भय आदि बातें सब प्राणियामें स्वाभाविक ह। मनुष्यमें भी स्वाभाविक ह। परन्तु मनुष्य प्रयत्नपूवक साधना द्वारा भीतिको दूर कर सकता है। दवी सम्पत्ति सत्वगुण योगसिद्धि आदिमें अभय अथवा निभयताका महत्त्व विशष बताया है। जो मनुष्य अपरिग्रही है अपने देहके प्रति भी अुदासीन है और जो ब्रह्मचयका पालन करता है अुसके लिअे निभयताका अनुशीलन सुसाध्य होता है।

विगुण [३–३५, १८–४७]

विगत गुण (अपि)—गुणरहित अथवा दोषयुक्त होते हुअे भी। जिसमें अक भी गुण नही है अथवा गुणकी कमी है अुसे भी विगुण कहत ह। जिसमें कुछ दोष अर्थात् वगुण्य है अुसे भी विगुण कहते ह। अिसलिअे विगुणके अथ होने ह गुणरहित अथवा अल्पगुण अपर्याप्तगुण अथवा सदोष।

विचेता [९–१२]

विगत विवेक यस्य स। चेतस्का अथ है मन। जिसका मन चला गया है यानी जिसका विवेक चला गया है अुसे विचेता कहते ह। विचेताके अथ होते ह बुद्धिशून्य मूख दुखी असमजसमें पडा हुआ और विवेकशून्य। आसुरी सम्पत्तिके लोग कम सोचते ह। राक्षसी प्रकृतिके लोग बिल्कुल ही नही सोचते। य दोनो विचेता होते ह। विचना का विरुद्ध शब्द है सचेता (११–५१)।

विजितेन्द्रिय [६–८], विजितात्मा [५–७]

जितात्मा और जितेन्द्रिय शब्द देखिये।

आत्माको जिष्णु कहा है। यह सारा विश्व (जिम्=जिदम्) जो देखता है, अनुभव करता है वह जिष्णु है। यह जिष्णु अथवा आत्मा जिन साधनोंकी मददसे विषयोंका अनुभव करता है ज्ञान पाता है वे अिन्द्रिया हैं।

अिन्द्रियोंमें कुछ अिन्द्रिया बहुत ही वेगवान होती हैं जोरोंसे अपने विषयोंकी ओर दौड़ती हैं। कुछ अिन्द्रिया मन्द होती हैं। दुर्दान्त वेगवान अिन्द्रियोंका दमन करनेसे, अुन पर विजय पानेसे वे आत्माके वश रहकर अुत्तम सेवा देती हैं और जो अिन्द्रिया अविकसित होती हैं अुन्हें प्रोत्साहन देकर अुनकी शक्ति बढ़ानेसे वे अपना काम पूर्ण रूपसे करनेमें समर्थ होती हैं। अुनके द्वारा आत्मा विजयी होता है।

विज्ञानम् [९–१, १८–४२]

विशेष ज्ञानको विज्ञान कहते हैं। ज्ञा (अवबोधने)। गीतामें विज्ञान शब्दका अर्थ है आत्माका अनुभवयुक्त ज्ञान आत्म-साक्षात्कार। आजकल विज्ञान शब्दका प्रयोग भौतिक विद्या, Science, के अर्थमें किया जाता है।

> चतुर्दशानाम् विद्यानाम् धारणम् हि यथार्थत।
> विज्ञानम् अितरत् विद्यात् येन धर्मो विवर्धते॥
>
> (कूर्मपुराण अ० १४)

शिल्पी आदिके ज्ञानको भी विज्ञान कहते हैं।

बौद्धोंके चार पर्यायोंमें से अेक पर्यायको विज्ञानवादी कहते हैं। जब मैं किसी घटको देखता हूं तब यह घट है करके जानना यह अुनके कहनेके अनुसार प्रवृत्ति विज्ञान है। घटको जाननेवाला मैं हूं अैसा जो आत्मज्ञान होता है वह है आलय विज्ञान। जिसे हम आत्मा कहते हैं अुसीको बौद्ध परिभाषामें विज्ञान कहा जाता है।

विदितात्मा [५–२६]

विदित (=ज्ञात) आत्मा यपाम् त=सम्यगुप्ताना। जिन्होंने आत्माको जान लिया है आत्माका साक्षात्कार किया है अुन्हें विदितात्मा कहते हैं।

अपनेको पहचानना यह सबसे कठिन और सबसे महत्त्वका काम है।

विद्याविनयसम्पन्ने [५–१८]

√विद् (ज्ञाने) जानना। जिससे विद्या शब्द आया है। बुद्ध शब्द भी जिसी धातु परसे आया है।

√नी (प्रापण) ले जाना। जिस परसे विनय शब्द आया है। विनयका सामान्य अर्थ होता है नम्रता शालीनता औचित्यका पालन। विनयका दूसरा अर्थ है संयम संस्कारिता अिन्द्रिय-जय। विनय अथवा विनयनका अर्थ शिक्षण शिक्षा भी होता है।

वर्णाश्रम व्यवस्थाकी अपेक्षा थी कि ब्राह्मण विद्या और विनयसे सम्पन्न हो ज्ञान और संस्कारिता विद्या और चारित्र्य दानोंमें समृद्ध हो।

जिस तरह ब्रह्म निर्दोष और सम है अुसी तरह गीताका आत्मज्ञ पुरुष भी निर्दोष और सम होता है। अुसका साम्ययोग अुसे सबके प्रति समान वृत्ति रखना सिखाता है। विद्या विनय सम्पन्न ब्राह्मण हो गायके समान समाजोपयोगी और संस्कृतिका आधार रूप पवित्र जानवर हो युद्धमें अुपयोगी और राजाके वैभवका द्योतक असा हाथी हो समाजमें जिसे अशुचि समझते हैं असा कुत्ता हो अथवा असे कुत्तोंका मांस पकाकर खानेवाला चाण्डाल हो जिसे सत्य ज्ञान हुआ है असे पण्डितकी सबके प्रति अेकसी दृष्टि रहती है।

विधि, विधान [१७–११, १३ २४]

वि+√धा (धारणपोषणयो दान च) √धि (धारण)।

विधि और निषेध दोनों शब्द प्राय साथ आते हैं। जहां करनेकी आज्ञा या सिफारिश है अुसे कहते हैं विधि और जहां न करनेकी आज्ञा

है अुसे निषेध कहते हैं। धर्ममें दोनों आ जाते हैं। कानूनमें भी दोनों होते हैं। शास्त्रोंको भी विधान कहते हैं क्योंकि शास्त्र विधि निषेध द्वारा शासन करता है। विधानोक्त और विधिदृष्ट का अर्थ है शास्त्रोक्त। जिसमें विधिका पालन नहीं है अुसे विधिहीन कहते हैं।

विधिदृष्ट [१७–११], विधिहीनम [१७–१३], विधानोक्त [१७–२४]

विधिदृष्ट = विधिविहित = शास्त्रमें कहा हुआ। विधिका अर्थ है शास्त्र। करनेकी आज्ञाको विधि कहते हैं (न करनेकी आज्ञाको निषेध कहते हैं)। विधि निषेध मिलकरके जो शासन बनता है अुसे शास्त्र कहते हैं।

विधिको ही विधान कहते हैं। विधानोक्तका अर्थ है शास्त्रमें कहा हुआ।

शास्त्र विधिके कहनेके विपरीत जो हो अुसे विधि-हीन कहते हैं। ये सब विशेषण यज्ञ यागादि क्रियाकाण्डके सम्बन्धमें आते हैं।

विधेयात्मा [२–६४]

विधेय = संयत। आत्मा = अन्तःकरण। जिस मनुष्यने अपनी वासनाओंको काबूमें रखा है अन्तःकरणको स्वाधीन रखा है असा संस्कारी पुरुष विधेयात्मा है। शिष्य और सेवकको भी विधेय कहते हैं क्योंकि वे आज्ञाकारी होते हैं। जब हमारा अन्तःकरण हमारी धर्म-बुद्धिकी आज्ञामें रहता है तब हम विधेयात्मा बनते हैं। असा अन्तःकरण या तो निष्काम होता है या केवल धर्माविरुद्ध कामका ही सेवन करता है।

विभक्तम [१३–१६, १८–२०], प्रविभक्तम [११–१३, १८–४१], अविभक्तम [१३–१६, १८–२०]

√भज् (सेवायाम्)।

√भज् (आमर्दने) तोड़ना चीरना विभाग करना, अलग करना।

विश्वमें जो परम तत्त्व है वह अेक अखण्ड होते हुअे भी विभिन्न-सा दीख पड़ता है। जो मनुष्य अभेदमें भेदको देख सकता है

वही सच्चा ज्ञानी है। अर्जुनको जब विश्वरूप-दर्शन हुआ तब अुसने यह अखिल विश्व जो सामान्य दृष्टिको प्रविभक्त यानी भिन्न भिन्न टुकड़ोंमें रूपोंमें बटा हुआ दीख पड़ता है अुसे विराट्-स्वरूपमें अेकत्र हुआ देखा (११–१३)।

विभक्त भूतमात्रोंमें जो अविभक्त आत्म-तत्त्वको देखता है अुसका ज्ञान सात्त्विक है क्योंकि अुसमें सच्चा अध्यात्मज्ञान है। (भगवान कहते हैं कि स्वयं अुन्होंने प्रजाके स्वभाव-गुणके अनुसार अुनके कर्म बांट दिये हैं। प्रविभक्तानि (१८–४१)।)

तत्त्वदर्शन यह ज्ञान देता है कि भेदके तत्त्व क्षणजीवी छिछले और कम महत्त्वके अल्पसत्त्व होते हैं और अभेदके तत्त्व स्थायी गहरे और अधिक महत्त्वके सारपूर्ण होते हैं। अिसलिअे जीवनमें अभेदको ही महत्त्व है। भेदकी ओर ध्यान देनेसे झगड़ा और संघर्ष बढ़ता है प्रेम और संगठन टूट जाता है आत्मशक्ति क्षीण होती है और जीवन तुच्छ बनता है। समानता और अभेदके तत्त्वों पर दृष्टि रखनेसे प्रेम बढ़ता है अुदारता बढ़ती है सहनशीलता आती है और जीवन कृतार्थ होता है। अिसीलिअे यह सात्त्विक और सच्ची दृष्टि है।

विभूति [१०–७, १६, १८, १९ ४० ४१]

आत्मविभूतय [१०–१६, १९]

वि + √भू (सत्तायाम् प्राप्तौ अवकल्कने च) होना जीना पाना शुद्ध बनना सोचना।

विभूतिका अर्थ है सम्पत्ति समृद्धि कल्याण माहात्म्य तेज प्रभाव शक्ति विस्तार अैश्वर्य सिद्धि। जिन जिन चीजोंमें कुछ न कुछ श्रेष्ठता या शक्ति या अुत्कृष्टता दीख पड़ती है वे भगवानकी विभूति हैं।

विभूति आवेश और अवतार भगवानके प्रकट होनेके भिन्न भिन्न प्रकार हैं। किसी व्यक्तिका सारा जीवन अीश्वरी शक्तिसे अनुप्राणित हुआ जब हम देखते हैं तब हम अुसे अवतार कहते हैं। जब किसी समयके खास और विशिष्ट कार्यके लिअे ही अीश्वरी शक्तिका प्राकट्य पाया जाता है तब वह आवेश कहा जाता है। और

जब ओीश्वरी शक्तिका कोओी अेक अंश पाया जाता है तब सामान्य विभूति कहते ह (१०–४१)।

विमुक्त [९–२८, १४–२०, १५–५, १६–२२], **विनिर्मुक्त**

वि + √मुच (मोक्षणे)। मुक्तको ही विमुक्त कहते ह। विशेष रूपेण पूर्णतया मुक्त। जो मनुष्य वासनाओंके बन्धनसे पूर्णतया मुक्त हुआ अुमीको मोक्ष मिलता है। विमुक्तश्च विमुच्यते। मनुष्य वासनारूपी शरीरको जब छोड देता है तभी पूर्णतया मुक्त होता है (कठ० ५–१)।

विमूढात्मा [३–६, ६–३८, ११–४९, १५–१०], **विमूढभाव** [११–४९]

वि + √मुह (वचित्ये) बेभान होना भूल करना माहमें फंस जाना। अिन्द्रियाके विषय-अुपभोगसे जिसका अन्त करण विमूढ हो गया है और अिसलिअे जिसका सदाचार भी व्यर्थ हो गया है वह विमूढात्मा है।

विविक्तदेशसेवित्वम् [१३–१०]

अेकान्तमें रहनेकी रुचि ज्ञानियाका लक्षण है। नीचे विविक्तसेवी शब्द देखिये।

विविक्तसेवी [१८–५२]

√विच (पृथक् भावे) अलग करना अथवा अलग रहना जुदा करना। अिस परसे विविक्तम का अर्थ है अेकान्तका स्थान, जैसे नदी पुलिन गिरि, गुहा।

गुहादीन् विविक्तान देशान् सेवितुम् शीलम् अस्य अिति विविक्त सेवी। मनको शान्त, निर्विकार और योगके योग्य बनाना हो तो कुछ समयके लिअे अेकान्त-सेवन आवश्यक है। (अिसीके साथ 'अरतिर्-जनसंसदि' भी देखिये।)

विशुद्धात्मा [५–७], आत्मविशुद्धये [६–१२], विशुद्धया बुद्धया [१८–५१]

जिसने अपने हृदयको और बुद्धिको दोषरहित और सस्कारी बनाया है।

विषय [२–५९, ६२, ६४, ४–२६, १५–२, ९, १८–५१]

√विष (सेचन व्याप्तौ विप्रयोग) सिचन करना फैलना फैलना जुदा करना।

हमारी अिद्रिया जिनके प्रति दौडती ह जिनका अुपभोग करती ह और जिनमें बद्ध होकर पडती ह वे सब विषय ह। अिद्रियाके अुपभोगके साधन विषय होते ह। रूप रस गध स्पश और शब्द ये ज्ञानेद्रियाके विषय ह। साहित्यमें ग्राम जनपद आदि प्रदेशको भी विषय कहते ह। सन्त कहते ह कि विष और विषयमें कोअी भद ही नही है। अगर है तो अितना ही है कि विष पीकर हम अेकबारगी छूट जाते ह विषयके सेवनसे मरते ही रहना पडता है।

विषयेंद्रियसयोग [१८–३८]

जीव सुखको ढूढता रहता है। वह मानता है कि अिद्रियाके द्वारा रस गध रूप शब्द और स्पशका आस्वाद लेनेसे सुख मिलेगा। अुसे कुछ सुख तो मिलता ही है। किन्तु वह सुख क्षणिक होता है और बादमे अुसी सयोगमें से दुःख और बुराअिया पदा होती ह। असा कटु अनुभव होते हुअ भी जीव अपनेको सुधारता नही। प्रत्युत अनेक जन्म वही विषय और अिद्रियाके सयोग द्वारा मिलनेवाली अुत्तेजना अथवा समाधानका अनुभव लेते रहता है। यह जो दुःखपरिणामी सुख अुसे मिलता है वह रजोगुणी है।

आत्माके चिन्तनसे जब बुद्धि निमल होती है तब अुस स्वच्छताका आरोग्यपूर्ण सुख सात्त्विक सुख है। अुसमे विषयेंद्रिय-सयोग नही होता है।

विषयध्यानम् [२–६२, ६३, १५–९]

जिन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका सेवन करनेसे बंधन पदा होता ही है किन्तु मनुष्यको जिसके अलावा मनके द्वारा विषयोंका चिन्तन अथवा ध्यान करनेकी जिच्छा और आदत होती है। जिसमें जिन्द्रियोंका प्रत्यक्ष संयोग न होते हुअे भी पतन तो होता ही है। जब जिन्द्रियोंका संयम करके केवल मनमें विषयोंका सेवन किया जाता है तब अुस संयमका फल तो मिलता नहीं है किन्तु नुकसान होता रहता है। अैसे संयमको मिथ्याचार कहा है (३–६)। [मिथ्याचारका विवेचन देखिये।]

विषयोंके ध्यानसे पतन किस तरह होता है जिसका क्रम स्थितप्रज्ञके वर्णनके साथ आया है। (२–६२ ६३)।

विषाद [१८–३५], **विषादी** [१८–२८], **विषीदन** [१–२७], **विषीदन्तम्** [२–१, १०]

वि+ √सद (विशरण-गति-अवसादनेषु) टूटना जाना डूबना सड़ना थकना।

विषादके विरुद्ध है हर्ष और अुत्साह। विषादके अर्थ होते हैं दुःख निरुत्साह निराशा (विषादः चेतसो भङ्ग अुपायाभावनाशयोः) (मोह निमित्तात् शोकात यत मनो-दौर्बल्य यस्मिन् सति सर्व-व्यापार अुपरमो भवति स विषादः)

तमोगुणी लोग पुरुषार्थ-नाशक विषादको भी झटसे नहीं छोड़ते। मिट्टीका ढेला जब गिरता है तब वह टूट जाता है अथवा कमसे कम पड़ा रहता है। जब रबरका गेंद नीचे गिरता है तब जोरोंसे अुछलता है। अेक विषादका प्रतिनिधि है दूसरा अुत्साहका।

तामस कर्ताको गीताने विषादी कहा है क्योंकि अुसके स्वभावमें हमेशा निरुत्साह रहता है।

अर्जुनके अनुत्साहको गीताने विषादयोग कहा है। समस्त गीता सुननेके बाद जिस विषादका नाश हुआ और अर्जुनने प्रसाद पाया (१८–७३), जिसलिअे विषादका विरोधी शब्द है प्रसाद। जिसने प्रसाद

पाया असे प्रसन्नात्मा कहते हैं। प्रसादस्तु प्रसन्नता।' असी प्रसन्नता भगवानकी कृपासे प्रसादसे ही प्राप्त होती है।

गीताकी गति विषादसे प्रसादकी ओर है।

विसर्ग [८–३]

वि+ √सृज (विसर्ग) छोडना बाहर फेंकना पैदा करना गिराना।

विसर्गका अर्थ है त्याग, विशेष सृष्टि सृष्टिकी अुत्पत्तिका व्यापार दान पानीका बरसना। विसर्गके अर्थके लिअे भूतभावोद्भवकर शब्द देखिये।

वीतरागा [८–११], –भयक्रोधा [२–५६, ४–१०]

विगत राग यस्य त वीतरागा। जिनमें से राग यानी आसक्ति दूर हुअी है असे लोग वीतराग हैं। यतियाका यह विशेषण है। राग और द्वेषकी जोडी होनके कारण राग (अनुराग)के दूर होते ही द्वेष भी दूर होता है। फिर क्रोधके लिअे कोअी स्थान भी नहीं रहता। राग द्वेष क्रोध ये सब अनात्मवादियाके लक्षण हैं। आत्मवादी होने पर ये तीनो चले जाते हैं और जो आत्मवादी हैं वे हर हालतमें सदैव निर्भय रहते हैं। अिसलिअे स्थितप्रज्ञका वर्णन करते समय भगवानने अुन्हें वीतराग भयक्रोध कहा है। मोक्ष-मार्गी ज्ञानी, तपस्वी भक्तोंका भी यही लक्षण है।

वेगम [५–२३], अम्बुवेग [११–२८]

वेगका अर्थ है त्वरा गति क्षोभ हाजत निश्चय अुत्कटता (रक्त अथवा विषका) अभिसरण अुतावली विकाराका जोर।

नदीके पानीकी त्वराका अम्बुवेग कहा है। (नदियाँ जहाँ युवान होती हैं वहाँ अुनका अम्बुवेग तीव्र होता है जहाँ वे बूढी होती हैं वहाँ वही वेग मन्द होता है।)

काम क्रोधादि विकार जब मनमें पैदा होते हैं तब अुनका वेग प्रथम मन्द होता है। जब अुसे पोषण मिलता है तब वह दुर्धर्ष बनता है समुद्रवेग कहा जाता है। वैद्यशास्त्रमें कहा है कि पेशाब या शौच जानेकी आवश्यकता अुत्पन्न होने पर अुसे रोकना नहीं चाहिये।

'वेगान् न धारयेत'। रोकनेसे अनेक रोग होन ह। क्षयराग तक हानेका डर रहता है।

जो लोग मनमें काम और क्रोध आदिका सेवन करते ह और वाह्य कमको ही रोक्त ह, अुनके शरारमें और मनमें अनेक प्रकारकी विकृतिया पन्न होनी ह जा सकमक भो हो सकती ह। अिसलिअे केवल वाह्य सयम पर्याप्त नही है। मनमें ही अुनके वगको स्थान नहा दना चाहिये अयथा मिथ्याचारके सब दोप आ जाने ह (३–६)। Desires suppressed breed pestilence

वेदवादरता [२–४२]

यहा वदका अथ वदके कमकाण्डस है। कमकाण्डी लाग यज्ञ यागादि क्रिया-कलापमें फस हुअे रहत ह और बधमुक्त नहा हान। वे कहते है कि वदमें बताये हुअे कम करनस स्वर्गादि फल मिलता है और न वेदाका अिससे कोअी भिन्न प्रयाजन है न जीवनका। असाको 'वदवादरता' कहकर गीताने अुनकी निन्दा की है।

वेदान्तकृत् [१५–१५]

भगवान कहते ह कि सब वेदोंमें मेरी ही बातें भरी ह। वदाके द्वारा मेरा ही ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। समस्त वेदाका म जानना हू और वेदान्त तो मेरे ही बनाये हुअे ह।

वेदके मूल-मन्त्रोको सहिता कहते ह। अुनके बाद शतपथ गोपथ आदि ब्राह्मण ग्रथ आते ह। अुनके अतमें ज्ञान चर्चा करनेवाली अुपनिषदें आती हैं। अिन तीनाको वेद कहते ह। यह ज्ञान चर्चा वदिक साहित्यके अन्तमें आती है, अिसलिअे अुसे वेदान्त कहते ह। वदिक साहित्य और वदिक अुपदेशाका निचोड होनेसे भी अुसे वदान्त कहत ह।

भगवान कहते ह कि वदान्तोका बनानेवाला म ही हू। वदके ऋषियोको मत्र द्रष्टा कहते ह क्योकि ध्यानमें अिन मत्राका अुन्हें दशन हुआ। अुन्होने ये मत्र बनाये नही। वदज्ञान ता सनातन स्वयभू ह। निमल हृदयके ऋषियोंके मनमें अुनका प्रतिबिम्ब-मात्र पडा अिसलिअे वे कवल मत्र द्रष्टा ह।

किन्तु वेदमें ऋषियोंको मन्त्रकृत भी कहा है। वहां असका अितना ही अर्थ है कि मन्त्रोंकी शब्द रचना अनकी है। अिसी अर्थमें भगवान अपनेको वेदान्तकृत कहते होंगे अथवा सब ज्ञान भगवानकी ओरसे ही प्रगट होता है अिसलिअे भी व अपनेको वेदान्तकृत् कहते होंगे।

वैराग्यम् [६–३५, १३–८ १८–५२]

वि + √रज (राग) रंजित होना प्रेममें फंसना रमना अनुरक्त होना। रज धातु परसे ही रजोगुण शब्द आया है। अिस आसक्तिका रंग जब दूर किया जाता है तब अुस वृत्तिको वैराग्य कहते हैं।

विषयेंद्रिय-संयोगमें जो आसक्ति पैदा होती है वह वैराग्यसे दूर होती है। चंचल मनको काबूमें लानेके लिअे सबसे अच्छा अुपाय वैराग्य है। विषयोपभोगमें जो दोष हैं वे ध्यानमें आनेसे वैराग्य पैदा होता है। अिंद्रियार्थोंके प्रति जब वैराग्य पैदा होता है तब ही आत्मज्ञानका अुदय होता है और ज्ञानोदयके बाद ही ब्रह्मकी प्राप्ति होती है। वही जीवन सिद्धि है।

वैश्यकर्म [१८–४४] **वैश्य** [९–३२]

वेदमें विट अथवा विशका अर्थ होता है सामान्य पुरुष। जो लोग ब्राह्मण या क्षत्रिय जैसी विशेष जातिके नहीं हैं वे सब विश कहे जाते हैं। तीसरे वर्णके लोग विश अथवा वैश्य कहे जाते हैं। अुनका मुख्य काम है — खेती करना गायोंका पालन करना माल अेक जगहसे खरीदकर बेचनेके लिअे दूसरी जगह ले जाना और व्यापार करना। अिसलिअे आज जो लोग खेतीका काम करते हैं वे सचमुच तो वैश्य हैं। क्षत्रिय भी खेतीका काम तब तक करते रहते हैं जब तक अुनको युद्धका आमंत्रण नहीं है। जमीनका मालिक ही जमीनकी रक्षाके लिअे लड़ेगा और जमीन बहुत बड़ा न हो तो मालिक ही अपनी जमीन जोतेगा।

खेतीके लिअे गाय-बैल आवश्यक हैं। अिसलिअे जो खेती करेगा वह गाय-बैल रखेगा ही क्योंकि गाय-बैल दूध परिश्रम और खाद देकर मनुष्यकी असाधारण सेवा करते हैं और मजदूरी भी खेतीकी और बजारकी। अिस तरह गाय-बैल मनुष्यके कुटुम्बी बने हैं अुन्हें

हत्यासे बचाना, अुन्हें नहीं मारना, यह है मनुष्यका धर्म। मनुस्मृतिमें लिखा है कि भगवानने गायकी रक्षाका भार वैश्यों पर रखा है। मनु कहते हैं कि वैश्योंको कभी असी बुद्धि नहीं होनी चाहिये कि गायकी रक्षा मैं न करूँ। गायकी रक्षा वैश्यधर्मसे ही होनी चाहिये याने असे वैज्ञानिक ढंगसे गोपालन हो कि गोपालनका अर्थशास्त्र ही गायका और अुसके वंशका बचाव।

किसी भी समाजमें ब्राह्मण और क्षत्रियोंकी संख्या थोड़ी रहेगी और शूद्र भी थोड़े ही रहने चाहिये। जो लोग संस्कार ग्रहण नहीं कर सकते, जो कोआी कौशल्य हासिल नहीं कर सकते हैं और जिनकी योग्यता केवल परिचर्या (menial service) करने तक ही सीमित है असे लोग ही शूद्र रहेंगे। अुनकी संख्या बढ़नेसे समाज डूब जायगा। अिसलिअे समर्थ और निरोगी समाजमें शूद्रोंकी संख्या नहींके बराबर होगी। बाकी रहा हुआ विराट समाज वैश्य ही होगा। अिसीलिअे वेदोंमें सामान्य जन-समुदायको ही विश् अथवा वैश्य कहा है।

जो सम्पत्ति समाजमें होती है अुसके पीछे कुदरतकी देन, पशुओंका स्वार्थ-त्याग और मनुष्यका पुरुषार्थ होता है। धनकी अुत्पत्तिमें सारे समाजका सहयोग होता है। अिसलिअे सम्पत्तिके अूपर असली अधिकार समस्त समाजका ही है।

सम्पत्ति पैदा होते ही अुसके अुत्पादनमें जिन जिन लोगोंका सहयोग है अुन सबमें न्याय्य प्रमाणमें बटवारा करना शक्य नहीं है और आवश्यक भी नहीं है। अिसलिअे जो भी सम्पत्ति पैदा होती है वह समाज हितके लिअे किसीके सुपुर्द रखनी चाहिये। अगर समाज अेक कुटुम्ब है तो बटवारेकी नौबत भी नहीं आनी चाहिये। अब सबकी सम्पत्ति किसके हाथमें सुपुर्द की जाय? सारे समाजका प्रतिनिधित्व करनेकी योग्यता या तो सत्ताकी है अथवा धर्मकी। जहां सत्ता धर्मके अधीन नहीं रहती वहां सत्ता समाजका प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती। अिसलिअे सम्पत्ति सत्ताके सुपुर्द करनेमें खतरा है। समाजका प्रतिनिधित्व करनेकी योग्यता सेवामें भी होनी है। ब्राह्मण सेवक तो है किन्तु अुसके लिअे विरक्तिका धर्म बनाया

शब्दब्रह्म [६–४४]

शब्दब्रह्म यानी वेद। वेदको ब्रह्म कहते ही हैं। जो शब्दब्रह्म शब्द है वैसा ही शब्दब्रह्म है। केवल ग्रन्थ अध्ययनसे जो शाब्दिक या बौद्धिक ज्ञान होता है वह है शब्दब्रह्म। यह विद्वत्ताका फल है। सिद्धिके लिअे योगीको अिससे आगे जाना जरूरी होता है।

शम [६–३, १०–४, ११–२४, १८–४२]

√शम = (अुपशमे) शान्त होना ठण्डा पडना। शम का अर्थ है सर्वकर्मभ्यो निवृत्ति। दम और शममें भेद है। दम होता है बाह्य अिन्द्रियोंका अुपशम और शम होता है अन्तःकरणका (आन्तरिक) अुपशम। शमके द्वारा मनमें शान्ति और सन्तोष रहते हैं। (६–३ श्लोक देखिये।)

शरीरयात्रा [३–८]

√शॄ (हिंसायाम्) फटना तोडना मारना। √श्रि (सेवायाम्)। जिसमें आत्मा रहती है अुस देहको अथवा शरीर कहते हैं। यात्रा √या (प्रापणे) जाना पहुंचना। चलनेको यात्रा कहते हैं। शरीर यात्राका अर्थ होता है शरीरका चलना जीवित रहना जीवन-यापन करना। अुसे लोक-यात्रा भी कहते हैं।

शरीर शब्द या तो √शॄ से आया है अथवा √श्रि (सेवायाम्) से आया है। शरीर नाशवान है अिस अर्थमें शॄ धातुकी व्युत्पत्ति ठीक लगती है। शरीर आत्माका आश्रय है अिस अर्थमें श्रि धातुकी व्युत्पत्ति अनुकूल है। शरीर नाशवत है और अुसको निभानेमें हिंसा करनी ही पडती है। यह भाव भी शरीर शब्दमें निहित है।

शरीरवाङ्मनोभि [१८–१५]

जब कभी पूरे दिलसे अेकाग्रतापूर्वक कौशल्ययुक्त काम किया जाता है तब कहते हैं कि अिस काममें शरीर वाणी और मन तीनोंका सहयोग था। कर्म करते समय हम अन्यमना नहीं थे चित्त शाठ्य नहीं किया अंगचोरी नहीं की। आरामतलब लोग ही

श्रमशाठ्य करते हैं जैसे कंजूस लोग वित्तशाठ्य करते हैं। [साहित्यिकोंका रिवाज तीन तीन चीजें साथ लेनेका है।] अिसलिअे चंद लोग कहते हैं कि शरीर वाणी और मनसे (शरीर-वाङ-मनोभिः) कोओ कहते हैं, "मनसा वाचा कर्मणा", यहां पर कर्म शरीरके स्थान पर आया है। और लोग तनु मन प्राणसे कहते हैं यहां पर वाणीकी जगह 'प्राण' आया है। व्यावहारिक लोग धनको महत्व देंगे ही। अुनका सहयोग तन, मन, धनसे होता है। अब तीनकी जगह चार शब्द भी लाये जाते हैं "मनोवाक्कायकर्मभिः" — मन वाणी शरीर और अुसकी क्रियायें। सबका भाव अेक ही है। अिसी सिलसिलेमें मन प्राणेंद्रियक्रिया" भी देखिये।

अिसमें वाणीका महत्व सबसे अधिक माना गया है क्योंकि मन मनका संकल्प और शरीरकी क्रिया दोनोंका वाणीमें संयोग होता है। जो मनुष्य वचन तोड़ता है अुसका चारित्र्य भी नष्ट होता है और सामाजिक प्रतिष्ठा भी टूट जाती है। मनुने कहा है कि जो वाणीका शाठ्य करता है वह मानो सब प्रकारकी चोरी करता है (स सर्वस्तेयकृत् नरः)।

शान्ति [२–६६, ७०, ७१, ४–३९, ५–१२, २९, ६–१५, ९–३१, १२–१२, १६–२, १८–५३, ६२]

√शम् (अुपशमे) शान्त होना, ठण्डा पड़ना। भारतीय आर्योंका चरम जीवनोद्देश त्रिविध शान्ति है अिसलिअे हरअेक धर्मकार्यके अन्तमें शान्तिकी तीन बार घोषणा की जाती है। आधिभौतिक आधिदैविक, और आध्यात्मिक शान्तिके लिअे ही सब प्रयत्न होते हैं। स्वार्थ अज्ञान द्वेष, संकुचितता, अभिमान अीर्ष्या अित्यादि दोषोंके कारण मनुष्य-समाजमें अखण्ड वर्धमान कलह चलता है। अिसे दूर करना और शान्ति तथा सामंजस्य स्थापित करना ही अध्यात्म मार्गका अुद्देश है। अूपर बताये हुअे दोष रजोगुणके कारण आते हैं। जब मनुष्य अिन रजोगुणी दोषोंको क्षीण करता है तभी अुसके मोहादि क्लेश नष्ट होते हैं। अैसे जीवन्मुक्त योगीको शान्तरजस् कहते हैं (६–२७)।

शाश्वत [१–४३, २–२०, १०–१२, १४–२७, १८–५६, ६२], शाश्वतधर्मगोप्ता [११–१८]

शाश्वत् = हमेशा सदैव सनातन (शश्वच्छांति ९–३१)। जो चीज त्रिकालमें अेकरूप रहती है अुसे शाश्वत कहते हैं। शाश्वती समा अनन्त वर्षों तक। शाश्वत और सनातन अेक ही हैं। साप और नेवलेमें जो स्वाभाविक झगडा रहता है अुसे शाश्वतिक विरोध कहते हैं।

अध्यात्म-मार्ग अथवा धर्म साधन आत्माके स्वभाव पर निर्भर होनेसे अुसे शाश्वत धर्म कहते हैं। अुसका रक्षण भगवान स्वयं करते हैं अिसलिअे अुन्हें शाश्वतधर्मगोप्ता कहते हैं (११–१८)। सच्चे सनातन धर्मकी रक्षा परमात्मासे ही हो सकती है यही बात १४–२७ में भी कही है। यहां भगवान स्वयं कहते हैं कि मैं ही शाश्वत धर्मकी अेकान्तिक सुखकी और अव्यय ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूं।

प्रकृति धर्म जैसे सनातन होते हैं वैसे कुलधर्म भी शाश्वत होते हैं। ८–२३ से लेकर ८–२७ तक शुक्ल और कृष्ण दो मार्ग बताये हैं और अुन्हें भी शाश्वत यानी नित्य कहा है।

आहार निद्रा भय मैथुनादि जबरदस्त प्रेरणाओंका कभी अुच्छेद होनेका डर नहीं है। क्योंकि ये सब प्रेरणाअें प्रकृतिगुप्त हैं। कुदरतकी जोरसे ही अुनका संगोपन होता है। अुन्हें हम स्वभावरक्षी भी कह सकते हैं।

आत्मौपम्य विश्वात्मैक्य सर्वभूतहितेरतत्व कामराग विजय त्याग बलिदान अनन्य भावोपासना आदि प्रेरणाअें धर्मका विषय हैं। आत्मपरायणतासे अुन्हें पोषण मिलता है। अिनकी रक्षा करनेका भार जड प्रकृति पर नहीं है। आत्मपरायणताके अूपर वह निर्भर है। अिसलिअे अिस शाश्वत धर्मकी रक्षाका भार स्वयं परमात्माने अपने पर रखा है।

प्रकृतिका प्रलय या विलय होने पर भी आत्मतत्त्व अखंड अलिप्त और अपराजित ही रहता है। प्रकृति और परमात्मा दोनोंमें से अधिक शाश्वतता ढूंढनी ही हो तो वह परमात्माकी ही है। अिसलिअे शाश्वत धर्मकी सुरक्षा परमात्मा पर ही निर्भर है। वही शाश्वतधर्मगोप्ता है।

√शास् (अनुशिष्टौ) सिखाना समझाना, नियमन करना सुधारना, सलाह देना, राज्य करना। अिसी परसे शासन, शास्ता, शासक आदि शब्द आये हैं।

शास्त्र शब्दकी व्युत्पत्ति √शस् (स्तुतौ) परसे भी बताअी जाती है, जिसके अनुसार शास्त्र केवल वर्णनपर होता है — शासनात् शंसनात् शास्त्रम् अिति अभिधीयते।

शास्त्रके दोनों प्रयोजन हैं। ज्ञान और अनुभवको तर्कशुद्ध रूपमें व्यवस्थित करके रखना या पेश करना शास्त्रका काम है। अिस अर्थमें अिसका अंग्रेजी पर्याय Science है। शास्त्र का दूसरा प्रयोजन समाजका शासन और नियमन करके समाजको कायम सन्तुष्ट और प्रगति शील बनानेका है। अिसका अंग्रेजी पर्याय होगा Code। Science और Code में जो बातें आती हैं वे ग्रन्थबद्ध करके ग्रंथोंमें सुरक्षित रखी जाती हैं। किन्तु ग्रंथको ही Science या Code नहीं कहते हैं। अनुभव और अधिकारके अनुसार दोनों बदलते रहते हैं। जब मैं कहता हूँ कि मैं अपना आहार स्वाद या रुचिके अनुसार नहीं लूँगा, मैं तो विज्ञानका अनुसरण करूँगा, तब मेरा मतलब यह नहीं कि मैं किसी पुराने ग्रंथका अनुसरण करूँगा। आहारके बारेमें जो अद्यतन (up-to-date) अनुभव और आविष्कार हुअे हों और जो मेरे जीवन सिद्धान्तके अनुकूल हों, अुनका ही मैं अनुसरण करूँगा। जिस तरह खाद्य पदार्थोंके बारेमें अनुभव और आविष्कार बढ़ जाते हैं और आहारका विज्ञान बढ़ता है अुसी तरह मेरे जीवन सिद्धान्त भी अनुभव चिन्तन और आदर्श-शुद्धिसे सुधरते हैं और व्यापक होते हैं। मैं सिद्धान्तोंका अनुसरण अवश्य करूँगा, किन्तु किसी ग्रंथका या किसी व्यक्ति विशेषके वचनोंका सदाके लिअे अनुसरण करनेके लिअे बाध्य नहीं हूँ। जो विज्ञानके या जीवन सिद्धान्तके ग्रंथ पुराने और कालग्रस्त हुअे हैं अुनका भी मैं कुछ हद तक अध्ययन करूँगा अुनकी पुरानी सेवाके लिअे अुनके प्रति कृतज्ञता और आदर भी रखूँगा नये नये आविष्कार करते समय अिन पुराने ग्रंथोंसे लाभ

भी अुठाअूगा, किन्तु वे ग्रंथ मेरे जीवन नियामक नहीं बनेंगे। मैं अुन्हें छोड दूगा।

अिसका अर्थ यह नहीं कि मैं मनमानी करूगा। पुराने विज्ञान और जीवन सिद्धान्तोंका जिन नये सिद्धान्तोंने स्थान लिया होगा अुन्हें समझकर अुनका ही अनुसरण करूगा।

गीताने यही बात कही है। तस्मात् शास्त्रम् प्रमाणम् ते अिस वचनका मतलब किसी ग्रंथसे नहीं है किन्तु आजकी परिस्थितिमें जो सर्वोच्च और कारगर जीवनशास्त्र हो अुसीको प्रमाण समझनेकी यहा नसीहत दी गअी है और कहा है ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तम् (नहीं कि श्रुत्वा ग्रंथगतम् वाक्यम्) कर्म कर्तुम् अिह अर्हसि।

गीतामें शास्त्र शब्दका अर्थ शास् धातु परसे ही किया है। कार्याकार्य-व्यवस्थिति यानी क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये अिसका नियमन करनेका ही शास्त्रका प्रयोजन है। अिसलिअे जो कुछ शास्त्रमें विधि विधान बताया हो अुसीके अनुसार चलना चाहिये। असी शास्त्रविधिको (१६-२३) छोडकर जो मनमाना आचरण करते है अुन्हें न सिद्धि मिलती है न सुख।

असे भी लोग होते हैं जो शास्त्रविधिको नहीं जानते किन्तु श्रद्धासे भगवानकी पूजा करते हैं। अुनके लिअे भगवान कहते हैं कि जो कुछ भी कार्य अविधिपूर्वक किया गया है अुसका सामान्य नुकसान तो होगा ही अगर वह कार्य श्रद्धासे किया गया है तो जैसी श्रद्धा हो वैसा फल मिलेगा क्योंकि श्रद्धा श्रद्धामें भी फर्क होता है। (विशेष विवरणके लिअे अविधिपूर्वकम् शब्द देखिये।)

शुक्लकृष्णे गती

शुक्लगति तथा कृष्णगति आदि दो मार्गोंकी कल्पना हमारी संस्कृतिमें बहुत पुरानी है। गीताने असे अनेक पुराने खयालोंका स्वीकार करके अुनको नया रूप दिया है और जो विचार अनावश्यक हैं अुनको आदरके साथ बाजू पर रख दिया है। कहा यज्ञकी वैदिक कल्पना और कहा गीतामें बताये हुअे तरह तरहके आध्यात्मिक यज्ञ। गीताने श्राद्ध और पिंडका अुल्लेख किया है सही लेकिन अुनकी प्रतिष्ठा

वढाओी नहा। चार वर्णोंका अुत्साहपूर्ण जिक्र भी गीतामें आया है, लेकिन गीताका मोक्षशास्त्र या समाजशास्त्र किसी अेक वर्णके लिअे नही है। गीताका अुपदेश किसी व्यक्ति या वर्णके अधिकारके बाहरकी चीज है असा भी गीताने कही कहा नहा है। अिसी तरह शुक्लकृष्ण असी दो तरहकी गतिके बारेमें भी है। महाभारतमें पितामह भीष्म देवयानसे स्वर्ग जानेके लिअे अुत्तरायणकी प्रतीक्षा करते रहे असा प्रसग लाकर भीष्मके मुहसे सारी भारतीय संस्कृतिका रहस्य और राजधर्म बतानेके लिअे भारतकारने अवसर प्राप्त किया है। असे ग्रथमें आयी हुअी गीता शुक्लकृष्ण गतिका भेद छोड नहा सकती थी। किन्तु असी अनेकानेक रूढ भावनाअें रूढिवादी लोगोंके लिअे ही थी। मोक्षमार्गमें असे भेदोंका कोअी प्रयोजन नहीं है। अिन दो मार्गोंके भिन्न भिन्न नाम अिस प्रकार है

शुक्ल	कृष्ण
दिवस	रात्रि
शुद्ध	वद्य
ज्योति (अग्नि, अर्चि)	धूम
देवयान	पितृयाण
अुत्तरायण	दक्षिणायन

गाधीजीने गीताकी वेदान्तकी दृष्टिके अनुसार अिन दो मार्गोंको ज्ञानमार्ग और अज्ञानमार्ग कहा है।

शुभाशुभपरित्यागी [१२–१७]

जब तक मनुष्य तीन गुणोंके अदर है तब तक अुसे सत्त्वगुणकी वृद्धिके लिअे कोशिश करनी चाहिये। अर्थात् अशुभ गुणोंका त्याग करके शुभ गुणोंका विकास हो जाय असी साधना करनी चाहिये। जीवनमें अशुभ वस्तुओंका सम्पर्क दूर करके शुभ वस्तुओंका सग्रह करना चाहिये।

अिस तरह जब सत्त्वगुण स्थिर हो जाता है तब और भी आगे जानेके लिअे, त्रिगुणातीत बननेका आदर्श गीताने हमारे सामने रखा है।

अुस हालतमें हम अितने अनासक्त, निःसंग और अलिप्त हो चुकते हैं कि शुभ अशुभ दोनोंके प्रति अुनके फलोंके प्रति हमारा अुदासीन भाव ही रहता है। शुभाशुभके प्रति अुदासीन बनना गुणातीतका भी लक्षण है (१४–२३ से २५ तक) और भक्तका भी लक्षण है (९–२८) क्योंकि दोनोंमें अनासक्ति और तितिक्षा पूर्ण बढ़ी हुअी रहती है।

शूद्र [९–३२, १८–४१, ४४]

√शुच् (शोके) + √द्रु (भये) अथवा √द्रु (गतौ)। जो दुःखसे भागता है हिम्मत हारता है वह शूद्र है। दुःख आते ही जो पिघल जाता है और आयता नहीं संभाल सकता वह शूद्र है असा अर्थ किया जाता है। चातुर्वर्ण्यमें पहले तीन वर्ण तो संस्कार ग्रहण कर सकते हैं। शूद्रमें सामर्थ्य नहीं है असा देख या मानकर अुनके अूपर संस्कार संपन्न बननेका भार नहीं रखा है। अुन पर सामाजिक जिम्मेवारी भी कम रहती है और अन्य वर्णोंकी मत्सर किये बिना सेवा करना ही अुनका धर्म बताया है। फलतः असे गुनाह भी हैं जो करनेसे शूद्रको अपराधी नहीं मानते हैं अथवा थोड़ेसे ही दंडसे वह मुक्त हो सकता है। हालांकि स्मृतियोंमें चंद अपराधोंके लिअे औरोंकी अपेक्षा शूद्रके लिअे भयानक कठोर दंड बताये हैं।

(चातुर्वर्ण्य और वर्णकर्म अिन दो शब्दोंका विवेचन देखिये।)

शूद्र संस्कार ग्रहण करनेमें असमर्थ है अुसमें कुशलता भी कम है। अिसलिअे अुसे केवल परिचर्याका काम (menial service) बताया है। किन्तु सेवाका महान धर्म अुसे मिलनेके कारण अुसकी शक्ति बढ़ती ही जाती है। शक्ति बढ़नेसे सामाजिक अधिकार भी हाथमें आ जाते हैं। अिसलिअे जो शूद्र अनुभव-वृद्ध हैं अुनके प्रति आदर दिखानेका कर्तव्य स्मृतियोंने बताया है।

जिस समाजमें शूद्रोंकी संख्या अधिक है अुस समाजके नेता या तो बिल्कुल नालायक हैं अथवा अधम स्वार्थी हैं। शूद्रबहुल समाजको लकवा या पक्षाघातसे पीड़ित समझना चाहिये। ब्राह्मण अगर सब वर्णोंका गुरु है तो शूद्र वर्णका कायमी अस्तित्व ब्राह्मण वर्णकी अक्षमता और पराभवकी निशानी है।

शोकके कारण संविग्न, व्याकुल हुआ है मन जिसका। संविग्न और अुद्विग्न अेक ही है।

शोककी भावना अच्छी नहीं है। शरीर, मन और अुत्साह तीनों पर अुसका बुरा असर होता है। शोकके आवेगके समय पाचन शक्ति अेकदम बिगड़ जाती है रुधिराभिसरण बिगड़ जाता है स्मृति क्षीण होती है, प्रज्ञा मेधामें दोष आता है अुत्साह तो मर ही जाता है और व्यवहारमें अत्यन्त आवश्यक तारतम्य बुद्धि भी नष्ट होती है। दुःखसे शोक होता है और शोकसे रोग होते हैं। अिस दुःखपूर्ण दुनियामें बार बार शोक होना स्वाभाविक है किन्तु हितकर नहीं है। अिसलिअे तत्त्वज्ञानका अध्ययन करके साधना द्वारा आत्माका साक्षात्कार करके जीवन रहस्य समझना चाहिये। शोकसंविग्नमानस अर्जुनको विषादके कल्मषसे अुबारनेके लिअे ही गीता कही गयी है। अंतमें अर्जुन विषादसे मुक्त होकर प्रसादयुक्त हो गया (१८-७३)।

शौचम् [१३-७, १६-३, ७, १७-१४, १८-४२], **शुचौ** [६-११], **शुचीनाम** [६-४१], **शुचि** [१२-१६]

√शुच् (पूतिभावे क्लेदे) गीला होना स्वच्छ होना, शुद्ध होना। पानीमें भिगोकर हम वस्तुओंको धोते हैं स्वच्छ और पवित्र करते हैं। अिसलिअे शुचिका अर्थ होता है स्वच्छ और पवित्र। शौच दो प्रकारका होता है बाह्य और आन्तरिक। मिट्टी या पानी लगाकर बाह्य शौच सम्पन्न किया जाता है। तपस्या और ध्यानसे तथा कृच्छ चान्द्रायण आदि व्रतोंसे आन्तरिक शुद्धि होती है। मनमें जब राग द्वेषादि मलिनता पैदा होती है तब अुसकी विपरीत भावना करनेसे यानी दूसरी बाजू देखनेसे मनकी शुद्धि होती है।

शौच अथवा स्वच्छता सब संस्कृतिकी बुनियाद है। गुरु अपने शिष्यके शिक्षण क्रममें शौचाचारसे ही प्रारंभ करें। अुपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेत् शौचम् आदितः (मनु०)। प्राचीन कालमें हम आर्योंकी स्वच्छताके कारण प्रतिष्ठा बहुत थी। शौचे यत्नः सदा कार्यः शौचमूलो

द्विज स्मृत । शौचाचार विहीनस्य समस्ता निष्फला क्रिया (मनु०)॥ गीताने ज्ञानके लक्षणमें और दैवी संपत्तिके लक्षणमें भी शौचको स्थान दिया है। ब्राह्मण वर्णके लक्षणमें तो वह है ही।

शौर्यम [१८–४३]

√शूर् (हिंसास्तम्भनयो विक्रान्तौ) प्रहार करना दृढ रहना असाधारण परिश्रम करना वीरवृत्ति अथवा बहादुरी दिखलाना। शूरस्य भाव शौर्यम। यह क्षत्रियोंका गुण है। शौर्यगुण अनेक प्रकारका है। युद्धमें जान पर बाजी खेलनेवाला जैसे शूर कहलाता था अुसी तरह 'द्यूत' में माल पर बाजी खेलनेवाला जुअेबाज भी शूर कहलाता था। और अिसी कारण युद्ध अथवा द्यूतके आमंत्रणको क्षत्रिय कभी अस्वीकार नहीं करते थे। द्यूतके दोष ध्यानमें आनेके बाद द्यूतका निषेध हुआ और रणशूरकी पंक्तिमें दानशूर बिठाया गया। अपना सर्वस्व दान देकर विश्व जीतनेवाले यज्ञका विश्वजित यज्ञका नाम दिया गया। अन्यायकारी व्यक्तिके विरुद्ध जो चारित्र्यवान मनुष्य निर्वैर और निर्भय होकर खड़ा होता है और जान माल दोनोंको न्योछावर करता है अुसे आत्मवीर और चारित्र्य शूर कहना चाहिये। अुसीका नया नाम है सत्याग्रही।

जिस समाजने अनुभवमूलक यह कहावत चलाअी — शतेषु जायते शूर सहस्रेषु च पंडित । वक्ता दशसहस्रेषु दाता भवति वा न वा ॥ — अुस कृपण समाजकी स्थिति कैसी होगी? शूरोंमें शूरतम दानशूर!! हमारी संस्कृतिने शूरसे शूर और शूरका भेद बताया है। मारनेमें शौर्य है मरनेके लिअे तैयार होनेमें शौर्य है। शौर्यको छोड़कर शौर्य बतानेवाला सत्याग्रही होता है।

श्रद्धा [६–३७, ७–२१ २२ ९–२३, १२–२, १७–१, २ ३ १७], **श्रद्दधाना** [१२–२०] **श्रद्धामय** [१७–३]

√श्रद्धा–विश्वास रखना मानना। श्रत् (=सत्य) + √धा (धारण-पोषणयो दाने च)

किसीके अूपर या किसी तत्त्वके अूपर जब हमारा विश्वास बढ़ता है तब अुस विश्वासको श्रद्धा कहते ह। जहा सबूत मिल्ना मुश्किल है अथवा सबूत ढूढनेकी अिच्छी भी नही होती असे विश्वासको श्रद्धा कहते ह।

अथवा जहा निर्णय न होनेके कारण दो पक्षाकी सभावना रहती है वहा पर दोमें से अेक पक्ष ही सही होगा असी जो मनकी धारणा रहती है वह भी श्रद्धा है। श्रद्धाकी बुनियादमें अेक ओर openness of mind होता है और दूसरी ओर शुभाशसा होती है। जहा शकाके लिअे स्थान है वहा पर भलाअीकी अपेक्षा करनेकी जो वृत्ति होती है अुसे शुभाशसा कहते ह। जब तक किसीके विरुद्ध कोअी दोष सिद्ध नही होता तब तक वह निर्दोष है असा समझकर चलनेकी वृत्ति श्रद्धामूलक ही है। अीश्वर है, वह कल्याणकारी है। अीश्वरकी कल्याणकारिता ही अिस विश्वके व्यापारकी बुनियादमें है। भलेका फल भला ही होगा। सत्य, प्रेम स्वार्थ-त्याग, बलिदान अिनके आचरणसे ही जीवन कृतार्थ होगा। अेककी भलाअीका कुछ न कुछ असर — अच्छा असर दूसरो पर यथासमय होगा ही। ये सब श्रद्धाके विषय ह। नैतिक जीवन, सदाचार आध्यात्मिक साधना सेवामय जीवन अित्यादि मानवी प्रवृत्ति अिस श्रद्धाके कारण ही चल्ती है।

आज तक मनुष्य जातिने — व्यक्तिने और समुदायने — जो कुछ भी असाधारण लोकोत्तर पुरुषार्थ किया है वह सब श्रद्धाके बल पर ही किया है। श्रद्धा अेक अद्भुत आध्यात्मिक शक्ति है। मनुष्यके चारित्र्यकी वह अन्तिम पूजी है। श्रद्धाके बिना मनुष्य अहिंसा-परायण नही बन सकता श्रद्धाके बिना अुत्कट प्रेम भी असम्भव है। श्रद्धामयोऽय पुरुष यो यच्छ्रद्ध स अेव स।

श्री [१०–३४, १८–७८], **श्रीमत्** [१०–४१], **श्रीमताम** [६–४१]

√श्रि (सेवायाम्) आश्रय करना आश्रय लेना।

√श्री (पाके) पकाना, अुबालना। श्री शब्दके अनेक अर्थ होते ह। कच्चेको पक्का करनेमे अुसमें शोभा आती है अुसकी सेवा लेनेकी

अिच्छा होती है, अुससे आश्रयको लाभ होता है। अिसीलिअे श्रीका अर्थ है शोभा, कान्ति लावण्य, सम्पत्ति वैभव कल्याण राजत्व प्रतिष्ठा लक्ष्मी, सौन्दर्य समृद्धि किसी गुणका अुत्कर्ष सामर्थ्य धन यश सामग्रीका समुदाय। अिसी परसे जिनमें न किसी अेक गुण या विभूतिसे जो युक्त है अुसे श्रीमान् कहते हैं।

भगवानने कहा है कि जहां कहीं भी श्रीका प्रादुर्भाव हो वह मेरी ही विभूति है (१०-४१)।

श्रुतिपरायणा [१३-२५]

√श्रु (श्रवण) सुनना ग्रहण करना। अिसी परसे नीचेके शब्द आये हैं—श्रोत्र (कान) श्राव्य श्रुति श्रावित श्रौत। श्रुतिका अर्थ है सुना हुआ। योगावस्थामें अथवा ध्यानमें बैठे हुअे ऋषियोंने भगवानसे जो वचन सुने अुन्हें श्रुति कहते हैं। जिस श्रुतिमें सब तत्त्वोंका ज्ञान पाया तथा जाना जाता है। अिसलिअे अिसे वेद कहते हैं। ऋषियोंका कहना है कि वेदके मंत्र सनातन हैं, देवता-स्वरूप हैं। विधिपूर्वक शुद्ध अुच्चारणसे मंत्र-देवता सन्तुष्ट होते हैं। ध्यान ही में ऋषियोंको अिन मंत्रोंका दर्शन हुआ। अिसी कारण ऋषियोंको मंत्र-द्रष्टा कहते हैं। वेदके मंत्र किसी ऋषिके या पुरुष विशेषके बनाये हुअे नहीं हैं अिसलिअे वेदविद्याको अपौरुषेय कहते हैं (९-२१)। [अथर्ववेद बादमें संग्रहीत किया गया। तबसे वेद चार माने जाते हैं।]

श्रुतिके बाद ऋषियोंने जो परम्परागत बातें अपने स्मरणसे लिख डालीं अुन्हें स्मृति कहते हैं। धर्मसूत्रोंमें जो वेदसे सम्बन्ध रखते हैं अुन्हें श्रौतसूत्र कहते हैं।

श्रुतिमें यज्ञयागादि कर्मोंका भी विधान है, आत्मा परमात्मा आदिके बारेमें ज्ञान भी है, अीश्वरकी अुपासनाके मंत्र भी हैं। अिनमें से आध्यात्मिक ज्ञान विषयक जो भाग है अुसे ज्ञानकाण्ड कहते हैं। अुसका विवेचन और विस्तार अुपनिषदोंमें हुआ है। वेदके अन्तमें ये अुपनिषद् आते हैं और वेदविद्याके अन्तिम सिद्धान्त अुनमें पाये जाते हैं। अिसलिअे अुपनिषद्के विषयको वेदान्त कहते हैं। गीतामें भगवान कहते

ह कि मैं ही वेदान्तकृत् हू (१५-१५)। वेदमें जो शेष कर्मोका कम काण्ड रहा अुसे त्रयीधम (९-२१) अथवा केवल श्रुति कहते है। अिस त्रयीविद्या और कमकाण्डमें ही जो फसे हुअे ह अुह गीतामें 'वेदवादरता' (२-४२) कहा है। जो लोग वेदमें बताओ हुआी बातें और भिन्न भिन्न आचार्योके अभिप्राय केवल सुनते रहते है, सुननेसे और माननेसे सब कुछ हो जायगा असा समझकर स्वय सोचते नही, अपनी विवेक-बुद्धिसे काम नही लेते, असे केवल परोपदेशका ही प्रमाण माननेवाले लोगोको श्रुति-परायण कहा है। श्रुति ही (श्रवणम्) परम् अयनम् (गमनम्) मोक्षमार्ग प्रवृत्तौ परम साधनम् येषाम् ते श्रुति परायणा। असे अन्धश्रद्धालु लोग भी मृत्युसे आत्मनाशसे बच जाते हैं।

श्रुतिविप्रतिपन्ना [२-५३]

किन्तु असे श्रुति-परायण लोग जब अनेक लोगोके पाससे परस्पर विरोधी भिन्न भिन्न बातें सुनते ह तब अुनकी बुद्धि विक्षिप्त हो जाती है। वे असमजसमें पडते ह। असोकी बुद्धिको गीताने श्रुति विप्रतिपन्ना (विक्षिप्ता) बुद्धि कहा है। जब यह विक्षेप दूर होगा तब ही मनुष्य योगको प्राप्त कर सकेगा और अुसकी प्रज्ञा स्थिर होगी।

श्रेय [१-३१, २-७, ५, ३१, ३-२, ११, ३५, ५-१, १२-१२, १६-२२], **श्रेयान** [३-३५, ४-३३, १८-४७], **श्रेष्ठ** [३-२१]

√श्री (पाके) पकाना, अुबालना। √श्रि (सेवायाम्) आश्रय लेना। प्रेय और श्रेयकी जोडी है। जो केवल सुखकर है अिन्द्रियोके लिअे आकर्षक है अुसे प्रेय कहते ह। जो हितकर है कल्याणकारी है, अिहलोक और परलोक दोनोंमें अुन्नतिकर है अुसे श्रेय कहते हैं। प्राकृत मनुष्य प्रेयको ही पसन्द करता है, बुद्धिमान, धीर पुरुष श्रेयको। कठोपनिषद्में यमराज कहते ह

अन्यत श्रेय, अन्यत अुत अेव प्रेय,
ते अुभे नानार्थे पुरुष सिनीत।

तयो श्रय आददानस्य साधु भवति,
हीयते अर्थात य अु प्रयो वणीते।
श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यम अेत,
तो सम्परीत्य विविनक्ति धीर।
श्रेयो हि धीरो अभि प्रयसो वणीते,
प्रयो मन्दो योगक्षमात वणीते॥

अहिक सुखोपभोग और योग-क्षेम सब प्रयमें शुमार किया गया है। तब श्रय हम किसे कहे? श्रय वही है जो आत्माकी अुन्नति करता है आत्माको गिरने नही देता। श्रेय वही है जिससे हम दूसरेके भलेको अपना भला समझते ह। अिन्द्रिय-जयके बिना यह नही हो सकता। वेदान्तकी परिभाषामें कहे तो व्यक्तित्वके नाशके बिना मनको मार बिना, श्रेयकी प्राप्ति नही होती है।

श्वपाक [५–१८]

श्वन् + √पच् (पाके) पकाना हजम करना।

श्वन कुत्तको कहते ह। अुसे पकाकर जो खाता है वह चाण्डाल, 'श्वपाक' है।

सक्त [३–२५, ५–१२, १८–२२]

√सञ्ज (सघे) चिपटना आलिंगन करना।

सक्त = लिपटा हुआ फसा हुआ आसक्त। किसी भी चीजको जब हम लेते ह तब स्वेच्छासे लेते ह किन्तु जब चाहते ह तब अुसे आसानीस छोड नहा सकते। वह चीज हमसे चिपट जाती है और हमारा दिल भी अुसस चिपट जाता है। यही सबसे बडा बधन है। अिसे आसक्ति भी कहते ह। आसक्तिसे जो मुक्त होता है अुसे असक्त (३–७ १९ २५ ५–२१ ९–९ १३–९ १४ १८–४९) अथवा अनासक्त कहते हैं।

सग [२–४७ ४८ ६२, ५–१० ११, १८–६, ९]

सम+ √गम् (गतौ) साथ जाना मिलना साथ होना। सगका अर्थ आसक्ति भी है। गीतामें सग शब्द प्रायः सगके अर्थमें आता

है जिसका त्याग गीताने अत्यावश्यक बताया है। कर्मोका कर्तृत्व और आसक्ति भी छोडनी चाहिये। और अुनके फलका खयाल भी छोडना चाहिये। विषयोका केवल ध्यान करनेसे ही अुनके प्रति सग यानी आसक्ति पदा होती है। फिर अुसमें से काम क्रोध मोह, आदि सब अनर्थ-परम्परा पदा होती है। अिसलिअे नि सग बनना चाहिये।

सगरहितम् [१८-२३], सगवर्जित [११-५५], सग-विवर्जित [१२-१८]

जिसने सग छोड दिया है, प्रयत्नपूर्वक दूर किया है अुसे सग वर्जित अथवा मुक्तसग कहते हैं और अुनके कर्मका भी सगरहित कहा है।

सग अथवा आसक्ति अनेक प्रकारकी होती है। सुखाभिलाषी मनुष्यमें सुखसग रहता है (१४-६)। ज्ञानार्थीमें ज्ञानसग आ सकता है। कर्मके आग्रही अथवा कर्मसगी (३-२६ १४-१५) लोगोको कर्मसग (१४-७) अथवा तृष्णासग (१४-७) बाधता है। जब तक मनुष्य गुणातीत नही होता तब तक अुसमें गुणसग (१३-२१) रहता ही है। सगदोषको जीतना (१५-५) ही सबसे बडा पुरुषार्थ है। अुसके पानेके लिअे असगशस्त्र (१५-३) हाथमें लेकर अश्वत्थका छेदना चाहिये।

सचेता [११-५१]

चेतस्=चित्त मन। जिसका चित्त प्रसन्न है अुसे सचेता कहते हैं क्योकि अुसका मन ठिकाने पर रहता है।

जब मनुष्य घबरा जाता है आश्चर्यचकित होता है अथवा आपेसे बाहर हो जाता है तब शान्तिसे सोचनेकी अुसकी शक्ति मारी जाती है, मानो अुसका मन ही गुम हो जाता है। असेको अन्यमना अथवा अचेता कहते हैं। अुसकी मात्रा बढ जाने पर अुसे निचेतस भी कहते हैं।

जब मन परसे दबाव दूर हो जाता है और मनुष्य होशमें आता है तब वह कहता है कि मेरा गुम हुआ मन मुझे मिल गया है मैं

सभल गया हू, म सवृत्त (११–५१) हुआ हू मेरी स्वाभाविक स्थिति मुझे मिल गओी है (प्रकृति गतोऽस्मि) म सचेता हुआ हू।

अपहृतचेताके (२–४४) विरुद्ध है सचेता। अपहृतचेताके लिअे ही अजुनने अपहृत-स्वभाव (२–७) और अपहृतचेतस (१–३८) शब्दका प्रयोग किया है।

सततम् [३–१९, ६–१० अि०]

√तन् (विस्तारे) तानना, खीचना फलाना।

धारावाहिक समयको सततम् कहते ह। सततम्का अथ है हमेशा लगातार अखण्ड निरन्तर।

सत [९–१९ ११–३७, १३–१२ १७–२३ २६, २७]

सतका अथ है वह तत्त्व जिसकी हस्ती हमशा रहती है। असा तत्त्व तो परमात्मा ही है। गीताने ही अिस शब्दके अनक अथ अेक श्लोकमें दिये ह

> सद्भावे साधुभावे च सत अिति अतत प्रयुज्यते
> प्रशस्ते कमणि तथा सत श द पाथ युज्यते। (१७–२६)

सत् शब्दकी योजना सद्भाव, साधुभाव और प्रशस्त कमके लिअ होती है — The real (true) the good and the auspicious in action (१७–२६)।

सत्कार [१७–१८]

सत् + √कृ। किसीके चारित्र्यकी आतरिक भलाअीका स्वीकार करना अनुमोदन करना सत्कार है। यह मनुष्य सच्चा है साधु है, विश्वासपात्र है आतिथ्यके लायक है अिस तरह अुसकी भलाअीका स्वीकार करनेके लिअे हम जो कुछ करते ह वह सत्कार है।

सत्यम [१०–४ १६–२, १७–१५, १८–६५]

जसा दखा अथवा सुना गया है वसा ही (अुस अनुभवमें रत्तिभर फक किय बिना) दूसरकी बद्धिमें पहुचानके लिअे कहे जानवाले वचनको सत्य कहत हैं। सत्यमें चित्तशाठ्य और अपलाप नही हाना

चाहिये। सत्य अेक असी व्यापक चीज है कि अुसमें करीव करीव बाकीके सब सद्गुण आ जाते हैं। महाभारतने सत्यके तेरह आकार अथवा पहलू बताये हैं

> सत्यं च समता चैव दमश्चैव न संशयः।
> अमात्सर्यं क्षमा चैव ह्रीस्तितिक्षाऽनसूयता॥
> त्यागो ध्यानमथार्यत्वं धृतिश्च सततं स्थिरा।
> अहिंसा चैव राजेन्द्र! सत्याकारास्त्रयोदश॥
>
> (शांतिपर्व, १५६–८, ९)

महाभारतमें ही सत्यकी व्याख्या की है

यत् भूतहितम् अत्यन्तम् तत् सत्यम् अिति न श्रुतम्।

जो अपवादरहित सब भूतोंके लिअे आत्यंतिक हितकारी हो वही सत्य है। अिसे अुलटा करके भी हम कह सकते हैं कि सचमुच जो पूर्णतया सत्य है अुससे सब भूतोंका कल्याण ही होगा। Right wrongs no man

सत्त्वम् [१०–३६, ४१, १३–२६, १४–५, ६, ९, १०, ११, १४, १८, १६–१, १७–१, ३, १८–१०, ४०]

सत्त्वके अनेक अर्थ हैं — सत्त्व = वस्तु (१०–४१ १३–२६, १८–४०), सत्त्व = चारित्र्य (१०–३६, १६–१) सत्त्व = सत्त्वगुण, सत्त्व = अन्तःकरणका स्वभाव प्रकृति (१७–३)।

यह सत्त्व मनुष्यको कल्याणकारी स्थिरता देनेवाला सद्गुण है। गीतामें जिसका विस्तारसे वर्णन आया है, खास करके चौदहवें, सत्रहवें तथा अठारहवें अध्यायमें जहां गुण-संस्थानमें त्रिगुण-व्यवस्था समझाअी है।

सत्त्वसंशुद्धि [१६–१]

गीताने संस्कृतिके दो प्रकार बताये हैं दैवी और आसुरी (१६–६)। जिनमें दैवी संपत्ति संग या संस्कृतिके २६ गुण बताये हैं। दैव और आसुर दोनोंके लक्षण बनाते हुअे नजरके सामने केवल

व्यक्तियोंका स्वभाव नहीं रखा है। आसुरी सम्पत्का वर्णन करते हुए सब जगह अनेक वचनका ही व्यवहार किया है। अिससे स्पष्ट होता है कि सोलहवें अध्यायमें केवल व्यक्तिगत आदर्श ही नहीं किन्तु समाजगत अथवा राष्ट्रगत संस्कृतिका ही विचार किया है।

अब अिसी सामाजिक दृष्टिसे दैवी संपत्तिके छब्बीस गुणोंका विचार करना है। अिनमेंसे हम अभयके दोनों प्रकारका विचार कर चुके हैं कि मनुष्य न किसीसे डरे न किसीको डराये स्वयं निर्भय हो जाय और औरोंको भी अभय-दान दे। अभयके बाद आती है सत्त्वसंशुद्धि। अिसका सीधा अर्थ है अन्तःकरणकी शुद्धि निर्मलता निर्व्याजता।

हम जानते हैं कि मनुष्यका जीवन बुद्धि और हृदयसे नियंत्रित रहता है। अिनमें हृदय है प्रेरक मोटर और बुद्धि है नियामक चक्र steering wheel। अब अिन दोनोंमें से किसका महत्त्व अधिक माना जाय? अुत्तर देना कठिन है। तो भी मानवी जीवनका रहस्य समझनेवालोंने कहा है कि हृदय ही जीवनका सार-सर्वस्व है।

मोटरकी शक्ति जैसी अधिक होती है वैसा हृदय अंधा नहीं होता। लेकिन अगर हृदय शुद्ध नहीं रहा तो बुद्धि देखते देखते भ्रष्ट हो जाती है। मनोव्यापारको अच्छी तरहसे जाननेवाले अुपनिषत्कार अिंगियान यहाँ तक कहा है कि सत्यको समझनेका साधन बुद्धि नहीं किन्तु अन्तःकरण है—हृदयेन हि सत्यम् जानाति।

अिसीलिअ व्यक्ति हो या समाज हो हृदय-शुद्धि प्रधान वस्तु है। व्यक्तिके लिअे अगर हृदय शुद्ध हो तो जीवन सरल और निरोगी रहता है और दूसरोंके साथ सम्बन्ध भी स्वच्छ ढंगका रखा जाता है।

समाजकी हृदय-शुद्धि अितनी आसान वस्तु नहीं है। अनेक व्यक्ति मिलकर ही समाज बनता है यह बात सही है। अधिकांश व्यक्ति और खास करके प्रभावशाली व्यक्ति अगर चारित्र्यशील हों तो समाजका चारित्र्य निर्मल रहेगा अिसमें कोअी शंका नहीं। किन्तु समाजका हृदय खास व्यक्त होता है अुसके आदर्शोंमें सामाजिक रस्म रिवाजों और संस्थाओंमें। अगर वहाँ पर कपट दंभ प्रतारणाने प्रवेश किया

तो समाजका बंधन टूट जाता है, सहयोगकी शक्ति नष्ट होती है और व्यक्तियोंका अपना चारित्र्य सभालना कठिन हो जाता है।

समाजकी शक्ति असली संगठन शक्ति है। यह संगठन परस्पर विश्वासके बिना निभ नही सकता। जितने लोग आपसमें मानते हैं कि अुनमें से हरअेकका हित और कल्याण हर दूसरेके हाथमें सुरक्षित है अुतने लोगोंका ही अेक समाज बनता है। यह परस्पर विश्वास ही संगठनकी बुनियाद है। अगर अेकके भी हृदयकी शुद्धि बिगड गअी तो कुछ हद तक सामाजिक संगठन बिगड ही जाता है। अगर समाजके या॰ भी प्रधान लोगोंमें किसी भी कारण अन्तःकरणकी शुद्धि टूट गअी और स्वार्थ, अीर्षा मत्सर, द्वेष भय, संशय या असूया जाग अुठी, तो ब्रह्मा विष्णु-महेश भी अुस समाजका रक्षण नहीं कर सकते।

अिसलिअे भगवानने दैवी सम्पत्तिमें निर्भयताके साथ सत्त्व-संशुद्धि का तुरन्त पुरस्कार किया है।

सत्त्वानुरूपा [१७–३]

मनुष्यमें जो आत्मिक सामर्थ्य है वह अुसकी श्रद्धा पर निर्भर है। श्रद्धाका प्रकार और अुसकी मात्रा अच्छी हो तो वह सब कुछ साधन हासिल करके सिद्धि प्राप्त कर सकता है। अिसलिअे गीता कहती है कि मनुष्य श्रद्धामय ही है। मनुष्यकी Personality व्यक्तित्वकी अूंचाअी और गहराअी अुसकी श्रद्धाके जितनी ही होती है। जिसकी जैसी श्रद्धा वैसा ही वह बनता है।

अितने महत्त्वकी यह श्रद्धा मनुष्य कैसे प्राप्त कर सकता है? गीता कहती है कि मनुष्यके भिन्न भिन्न संस्कारोंसे जैसी अुसकी अन्तःकरण शक्ति हो वैसी ही अुसकी श्रद्धा होती है। अिस अन्तःकरण शक्तिको सत्त्व कहते हैं। सत्त्व मनुष्यका essence सार है। अखण्ड जागृति और अखण्ड साधनासे ही अिस सत्त्वकी पूंजीका संग्रह हो सकता है। अिस अेक श्लोकमें (१७–३) गीताने साधनाका निचोड दे दिया है।

हरअेक व्यक्तिका सत्त्व अलग अलग होता है। जिसका जो जीवनोद्देश हो, आदर्श हो, अुसी प्रकार अुसका सत्त्व होता है। मनुष्य

सब कुछ खाय लेकिन अपना सत्त्व न खाय। किसी वैश्यका दिवाला निकलता तो वह आत्महत्या करता था। लेकिन क्षत्रियका दिवाला निकला तो अुसे अुसकी शरम भी नहीं लगती। वह कहेगा कि लड़नेमें अगर मैं भीरु साबित हुआ तो मेरा सत्त्व गया। दिवाला निकला तो क्या हुआ? वह मेरे सत्त्वकी बात नहीं है। ब्राह्मण अगर तपोभ्रष्ट हुआ, अुसने ज्ञानद्रोह किया तो अुसका सत्त्व गया। लड़नेमें अगर अुसने अिनकार किया तो अुसका सत्त्व नहीं जाता है। हरअेकका सत्त्व अुसका प्राण है, प्राणसे भी बढ़कर है।

मनुष्यमात्रके लिअे सामान्य असा जो कुछ सत्त्व होता है असकी संशुद्धि सबसे पहले करनी चाहिये।

सनातन [१-४०, २-२४, ४-३१, ७-१०, ८-२०, ११-१८, १५-७]

सदा अथवा सना = हमेशा। अिस परसे जो हमेशा है, अस्तित्व है अुसे सनातन कहते हैं। तदानीन्तन = अुस समयका। अद्यतन = आजका। ह्यस्तन = गत कलका। श्वस्तन = आगामी कलका। पुरातन = गये जमानेका। अिसी तरहसे सनातन शब्द बना है। अुसे सदातन भी कहते हैं। हिन्दुस्तानमें वैदिक परम्परासे जो धर्म निकले हैं अुन्हें सनातन धर्म कहते हैं। अिनमें बौद्ध धर्म, जैन धर्म भी आ जाते हैं। वैष्णव धर्म, शाक्त धर्म, तंत्र मार्ग, अुपासना, प्रार्थना-समाज, ब्राह्म समाज अित्यादि सब अिस सनातन धर्मकी ही शाखायें हैं।

यह धर्म किसी अेक ग्रंथसे या अेक धर्मप्रवर्तकसे बद्ध नहीं है। यह गंगाके जैसा बहता जीवनधर्म है। अनेक स्रोत अिसमें मिलते आये हैं और अिसमेंसे अनेक शाखायें फूटकर स्वतंत्र रूपमें बहकर फिरसे अिसीमें आकर मिली हैं। अिसलिअे अब यह सागरके समान विशाल हो गया है। अब असे पुरानी मर्यादायें तोड़ते जाना चाहिये।

गीताने कुलधर्मको सनातन अिसलिअे कहा है कि कुल ही प्रकृतिनिर्मित सनातन संस्था है ('कुलधर्म' शब्द देख लेना चाहिये)।

आत्मा सनातन है क्योंकि अुसका न नाश है और न परिवर्तन। सनातनको ही 'चिरन्तन' कहते हैं। आत्मा शब्दका धात्वर्थ ही सनातनके

अथवा सातत्यका है। ब्रह्म ही अिस विश्वका सनातन बीज होनेसे अिस विश्वका भी कभी नाश नहीं होनेवाला है। महाप्रलयके बाद भी नआ सृष्टि पैदा होती है, क्योंकि अुसका असली भाव सनातन ही है।

समचित्तत्वम् [१३-९], समबुद्धि [६-९, १२-४], समदुःखसुख [२-१५, १२-१३, १४-२४], समदर्शी [५-१८, ६-२९]

जो मनुष्य सुख-दुःखमें समान रहता है, भले-बुरेके प्रति जो अेकसा तटस्थ या अलिप्त वृत्ति या बुद्धि रखता है अुसीको समदर्शी कहते हैं। वही भक्त है, वही योगी है। अुसका मन कभी विकारी नहीं होता। अस समत्वको ही गीताने योग कहा है (२-४८)। असा समय आने पर हाथमें मिट्टीका ढेला आ जाय, पत्थर आ जाय, या सोना आ जाय, तो भी अुस व्यक्तिकी वृत्ति अेकसी रहेगी। वह तो सर्वत्र समवस्थित (१३-२८) अीश्वर मात्र ही देखता रहेगा।

समत्वम् [२-४८], समता [१०-५], समचित्तत्वम् [१३-९], समदर्शन [६-२९], समदर्शिन [५-१८], समदुःखसुख [२-१५, १२-१३, १४-२४]

सम=स+म। √मा (माने) नापना। जिस पर से अेक ही नाप है जिसका अुसे सम कहते हैं। सम यानी वह सम्बन्ध जिसमें दो बातोंका अेकसा नाप पाया जाता है।

मनुष्यके मन पर सुख-दुःखका प्रभाव अवश्य पड़ता है। अिसलिअे कभी वह फूल जाता है, कभी मुरझा जाता है। अैसा होना स्वाभाविक तो है किन्तु अिसमें मनुष्यकी प्रौढ़ता या प्रतिष्ठा नहीं है। दुःखसे अभिभूत होना अथवा सुखके कारण आपसे बाहर हो जाना दोनों अुसे शोभा नहीं देते। अितना ही नहीं किन्तु अुसकी बुद्धि-शक्तिको भ्रष्ट भी करते हैं। अिसलिअे शास्त्रने मनुष्य-जीवनमें समत्वका महत्त्व बताया है। केवल बाह्य जीवनमें और भौतिक दुनियामें समत्वकी स्थापना करना आवश्यक है। किन्तु हृदयमें और मानवी सम्बन्धमें समत्व लाना जरूर है और

जरूरी भी है। अेक मनुष्य विद्वान होगा, दूसरा नहीं होगा, तो भी दोनोंका अेकसा वोट (Vote) रहता है। न्यायासनके सामने अमीर और गरीबका भेद नहीं रहता। वैद्य बीमारोंकी सेवा करते समय पापी और पुण्यवानोंका भेद नहीं करता। सत्पुरुष समाज-सेवामें अपना और पराया असा भेद नहीं करते। माता अपने बच्चोंमें बड़े-छोटेका भेद नहीं करती। ये सब समत्वके अुदाहरण हैं। अिसी तरह मनुष्यको चाहिये कि सुख और दुःखके बारेमें वह समान वृत्ति रखे। अिष्ट या अनिष्ट प्राप्त होने पर मनकी समता खो न बैठे। शत्रु और मित्रके प्रति अेकसी सज्जनता और न्यायवृत्ति रखे। किसीके साथ पेश आने भलेके प्रति भला और बुरेके प्रति बुरा' असा न्याय न रखे। अध्यात्म-चित्तका विकास करके मिट्टीका ढेला पत्थर और सोना सबके प्रति अेकसा अुदासीन रहे। विद्या विनय-सम्पन्न कोओ ब्राह्मण हो गायके समान अुपयोगी जानवर हो, हाथीके समान बलवान प्राणी हो कुत्तेके समान तुच्छ पशु हो या कुत्तेको पकाकर खानेवाला कोओ चाण्डाल हो योगी पण्डितकी नजर सबके प्रति अेकसी रहेगी (५–१८)।

समदर्शी [५–१८] समदर्शन [६–२९]

सम + √दृश् (देखने)। सब स्थितिमें सबके बारेमें जिसकी दृष्टि अेकसी रहती है अुसे समदर्शी कहते हैं। जब तक वस्तुमात्रमें और प्राणीमात्रमें आत्म-दृष्टि या ब्रह्म-दृष्टि पैदा नहीं होती तब तक यह समदर्शिता पूरे तौरसे आ नहीं सकती। भौतिक दृष्टि भेदको देखेगी ही और जब तक भेदको महत्त्व दिया जाता है तब तक साम्ययोग सिद्ध नहीं होगा। फिर साम्यवादकी तो बात ही क्या करें?

समदर्शितामें सबके प्रति हृदयका भाव अेकसा रहता है। प्रत्यक्ष व्यवहारमें समदर्शिता सम्हालते हुअे फर्क तो करना ही पड़ता है। जैसे कि मनुष्य बड़ोंको प्रणाम करेगा छोटोंको आशीर्वाद।

समदर्शन का समझाते अेक शास्त्रीने कहा था— पण्डिता समदर्शिनः न तु समवर्तिनः। मनुष्यकी कसौटी अुसके वर्तनसे ही होती है अिसलिअे शास्त्री महाशयके सूत्रका दुरुपयोग करके कोओ पक्षपाती,

मनस्वी आदमी समदर्शिताका बहाना नहीं कर सकता। वर्तनमें भी समदर्शिता तो सिद्ध होनी ही चाहिये।

समबुद्धि [६–९, १२–४]

सम + √बुध् (बोधने) जानना, पहचानना, आदर करना।

गीतामें साम्ययोगका अुपदेश है। अुसकी सिद्धिके लिअे साम्यबुद्धि आवश्यक है। स्वजनोंका ही हम हित करें, परजनोंका अथवा दुर्जनोंका अहित करें, अैसा भेदभाव जिसमें नहीं है वह समबुद्धि है। मित्र, शत्रु, साधु, पापी अित्यादि सबके प्रति जिनकी अेकसी कल्याण-बुद्धि है और जो सब भूतोंके हितमें रत रहते हैं, अैसे समबुद्धि ही योगी हो सकते हैं और अीश्वरको पाते हैं।

समलोष्टाश्मकांचन [६–८, १४–२४]

√लोष्ट् (संघाते) ढेर बनाना। अिस परसे मिट्टीके ढेलेको लोष्ट कहते हैं। अश्मन् कहते हैं पत्थरको। यह शब्द या तो √अश् (व्याप्तौ संघाते च) जगह व्यापना, पिंड बनाना, परसे आया होगा अथवा √अस् (क्षेपणे) फेंकना परसे आया होगा। कांचन कहते हैं सुवर्णको। यह शायद √कन् (दीप्ति-कान्ति-गतिषु) परसे आया होगा।

मिट्टीका ढेला हो, सख्त पत्थर हो अथवा कीमती और कान्तिमान सोना हो, तीनोंके प्रति जो मनुष्य समान भाव रखता है अुसे समलोष्टाश्मकांचन कहते हैं। अिसका अर्थ यह नहीं है कि बाजारमें वह तीनोंको अेक ही भावसे बेचेगा या खरीदेगा। किन्तु अुनका मन तीनोंके प्रति समान भावसे अेकसा अनासक्त रहेगा। अलिप्तवृत्तिके साम्ययोगका यह लक्षण है।

समम [५–१९, ६–१३, ३२, १३–२७, २८], सम [२–४८, ४–२२, ९–२९, १२–१८, १८–५४]

गीताने ब्रह्मका वर्णन करते हुअे कहा है — 'निर्दोषम् हि समम् ब्रह्म' — ब्रह्म दोषरहित है और सर्वत्र सम है। अिसलिअे समतामें ही पवित्रता और मुक्ति पाअी जाती है। जिसके मनमें साम्यावस्था आ

गओी अुसने अपन ज मकी सफल्ता पाओी। दुनियामें भले-बुरे सब प्रकारके लोग हाते ह। वे सब कसे भी हो लेकिन अपने आपको तो चाहते ही ह। अिसलिअ सज्जन पुरुष साधु और पापी दोनाकी ओर अक्सा आत्मीय भाव रखते ह। वे जानते ह कि जीवनकी अनुभूतिके लिअे सुख और दु ख दोनाकी अक्सी आवश्यकता है अिसलिअ वे सुख-दु ख दोनाको समान भावसे देखते हैं। प्राणियामें कसी भी भिन्नता हो अुनमें परमेश्वर तो अेकसा रहा हुआ है। अिस वास्ते सबको व अपना ही रूप समझते ह। फलत अुनके अन्दर हिसाका भाव प्रगट ही नही हो सकता (१३-२८)। साम्ययोगकी (६-३३) यही बुनियाद है।

समाधि [२-४४, ५३, ५४]

सम+आ+ √धा=अच्छी तरहसे अकत्र रखना। मनने विचाराको अथवा वृत्तियोको अिधर अुधर दौडनसे रोककर मनको अेक ही वृत्ति पर स्थिर बनानेको समाधि कहते ह। स्थिर अेकाग्रता ही समाधि है। मन जब अिस तरह अेकाग्र होता है तब अुसकी सब शक्तिया केन्द्रीभूत होकर असाधारण फल देती ह। जिस तरह सूर्यकी किरणें सूर्यकान्त मणि (magnifying glass)के द्वारा केन्द्रीभूत होते ही कपास आदि को जलानमें समथ होती ह अुसी तरह मनकी शक्तिया योगके द्वारा समाधिमें अेकत्र होते ही सर्वोच्च ज्ञान पानमें समथ होती ह।

श्री शकराचायन अूपर बताय हुअे दोना स्थानो पर (२-४४, ५३ ५४) समाधिका अथ अ त करण किया है। वे लिखते ह — सम. धीयते अस्मिन् पुरुषोपभोगाय सवम् अिति समाधि =अ त करणम् अथवा समाधीयते चित्तम अस्मिन अिति समाधि =आत्मा।

समाहित (६-७) शब्द भी समाधिसे सबध रखता है।

समारम्भा [४-१९]

सम् + आ + √रभ् (राभस्य) शुरू करना आलिगन करना जल्दबाजी करना।

समारभ्यन्ते अिति समारम्भा =कर्माणि। गीतामें सकाम कर्मोंको समारम्भा कहा है। काम-सकल्प छोड देनसे (४-१९) वाकीक कम

वण प्राप्त, सहज प्रवाह प्राप्त स्वधर्म-कर्म ही रहते हैं। वे बंधन नहीं करते।

ज्ञानी अगर प्रवृत्तिशील है तो केवल लोक-संग्रहार्थ कर्म करेगा और अगर निवृत्ति-परायण है तो केवल जीवन-यात्रार्थ कर्म करेगा और कर्म-बंधनसे मुक्त रहेगा। अिसीलिअे अुसे पण्डित कहा है (४–१९)।

समासतः [१३–१८], समासेन [१३–३, ६, १८–५०]

अिसका अर्थ है थोडेमें, संक्षेपमें।

कोअी बात विस्तारसे कहनेसे झट ध्यानमें नहीं आती। विस्तार जंगल जैसा बनता है। अिसलिअे मतलबकी बात थोडेमें कहकर बादमें अुसका चाहे जितना विस्तार करना अिष्ट है। सच्चे शिक्षाशास्त्री और अुपदेशक अिसी क्रमका अवलम्ब करते हैं। महाभारतकारने सारा कथा प्रथम थोडेमें कहकर बादमें अुसका विस्तार किया है। अैसी रचनाका हेतु समझाते कहा है — अिष्टं हि विदुषां लोके समस्तव्यस्तधारणम्। प्रथम समासेन बादमें विस्तारसे कहना ही अिष्ट है।

सर्ग [५–१९, ७–२७, १०–३२, १४–२], भूतसर्ग [१६–६]

√सृज (विसर्गे) पैदा करना, छोडना, भेजना।

सर्गका अर्थ है जन्म, अुत्पत्ति, सृष्टि, त्याग, निश्चय। जिसने साम्य-अवस्था प्राप्त की है अुसने अपने सर्ग यानी जन्मको सार्थक किया, जीत लिया। सर्गका अर्थ अुत्पत्ति-काल भी होता है (७–२७, १८–२)। भूत-सर्गमें (१६–६) सर्गका जो अर्थ होता है वह 'भूत-सर्ग' शब्दमें देखिये।

'सर्ग' और 'स्वर्ग' दोनों शब्द अुच्चारणमें नजदीक होनेके कारण कभी कभी भ्रम पैदा कर देते हैं। अिसी तरह संसृति और 'संस्कृति' में भी भ्रम होता है। संसृतिका अर्थ है संसार world और संस्कृतिका अर्थ है संस्कारिता culture।

सव [११–४०]

(सृतम् अनन विश्वम् अिति सव ।) √स=जाना, आगे बढ़ना हमला करना बहना।

√सव् (गतौ हिंसायाम् च) जाना मारना। भगवानका ही अेक नाम है सव। ग्यारहवें अध्यायमें अजुन कहता है

अनत वीर्यामितविक्रमस त्वम
सवम समाप्नोषि ततोऽसि सव ॥ (११–४०)

भगवानको सर्वोत्तम भी कहते ह।

सवगतम [३–१५, १३–३२], **सवगत** [२–२४]

सव + √गम (गमन) जाना। जिस परसे जिसका अथ है सव व्यापी सब जगह पर पहुचा हुआ। केवल सब स्थानो पर ही नहा किन्तु सब अवस्थाआमें और सब भूमिकाआमें जिसकी अुपस्थिति है असी आत्माका यह विशेषण है।

सवधर्मान परित्यज्य [१८–६६]

सवधर्मान परित्यज्य का अथ है सब धर्मोंका पूणतया त्याग करके। आजकल चन्द व्याख्यानदाता सवधमका अथ करते ह हिन्दू धम अिस्लाम खिस्ती धम जित्यादि सब धम। किन्तु गीताकालमें तो जसे विविध धम थ ही नहीं। वष्णवधम शाक्तधम सन्यासधम आदि धर्मोंके रूप हाग तो सही। किन्तु यहा पर सवधर्मोंसे मतलब है देशधम कुलधम जातिधम वयोधम गुणधम शरीरधम कालधम आपदधम जित्यादि अक ही मनुष्यके लिअ प्राप्त होनवाले भिन्न भिन्न धम।

श्री शकराचाय कहते ह कि यहा नष्कम्य (कर्माभाव) का प्रतिपादन होनसे सवधम-परित्यागमें धमके साथ अधमका भी ग्रहण हाता है।

सवपापै प्रमुच्यते [१०–३, १८–६६]

प्र + √मुच (मोचने) मुक्त होना।

भगवानको पहचाननसे (१०–३) और भगवानकी शरण जानसे (१८–६६) मनुष्य तमाम पापोंसे मुक्त हाता है फिर वे पाप मति

पूर्वक या जान-बूझकर किये हों या अमतिपूर्वक यानी अनवधानसे किये हों। श्री शंकराचार्य कहते हैं कि समस्त धर्माधर्म-बन्धन ही पाप है। अुनसे भगवान 'स्वात्मभाव प्रकाशीकरणेन' मुक्ति देते हैं और फिर मनुष्य कर्म-बन्धनमें नहीं फंसता है।

सर्वभूतहिते रत [५–२५, १२–४]

महाभारतका वचन है 'यद् भूतहितम् अत्यन्तम् स धर्म इति निश्चय'—सब भूतोंके हितकी जो बात है वही धर्म है अथवा सब प्राणियोंका हित जिस आचरणसे होता है अुसीको धर्म्य आचरण कहना चाहिये। पक्षपात रहित और अपवाद रहित सब सत्त्वोंका जिससे हित यानी कल्याण होता है वही धर्म है।

अिसीको गांधीजीने सर्वोदय कहा है।

जब कोअी मनुष्य स्वजनोंकी सेवा करता है तब स्वजनोंको छोडकर औरोंके हित-अनहितका वह खयाल नहीं करता। जब बिल्ली अपने बच्चोंको खिलानेके लिअे चूहे मारकर लाती है तब वह चूहेके सुख-दुःखका विचार नहीं करती। जब कौरव-पाण्डव धर्मके लिअे लडे थे तब अुन्होंने सेनाके हाथी घोडोंके प्रति हुअे अन्यायका विचार नहीं किया। जब मनुष्य सब सत्त्वोंके हितका खयाल करेगा तब वह न किसीको सजा करेगा और न किसीको पुरस्कार करेगा। मनुष्य जितने कर्म करता है वे सब अेकांगी ही होते हैं। किसीका भला करने दूसरेका बुरा हो ही जाता है। अन्यायकारीको मारा या अुसकी जायदाद जप्त की और मान लिया कि अमुकका अिन्साफ हुआ तो अुसके कुटुम्बियोंके प्रति तो घातकता ही हो गअी। जो मनुष्य सब सत्त्वोंका आत्यंतिक कल्याण चाहता है वह शायद कोअी प्रत्यक्ष कर्म नहीं कर सकेगा। संकल्पमात्रसे सबका हित चाहेगा और अुसकी संकल्पशक्तिसे सबका भला हो ही जायगा। और न्याय तो क्षमाके द्वारा ही किया जायगा। किसीने सही कहा है कि 'To understand all is to forgive all'। बाह्य कार्यशक्ति अेकांगितासे हो आती है। जो पूर्ण है अुसमें कोअी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। 'पूर्णम् अप्रवर्ति' (कौषितकि ४–४–६)। अिसलिअे 'सर्वभूतहिते रत'

व्यक्तिको नम्रता अपना आत्मबल बढ़ाना चाहिये और अिस तरह अपनी संकल्प शक्ति भी बढ़ानी चाहिये।

सर्वविद् [१५–१९]

√विद् (ज्ञान) जानना।

जो मनुष्य भगवानके स्वरूपको यथार्थ रूपसे जानता है वह सब कुछ जानता है। सब कुछ याना अिस सृष्टिका रहस्य भी वह जानता है और आत्मतत्त्व भी। मैं ही पुरुषोत्तम हूं आत्मा ही परमात्मा है और वही सर्वत्र भरा हुआ है अिस तत्त्वका जिसे साक्षात्कार हुआ वह सर्वविद् यानी सर्वज्ञ है।

सातवें अध्यायके प्रारम्भमें भगवान कहते हैं कि अीश्वर-परायण होकर योगका सेवन करनेसे जो ज्ञान प्राप्त होता है अुसे जाननेके बाद जाननेके लिअे और कुछ बाकी रहता ही नहीं (७–१ २) क्योंकि अुस ज्ञानके द्वारा योगी भगवानको समग्रम् (सम्पूर्ण) और असंशयम् (संशयरहित निश्चित) जान लेता है। सर्वविद्का अर्थ यह नहीं कि भौतिक जगत्की और सब कालकी घटनाअें और सब तथ्य वह जानता है। अथवा रेल्वे टाअिम-टेबलकी सब बातें वह जानता है। जीवनका सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान और रहस्य अुसे प्राप्त होता है अितना ही सर्वविद्का अर्थ है।

सर्वहरो (मृत्यु) [१०–३४]

सर्व + √हृ (हरण) लेना, दूर ले जाना वंचित करना।

अजर अमर अविनाशी असा तो अेक परमात्म-तत्त्व ही है। अुसे छोड़कर बाकी जो कुछ भी है मरणशील है। श्री शंकराचार्य कहते हैं कि सर्वहरमें धनादि हर और प्राण हर असी मृत्युकी दोनों विभूतियां आ जाती हैं। भगवान कहते हैं कि असी सर्वहर मृत्यु मैं ही हूं। अिसीलिअे भगवानको हरि कहते हैं। अथवा परमेश्वर प्रलये सर्वहरणात् सर्वहर। मामूली तौर पर मृत्यु तो किसी किसीको अुठाकर ले जाती है अिसलिअे वह अल्पहर है। भगवान स्वयं प्रलयकालमें समग्र सबका हरण कर लेते हैं। यही वस्तु भगवानने

गीतामें (११–३२) कही है कि म लोकक्षय करनेवाला काल यानी मृत्यु हू।

भगवान जसे स्वय सवहर मृत्यु ह असी तरह भूतमात्रके अुद्भव भी वही हैं (अुद्भवश्च भविष्यताम् १०–३४)।

सर्वारम्भपरित्यागी [१२–१६, १४–२५, १८–४८], अनारम्भात [३–४]

जा जो कम शरीरसे आप ही आप हो जाते ह जसे कि पलकोका चलना नाडीका स्फुरण, श्वासोच्छ्वास, अन्नका पचनक्रिया अित्यादि, वे आरम्भ नही ह। अिनसे बन्धन नहा होता। जा कम अिच्छापूवक सकल्प पूवक किये जाते ह वे अगर स्वार्थसे, लोभसे किये जाय तो व बन्धनकारक ह। अगर काम-सकल्प छोड दिया और कवल लोक-सग्रहके लिअे अथवा जीवनमात्रके लिअे कम किये गये तो ज्ञानाग्निके द्वारा अुनका बन्धन जल जाता है।

जो लोग रजोगुणी होते ह वे लोभी और प्रवृत्ति-परायण होनेसे अुनके कर्मोका आरम्भ काम-सकल्पासे प्रेरित होता है। जो भक्त अथवा गुणातीत होते ह वे काम-सकल्प-युक्त सब आरम्भोका त्याग करते ह। असे तो कममात्र कुछ न कुछ दोप पन्न करते ही ह किन्तु तमाम कर्मोका त्याग नही किया जा सकता है और न करना चाहिये। काम-सकल्प-युक्त कर्मोका ही आरम्भ छोड देना चाहिये। जो कुछ भी कम स्वधम समझकर किया जाता है वह प्रवाह-पतित और प्राप्त कम है अुसे हम काम-सकल्प-शून्य कर सकते ह।

जो भक्त है वह सब आरम्भोका यानी सकाम कर्मोका पूणतया त्याग करता है। अपनी अिच्छाका कोअी काम वह करता ही नहा। जो काम अुसके सामने आता है अुसे भगवानका काम समझकर ही वह करता है। अिसीलिअे वह भी ज्ञानी है। ज्ञानी भक्त अिस तरहसे काम-सकल्प-वर्जित समारम्भ करनेके कारण गुणातीतकी स्थितिको पहुचता है। वह जानता है कि आरम्भ-मात्र दोषयुक्त है जसे कि अग्नि धुअेसे व्याप्त है। अलिप्त रहकर ही वह अुन दोषोंसे बचता है।

सर्वेंद्रियगुणाभासम् [१३–१४] [१३–१४], **सर्वेंद्रियविवर्जितम**

पच ज्ञानेंद्रिय पच कर्मेंद्रिय मन और बुद्धि मिल करके अिंद्रियाका जो समुदाय होता है अुसके गुणाके द्वारा जो भासमान और प्रतीत होता है अुसे सर्वेंद्रियगुणाभासम् कहते ह। किन्तु जो सब अिंद्रियासे रहित है परे है असा परब्रह्म ज्ञेय यानी ज्ञानका विषय है। ब्रह्मको अिंद्रियाकी अुपाधि नही है। अुसे अिंद्रियाके व्यापार नही करन पडते और तो भी अिंद्रियाके गुणोसे मिलनवाला फल अुसे मिल ही जाता है। कानके बिना वह सुनता है आखाके विना देखता है, मनके विना सोचता है अित्यादि (श्वेताश्वतर ३–१९)।

सहजम [१८–४८]

सह=साथ, ज=जन्म हुआ।

सहज यानी जन्मके साथ जो पदा हुआ है अर्थात स्वधम कम।

मनुष्य जब जन्म लेता है तो समाजमें अपना अेक स्थान लेकर ही आता है और विशिष्ट स्वभाव और शक्तिया भी साथ लाता है। अिन्हे पूवजन्मके सस्कार भी मान सकते ह और वशपरम्परासे प्राप्त सस्कार भी कह सकते ह। कसे भी हो ये सस्कार य शक्तिया और य मर्यादाअें जन्मके साथ आनके कारण अुन्हे सहज कहते ह। अिन सहज विशिष्टताआके कारण नियत किया हुआ कम सहज कम है और अुनके कारण निश्चित किया हुआ धम स्वधम है। अिसलिअे सहज-कमको और स्वधमको न तो मनुष्य छोड सकता है और न छोडना चाहिये। अर्थात् पापकम कभी स्वधम या सहज-कम नही माना जा सकता।

प्रजापतिने जब प्रजाआको पदा किया तब अुनके साथ यज्ञको भी पदा किया। अिसलिअे यज्ञ ही सबसे श्रेष्ठ और व्यापक सहज-कम है। अिसलिअे भगवानने साफ कहा है (१८–५) कि यज्ञ दान और तप रूपी कम कभी भी छोडना नही चाहिये वह काय यानी कतव्य कम है। अितना ही नही यज्ञ दान और तप मनुष्यकी चित्तकी शुद्धिके लिअे परम अुपयोगी (पावनानि) ह।

सहयज्ञा प्रजा [३–१०]

विधाताने प्रजाओंका निर्माण करके अुनके साथ साथ यज्ञधर्मको भी निर्माण किया और स्वयं चिन्तामुक्त हो गया। जिस तरह कोओ श्रद्धालु मनुष्य मन्दिर बांधकर अुसके खर्चके लिअे कोओ खेत बांध देता है और स्वयं निश्चिन्त होता है अुसी तरह प्रजाओंकी हस्ती और परम्परा टिकानेके लिअे प्रजापतिने अुन्हें यज्ञधर्म दे दिया और अपनी सृष्टिको स्वावलम्बी स्वयंगतिक बना दिया। जिन्दा मनुष्य अपने पैरोंसे चलता है, मरे हुअे या बीमारको अुठानेके लिअे चार आदमी लाने पड़ते हैं, अुसी तरह यज्ञधर्मका पालन करनेवाली प्रजा स्वावलम्बी और स्वतन्त्र बनती है। यज्ञधर्म छोड़ देनेसे वह निर्माल्य निःसत्त्व और परतन्त्र बनती है। प्राणी-सृष्टि और वनस्पति-सृष्टि प्राणवायु पैदा करनेमें अेक-दूसरे पर निर्भर रहती है। अुनका यह परस्परावलम्बी जीवन (symbiosis) यज्ञ ही है। प्राकृतिक शक्तियां अेक-दूसरेके अूपर निर्भर रहकर ही विश्वचक्रको चलाती हैं। प्राणी-जगत भी यज्ञचक्रके अूपर निर्भर रहकर अपना जीवन कृतार्थ करता है (३–१० से १६)।

संकर [१–४२, ३–२४]

संकर = मिश्रण, व्यवस्थाका अभाव। आर्योंने वर्ण-व्यवस्थाकी स्थापना की और नियम बनाया कि शादियां अपने अपने वर्णमें ही होंगी। किन्तु वर्णान्तर विवाह होते ही जाते थे। अैसे मिश्र विवाहोंको वर्णसंकर विवाह कहते थे। प्रथम प्रथम शायद संकरके प्रति विशेष विरोध रहा होगा। बादमें संकरके अनुलोम और प्रतिलोम अैसे विभाग हुअे। वर्णोंकी प्रतिष्ठा (१) ब्राह्मण (२) क्षत्रिय (३) वैश्य (४) शूद्र अिस क्रमसे घटती है अैसा मानकर अुच्च जातिका मनुष्य अपनेसे नीची जातिकी कन्यासे विवाह करता तो अुसे अनुलोम विवाह कहते थे। अिसके विपरीत अगर कोओ अुतरते वर्णका पुरुष अपनेसे अुच्च वर्णकी कन्याके साथ विवाह करता तो अुस विवाहको प्रतिलोम (against the grain) विवाह कहते थे। शास्त्रकारोंने पहले प्रतिलोम विवाहोंका निषेध किया और अनुलोमको चालू रखा। किन्तु अिससे

अुच्च-नीच भाव अखरने लगा। अिसलिअे अनुलोम विवाहका भी निषेध करना पडा। तथा फिर तो सकरमात्र पापमूलक यानी समाजहित विरोधी माना गया। अैसे ही कालमें समाज-व्यवस्थापक लोगोंने कहा — 'सकरो नरकायव।"

चद लोगोका कहना है कि शास्त्रविधिके अनुसार जो अनुलोम या प्रतिलोम विवाह होते हैं अुन्हें सकर नही कहना चाहिये। जहा विवाह बाह्य स्त्री-पुरुषोका सम्बध होता है वहा पर ही सकर प्रजा पदा होती है और श्राद्ध-सस्कार (पिण्डोदक क्रिया) (१–४२) नष्ट होते हैं तथा पितरोको नरक-वास मिलता है।

[सामान्य तौर पर पाया गया है कि समाजमें कभी कभी असा काल आता है जब सामाजिक स्थिति और आदर्श भदके अनुसार अल अलग जातिया बनानी पडती हैं और जात्यतर विवाह बन्द करने पडते हैं। विशिष्ट गुणोके विकासके लिअे यह पार्थक्य आवश्यक माना गया है।

किन्तु जब अैसे पार्थक्यसे समाजके छोटे छोटे टुकडे बन जाते हैं सघ शक्ति और सहयोग क्षीण होते हैं और भेदके साथ अुच्च नीच भाव आनेके कारण द्वेष मत्सर और विग्रह पदा होते हैं तब समाजके नेता मिश्र विवाहकी सिफारिश करने लगते हैं।]

सकल्पप्रभवान [६–२४]

सम+ √कल्प (सामर्थ्य) योग्य होना सामर्थ्य रखना कल्पना करना।

सकल्पका अर्थ है अिच्छाशक्ति मनका निश्चय विचार कामना। मनमें पहले सकल्प अुठता है बादमें अुसके अनुसार क्रियायें होने लगती हैं। अगर अिन्द्रियोको रोकना है तो मूलमें सकल्पको ही अुठनेसे रोकना चाहिये। यहा सकल्पप्रभवान् शब्द कामानका विशेषण है। सकल्पमें से अुत्पन्न होनेवाले सब कामोका त्याग करके मनको आत्मस्थ बनाना चाहिये। अिसलिअे कहा है जो सर्वसकल्प-सन्यासी (६–४) है वही योगारूढ हो सकता है जो मनुष्य असन्यस्त-सकल्प है (६–२)

वह योगी नहीं बन सकता। जिसे कर्मयोग सिद्ध करना है अुसे अपने सारे समारम्भ यानी कर्म काम-संकल्प-वर्जित करना चाहिये।

संन्यास [५–१, २, ६, ६–२, १८–१, २, ७, ४९]

सम्+नि+√अस् (क्षेपणे) फेंकना। जो कुछ भी माया-जंजाल या आसक्ति अपने पास हो अुसे अेकत्र करके पूर्णतया फेंक देना ही संन्यास है। असे वासनाओं और परिग्रहके बंधनका त्याग करनेसे ही मनुष्य मुक्त हो सकता है।

संन्यासमें सब वस्तुओंका ज्ञानपूर्वक त्याग किया जाता है। कर्मयोगमें केवल फलका और आसक्तिका त्याग किया जाता है। दोनोंका परिणाम अेक ही है।

गीताने अठारहवें अध्यायमें जो त्यागकी मीमांसा की है अुसे समझनेसे संन्यास-योगका रहस्य ध्यानमें आ जाता है। (१८–२ अि०)

सम्पद् [१६–३, ४, ५ और १६वां अध्याय पूरा]

सम्+√पद (गतौ) जाना, पहुंचना। सम्पद्का सामान्य अर्थ होता है धन, दौलत, वैभव, किसी गुणका अुत्कर्ष। किन्तु गीतामें यह शब्द संस्कृति अर्थमें लिया जाता है। [सर्ग शब्दका मूल अर्थ है अुत्पत्ति, किन्तु गीताने भूतसर्ग शब्दमें यही संस्कृतिका भाव भी कुछ डाल दिया है (१६–६)।]

गीताका कहना है कि सात्त्विकी, राजसी और तामसी अिन तीन प्रकृतियोंमें से (९–१२, १३) सात्त्विकी प्रकृति दैवी सम्पद्को पैदा करती है और राजसी आसुरी सम्पद्को।

तमोगुणी राक्षसी प्रवृत्तिमें से विपत्ति ही पैदा होगी।

सम्भावित [२–३४], आत्मसम्भावित [१६–१७]

सम्+√भू (सत्तायाम्, प्राप्तौ अवकल्कने) होना, रहना, पाना, सोचना, शुद्ध करना। सम्भावितका अर्थ है प्रतिष्ठित। समाजमें जिसे आदर मिलता हो, जिसकी प्रतिष्ठा हो अुसे सम्भावित कहते हैं। सम्भावित

लोग मान धन, सत्त्व धन सत्य-सम्पन्न होते ह। अकीर्ति होनेकी अपेक्षा वे मरणको अधिक पसन्द करते ह।

कीर्ति तो लोग देंगे तब मिलती है किन्तु रजोगुणी और आसुरी वृत्तिके लाग अपने ही मनमें अपनी कदर करते हं। अपन ही मनमें मानते ह कि हम सवगुण-सम्पन्न ह। असे अपनको बडा माननवाले लागाको आत्मसम्मानित (१६–१७) कहते ह। फलत वे विनयशून्य बनते ह।

सयम [२–६१, ४–२६, ३९, १०–२९]

सम् + √यम् (अुपरम) रोकना कब्जेमें रखना बद करना अिकट्ठा करना।

सामान्य तौर पर निग्रह और सयमका अथ अक ही है। निग्रह बाहरसे हो सकता है और सयम आन्तरिक होता है।

योगशास्त्रमें धारणा ध्यान और समाधिके समुदायको सयम कहा है।

बिना सयम अिन्द्रियोंके विषय सेवन करनेसे मृत्यु नजदीक आती है। जिसन सयम सिद्ध किया है अुसका मृत्युका डर कम होता है मृत्यु अुससे दूर जाती है। सत्य अहिंसा ब्रह्मचय अस्तेय अपरिग्रह अिन पाचोको यम कहते ह। यमोंके द्वारा सयम सिद्ध होता है। अिसीने कहा है — **यम** सयमितो यन यम तस्य करोति किम ? जिसन आन्तरिक यम सिद्ध किया है अुसका यमराज क्या बिगाड सकता है ?

दुर्दान्त वासनाओंका सयम करना और काम विकारका धमके अकुशमें रखना यही है सस्कृतिका सव-सामान्य स्वरूप। सत्य अहिंसा और सयम अथवा तप ये ही सस्कृतिकी बुनियादके तत्त्व ह।

सवत्त [११–५१]

सम् + √वृत (वतन) रहना जीना। सवृत्तका अथ है स्वस्थ हुआ। अजुन कहता है कि अद्भुत विश्व-दशन करके म हर्षित और व्यथित हो गया था। अब तुम्हारा सौम्य रूप देखकर सवृत्त यानी स्वस्थ हो गया हू।

सशय [४–४२, ६–३९, ८–५, १०–७, १२–८], **सशयात्मा** [४–४०]

सशयका अथ है शका अनिश्चय, सकट, अश्रद्धा। [किसाने कहा है कि हृदयमें सशयका स्थान देनेकी अपेक्षा बन्दूकको गोली रहने दना बेहतर है। गीता कहती है कि सशयालु मनुष्यका नाश होता है — सशयात्मा विनश्यति ४–४०।]

गीता यह नहा कहती है कि सशय टालनेके लिअे अधश्रद्धा रखनी चाहिये या जिज्ञासाको दबाना चाहिये। अगर मनमें सशय पदा हुआ तो अुसे दूर ही करना चाहिये क्योंकि सशयात्माको न सुख रहता है और न अिस लोककी सफलता मिलती है। फिर परलोककी तो बात ही क्या है (४–४०)? सशयशील मनुष्य दुर्दैवी तो होता ही है किन्तु मनमें सशय रखकर चलना तो सामाजिक और आध्यात्मिक गुनाह भी है। श्री शकराचाय कहते ह— "सशयात्मा तु पापिष्ठ सर्वेषाम।"

सस्पर्शजा [५–२२]

विषयेन्द्रिय-सयोगसे होनेवाले। (मात्रास्पर्श शब्द देखिये।)

सात्त्विक [७–१२, १४–१६, १७–४, ११, २०, १८–९, २०, २३, २६, ३७], **सात्त्विकी** [१७–२, १८–३०, ३३]

अन्तर बाह्य सष्टिमें सत्त्व, रजस् और तमस अिन तीन गुणोंका ही विस्तार है। यह आविष्कार साख्योंने किया है। अिस सिद्धान्तका पूरा पूरा विस्तार भगवानने ही गीतामें सव प्रथम किया दीख पडता है। ज्ञानयुक्त जो गुण है वह सत्त्व है, जिसमें ज्ञानका करीब करीब अभाव है वह तमोगुण है और दोनोंके कम या ज्यादा अनुपातसे हुअे मिश्रणको रजोगुण होता है। रजोगुणमें अनेक प्रकार पाये जाते ह।

असे तो केवल अेक ही गुणवाला सत्त्व होता ही नही। जो गुण दूसरे दोनों गुणोंको दबाकर बडा हुआ दीख पडता है अुसीको नाम अुसे दिया जाता है (१४–१०)। रजस और तमसको

दबाकर जब सत्त्व सामने आता है तब अुस गुणवाले मनुष्यको सात्त्विक कहते हैं। सत्त्वगुणमें ज्ञान प्रकाश शान्ति सन्तोष परोपकार, अहिंसा आदि सब शुभ गुण होते हैं।

साम्येन [६–३३], साम्ययोग, समबुद्धि [६–९]

मनुष्य जब कर्म करता है तब अुसके फलके प्रति अुसका कुछ न कुछ कम या ज्यादा अधिकार रहता ही है। किन्तु गीता कहती है कि वह अधिकार ही बन्धनको पैदा करता है अिसलिअे अुसे छोड़ दो। फलका अधिकार छोड़नेसे कर्ता बन्धनमुक्त होता है समाज सुखी होता है और मनुष्य-जातिका चारित्र्य अूंचा अुठता है। फलका खयाल छोड़नेसे समता प्राप्त होती है और कर्मकी कुशलता भी आती है। अिसीको साम्ययोग कहते हैं। साम्ययोगमें आप-पर भाव नष्ट करनेकी बात है। साम्ययोगी पक्षपात रहित सबका हित चाहता है। अुसके स्वभावमें कानूनकी कठोर न्यायनिष्ठा नहीं किन्तु सबहितकारी कल्याणमयी प्रेममूलक न्यायनिष्ठा प्रगट होती है। समाजका सच्चा कल्याण अिसमें है कि अस साम्ययोगियोंकी संख्या समाजमें बढ़े और सर्वसामान्य वायुमंडल भी साम्ययोगके अनुकूल हो।

साम्यवादके द्वारा सम्पत्तिमें समानता लानेसे और राज्यसत्तामें सबका समान अधिकार रखनेसे आजके कुछ सामाजिक दुःख दूर होंगे सही किन्तु नये दुःख पैदा नहीं होंगे अिसका कोअी विश्वास नहीं दिला सकता है। साम्ययोगके वायुमंडलसे ही जन-समाजका कल्याण होनेवाला है। शायद साम्ययोग और साम्यवाद दोनोंके सहयोगसे सतयुगकी स्थापना हो सकेगी।

अर्जुनने साम्ययोगका नाम नहीं लिया किन्तु वह कहता है कि साम्य जिसमें प्रधान है असा जो योग आपने कहा है अुसे सिद्ध करना अुसमें स्थिर होना मैं कठिन देखता हूं। ज्ञानकी निष्ठा पूर्ण होने पर यह साम्य-अवस्था आती है जिसमें (१) सुख-दुःख लाभ अलाभ दोनोंकी ओर चित्तवृत्ति समान रहती है (२) आप और पर स्वकीय और परकीय साधु और असाधु दोनोंकी ओर अेक ही हितकारिणी दृष्टि रहती है और (३) शुभ और अशुभ जो कुछ भी

कर्तव्य सामने आ पड़े दोनोंके प्रति अेकसा अुदासीन भाव, शुभाशुभ परित्यागिता आ जाती है।

साख्ययोगी [३–३, ५–४]

साख्य और योग ये दो हमारे प्रधान दर्शन है। गीताके टीकाकार कभी कभी साख्य और योगमें परस्पर विरोध मानते है हालांकि गीताने चिढकर कहा है कि अज्ञान लोग ही अैसा भेद बताते है जानकार लोग दोनोको अेक ही समझते है (५–४, ५)।

असली बात यह है कि साख्यकी भूमिका अलग है और योगकी भूमिका अलग। दोनो अेक-दूसरेके पूरक है। साख्याने अपनी व्यवस्थामें अीश्वरको माननेकी आवश्यकता नही देखी किन्तु अुन्होंने अीश्वरका अिनकार भी तो नही किया। अगर साख्य-तत्वज्ञान कहता कि अीश्वर केवल भ्रममात्र है, अुसे नही मानना चाहिये तब तो अुसमें और ज्ञानयोगमें विरोध आता।

योगमें साख्यकी व्यवस्थाका स्वीकार करके अुसके आधार पर चित्तवृत्ति निरोधका और अीश्वरके साथ जुड जानेका असली मार्ग बताया है। अेक है तत्त्वज्ञानका विभाग और दूसरा है साधनाका विभाग।

ज्ञानयोग और कर्मयोगमें भी विरोध माननेका कारण नही। अेक ही स्थान पर पहुचनेके ये दो परस्पर पोषक मार्ग हैं। अपनी प्रकृतिके अनुसार दोमें से किसी अेक पर ज्यादा भार देनेकी बात है।

कर्मयोगीको अपने योगके लिअे ज्ञानके बिना चलता ही नही और ज्ञानी भी कर्म-साधनाके बिना ज्ञानका साक्षात्कार नही कर सकता। शायद वह साधनाके कर्मको कर्म न कहकर कुछ दूसरा नाम देगा।

सिद्धि [३–४, ४–१२, २२, ७–३, १२–१०, १४–१, १६–२३, १८–१३, ४५, ४६, ५०]

√सिद्ध (ससिद्धौ) पहुचना कामयाब होना, सिद्धि हासिल करना।

गीतामें सिद्धि प्रधानतया योगकी सिद्धि है अथवा ज्ञान सिद्धि — जीवन सिद्धि। कर्मकी सिद्धि भी गीतामें आयी है, अर्थात् कर्मकी

सिद्धि नामसे परिसमाप्त होता है जिसे नैष्कर्म्य सिद्धि भी कहते हैं। सिद्धि यानी फल प्राप्ति।

अठारहवें अध्यायमें गीतार्थ निरूपण रूप जो १०–१५ श्लोक दिये हैं (१८–५० से ६६) वे नित्य पठन लायक हैं। क्योंकि उनमें सिद्धि प्राप्त होने पर मनुष्यकी कैसी हालत होती है यह संक्षेपमें किन्तु पूर्णतया बताया है।

सुखदुःख [२–१४, १५, ३८ ६–७, १२–१३, १८, १३–२०, १४–२४, १५–५]

√सुख् (सुखक्रियायाम्) प्रसन्न करना।

√दु (अुपताप) जलाना, कष्ट देना अथवा दुष्टम् खनति जिति दुःखम्—जो प्रतिकूल ढंगसे खोदता है।

मनुष्यके सबसे व्यापक और सार्वभौम अनुभव ये दो ही हैं—सुख और दुःख। 'अनुकूलवेदनीयम् सुखम्' 'प्रतिकूलवेदनीयम् दुःखम्'। जिसका अनुभव अनुकूल होता है, जिष्ट होता है, जिसे हम स्वभावतः चाहते हैं वह सुख है। 'अनुग्रह-लक्षणम् सुखम्, अनागतेषु संकल्पजम्'। जिष्ट विषयकी प्राप्तिके साथ तो सुख होता ही है, परंतु विषय प्राप्त न होने पर भी केवल अुसके स्मरणसे भी सुख होता है। नव्यायिकोंने सुखके चार विभाग बताये हैं—(१) वैषयिकम् (२) आभिमानिकम् (३) मानोरथिकम् और (४) आभ्यासिकम्। विषयोंका संपर्क या संस्पर्श यानी साक्षात्कार होनेसे जो सुख पैदा होता है वह पहला सुख है। दूसरा अधिकार, पांडित्य वनिता आदिके अभिमानसे होता है। तीसरा विषयोंके केवल ध्यानसे होता है। और जो क्रिया प्रथम तो कष्टप्रद मालूम होती है किन्तु आदत पड़ जानेसे जो सहज सुकर और सुखकर होती है—जैसे दण्ड बैठक या सूर्यनमस्कार आदि—वह आभ्यासिकम् है।

तत्त्वज्ञ देखते हैं कि जिसे हम सुख कहते हैं अुसके भी परिणाम दुःखकर होते हैं। जिसलिअे भगवान पतञ्जलि कहते हैं—'दुःखमेव सर्वम् विवेकिनः'—जो समझदार मनुष्य है अुसके लिअे सब दुःख

रूप ही है। मनुष्यका अनुभव कहता है कि अिन्द्रियां जिसे सुखकर बताती हैं, वह हितकर होता ही है अैसा अनुभव नहीं है और जिन्हें दुःखकर बताती हैं वे सब चीजें नुकसानदेह हैं अैसा भी नहीं है। अिसलिअे नाती मनुष्यको कभी भी सुख-दुःखकी प्रेरणाके अनुसार नहीं चलना चाहिये।

नैतिक क्षेत्रमें तो सुख-दुःख हमारे नियन्ता हो ही नहीं सकते किन्तु शरीरके हित-अनहितमें भी सुख-दुःखकी प्रेरणा हमेशा कामकी नहीं होती। जीभ जिसे पसन्द करती है वह स्वास्थ्यकर होना ही है अैसा अैकान्तिक अनुभव नहीं है। जीभ जिसका अिनकार करती है वह स्वास्थ्यके लिअे हानिकर है ही, अैसा भी निश्चय नहीं हो सकता।

अिसलिअे सुख और दुःखकी सूचना और प्रेरणाकी ओर अुदासीन ही रहना चाहिये। यही गीताका साम्ययोग है। जो हितकर है वही हम करें, अुससे सुख मिले तो अुसका स्वीकार हम करें। किन्तु सुखके कारण अुसकी मात्रा हम न बढ़ावें। अुल्टा सुखका आकर्षण वश हुआ देखते ही चेतकर सतर्क रहें। अिसी प्रकार विरुद्ध दिशामें दुःखके बारेमें भी समझना चाहिये और चलना चाहिये। अिसीमें मनुष्य-जीवनकी प्रतिष्ठा है। जो मनुष्य अन्धा बनकर सुख-दुःखके वश हो जाता है वह दुनियाके सामने और अपनी बुद्धिके सामने भी अप्रतिष्ठित, तुच्छ और हीन हो जाता है। अिसीलिअे गीताने बार-बार कहा है कि सुख और दुःखके प्रति समान भावसे अुदासीन रहो।

सुकृतदुष्कृते [२–५०]

अच्छे और बुरे कर्म। सामाजिक जीवन अथवा धार्मिक-नैतिक जीवन पुण्य और पापकी कल्पना पर निर्भर है। जिसमें आत्माका विकास है और समाजकी अुन्नति है अुसे पुण्य अथवा सत्कर्म कहते हैं। जिस कर्मसे आत्माका संकोच होता है, अवनति होती है, समाजका स्वास्थ्य टूट जाता है, धर्म नष्ट होती है वह दुष्कर्म अथवा दुष्कृति है। जो कर्म अथवा वासना मनुष्यका पात करनेवाली है वह पातक है। जो लोग पापी हैं अुन्हें दुष्कृत (४–८) अथवा दुष्कृति (७–१५) कहते हैं।

साम्ययोगी अपने सामने आनेवाले सुकृत और दुष्कृत दोनोंके प्रति अविचलित भावसे तटस्थ रहता है (Beyond Good and Evil) ऐसा अुसका वर्णन किया है।

[सुकृत शब्दका व्यापक अर्थ लेना चाहिये। अुपनिषदमें ऐक कथा है कि जब आत्माने अिन्द्रियां तैयार कीं तब अिन देवताओंने अपने लिये आत्मासे ऐक स्थान मांगा। आत्माने अुन्हें पहले ऐक गाय दी। अुससे अुनको सन्तोष नहीं हुआ। फिर ऐक घोड़ा दिया। जब अुससे भी अुन्हें सन्तोष नहीं हुआ तब पुरुष (मानवी शरीर) दे दिया। तब अिन्द्रियां कहने लगीं कि यह अच्छा किया — 'सुकृतम् बत'। तबसे पुरुषको सुकृत कहने लगे।

मानवी शरीरको अिसलिये सुकृत कहते हैं कि मनुष्यको ही भले-बुरेका खयाल है। अिस शरीरके द्वारा ही वह आध्यात्मिक साधना करता है, साथ साथ वह बुरे कर्म भी कर सकता है। साधना पूरी होने पर साधनाका साधन यह शरीर छोड़ा जा सकता है।

और ऐक जगह पर आत्माको ही सुकृत कहा है। वहां पर भी आत्माका अर्थ शरीर ही होगा।]

सुदुराचार [९–३०]

अिसका अर्थ होता है अत्यन्त दुराचारी। यहां 'सु' केवल अतिशयता दिखाता है। जो मनुष्य आत्माको भूल जाता है, शरीरकी प्रेरणाके वश होता है और समाजद्रोह करता है वह दुराचारी बनता है। किन्तु जब वह अीश्वरकी ओर मुड़ता है तब अुसका निश्चय, संकल्प सुधर जाता है और फिर तो अुसे साधु ही समझना चाहिये। दिन पर दिन अुसका संकल्प अुसका आचार सुधरता जाता है।

किसी तन्दुरुस्त आदमीका शरीर जब बिगड़ने लगता है तब अूपर अूपरसे वह अच्छा दिख पड़े और अुसमें काफी शक्ति भी हो तो भी अुसे रोगी ही कहना चाहिये। अिसके विपरीत अगर कोअी रोगी शरीरसे क्षीण हो, निर्बल हो किन्तु दवा लेकर रोगमुक्त हो गया है

और दिन पर दिन अुसका शरीर सुधरता हो तो क्षीण होते हुअे भी अुसे निरोगी कहना चाहिये।

यही नियम सदाचार दुराचारके लिअे लागू है।

सुहृन मित्र अरि-अुदासीन-मध्यस्थ द्वेष्य-बन्धु [६–९]

सुहृतका अर्थ है अनुकूल है हृदय जिसका अर्थात् हितेच्छु। प्रत्युपकारकी अपेक्षा रखे बिना जो अुपकार करता है वह है सुहृद।

सामान्यतया जो स्नेह रखता है भला चाहता है वह मित्र है। √मिद (स्नेहने)।

अरि=शत्रु। अुदासीन=तटस्थ (दंगलमें या अखाडेमें न अुतरा हुआ) न किसीके पक्षका।

मध्यस्थ=लडनेवाले दोनों पक्षोंका हित चाहनेवाला और दोनोंकी सन्धि करनेकी कोशिश करनेवाला।

द्वेष्य=वह जिसके प्रति हमारे मनमें नफरत हो।

बन्धु=रिश्तेदार सगा-सम्बन्धी।

योगी समबुद्धि होनेके कारण अूपरके सबके साथ तथा साधु और पापी आदि सबके प्रति समान भाव रखता है। किसीके प्रति पक्षपात नहीं दिखाता है। वही सचमुच श्रेष्ठ है।

सृती [८–२७]

√सृ–जाना दौडना, फैलना। सृति=मार्ग, सृष्टि=जन्म।

गीताने जीवात्माके लिअे दो मार्ग बताये हैं — अेक सफेद है और दूसरा काला। काले रास्तेसे बार-बार जन्म लेना पडता है। सफेद रास्तेसे मोक्ष मिलता है फिर आना नहीं पडता। अिसी धातु परसे संसृति=संसार शब्द आया है।

(शुक्लकृष्णे गती शब्द देखिये। ८–२६)

स्तब्ध [१६–१७, १८–२८]

√स्तम्भ् (रोधने धारणे च)। स्तब्धका अर्थ है अक्कड नम्रता रहित अभिमानी, निष्करुण। आसुरी सम्पत्तिके लोगोंमें यह वृत्ति अभिमानके कारण आती है।

स्तेन [३–१२]

√स्तन (चौर्ये) चोरी करना। अिस परसे स्तेनका अर्थ है चोर। जो मनुष्य असामाजिक वृत्तिका है सामाजिक अुत्तरदायित्वको नहीं पहिचानता और अपने स्वार्थका ही खयाल करता है वह चोर ही है। देवोंकी (प्राकृतिक शक्तियोंकी) कृपासे जो भोग मिलते हैं अुनके बदलेमें जो मनुष्य देवोंका हविर्भाग नहीं देता है वह चोर है। ('यज्ञ' और 'हवि' शब्द भी देखिये। ४–२४)

स्थितप्रज्ञ [२–५३ से ७२] **स्थितधी** २–५४, ५६], **स्थिरबुद्धि** [५–२०], **स्थिरमति** [१२–१९], **स्थैर्यम्** १३–७

स्थिरस्य भावः स्थैर्यम् = दृढता।

√स्था (गतिनिवृत्तौ) + अिर।

गीताने स्थैर्यको ज्ञानके लक्षणोंमें स्थान दिया है। चंचलतासे न कोओ काम हो सकता है न कोओ प्रगति। मोक्षमार्गमें तो अत्यन्त दृढता और असाधारण संकल्प-सामर्थ्यकी आवश्यकता है।

गीतामें आदर्श पुरुषके वर्णन स्थान स्थान पर दिये गये हैं। स्थितप्रज्ञ बुध ज्ञानी पण्डित धीर भक्त गुणातीत योगी ब्रह्मभूत मनीषी सिद्धिम् प्राप्त अित्यादि अनेक नाम हैं। अिनके लक्षणोंमें थोडा थोडा फर्क है किन्तु सब मिलकर अेक ही आदर्श पुरुष होता है। अूपर बताये भिन्न भिन्न नाम गीताके आदर्श पुरुषकी विभूतिके भिन्न भिन्न पहलू हैं। अिन सब पहलुओंमें स्थितप्रज्ञका नाम सबसे प्रथम आता है।

श्री शंकराचार्य कहते हैं कि अध्यात्म मार्गमें सिद्ध पुरुषोंके जो लक्षण बताये जाते हैं वे ही साधकके साधनाके तत्त्व होते हैं।

सर्वत्र अेव हि अध्यात्मशास्त्रे कृतार्थलक्षणानि यानि तानि अेव साधनानि अुपदिश्यन्ते यत्नसाध्यत्वात्। यानि यत्नसाध्यानि साधनानि तानि च भवन्ति लक्षणानि।

अिस तरह भगवानने स्थितप्रज्ञ कैसा होता है अिसका वर्णन करके साधक स्थितप्रज्ञ बननेके लिअे क्या क्या करना चाहिये वह सब सविस्तार बताया है।

अिन श्लोकोंका आश्रमकी सायं प्रार्थनामें चलाकर गांधीजीने आजकलके साधक भारतका अिनकी ओर विशेष ध्यान खींचा है।

मनुष्यके जीवनमें अिन्द्रियां अुस अपने अपने विषयोंकी ओर खींचती हैं। अुनके वश होनेसे मनुष्यका शरीर क्षीण तो होता ही है अिन्द्रियोंकी शक्ति मन्द होती ही है, किन्तु जिससे बड़ा नुकसान यह होता है कि जीवनरूपी नौकाकी पतवार जो बुद्धि है वही भ्रष्ट हो जाती है। अिस हानिको टालनेके लिअे भगवानने बताया है कि सकाम वृत्ति छोड़कर साम्य समाधिमें बुद्धिका अचल स्थिर बनाना चाहिये (२–५३)।

अिस अुपदेशका महत्त्व ध्यानमें आनेके कारण अर्जुनने भगवानसे कहा कि आपके स्थितप्रज्ञकी केवल व्याख्या मुझे नहीं चाहिये। योग और समाधि प्राप्त कर जो स्थितप्रज्ञ होता है अुसका रहन-सहन चाल-चलन कैसा होता है अुसकी बातें कैसी होती हैं यह सब मेरे सामने चित्रके समान स्पष्ट कीजिये। गीतामें स्थितप्रज्ञका नाम प्रथम अर्जुनके ही प्रश्नमें आया है।

भगवानके परमप्रिय आत्मार्थी शिष्य अर्जुनने साधकोंके लिअे यह नाम दिया है।

स्थितप्रज्ञका अर्थ है आत्मनि स्थिता प्रतिष्ठिता प्रज्ञा बुद्धि यस्य सः — जिसकी बुद्धि 'मैं आत्मा हूं भूतसंघ नहीं' असी भावनामें स्थिर हो चुकी है, दृढ़ हुअी है वह स्थितप्रज्ञ है।

अब भगवान अुसके सिद्ध हुअे स्वभावका वर्णन करते हैं। दुनियाके लोग धन अैश्वर्य अधिकार और अुपभोगोंके पीछे दौड़ते हैं। स्थितप्रज्ञ मनमें अुठनेवाली अिन सब कामनाओंको फेंक देता है। फलतः असा मनुष्य न किसीसे डरता है न किसीके वशमें आता है।

वह 'स्वात्मनि संतुष्ट' होनेके कारण अुसे न कोअी खरीद सकता है न धमका सकता है।

वेदान्तमें दुनियवी आकर्षण अथवा वासनाके तीन प्रकार बताये हैं वित्तैषणा लोकैषणा, पुत्रैषणा। धन-अधिकारकी अिच्छाको वित्तैषणा कहते हैं। अपना जीवन अपने शरीरसे, अपनी आयुसे अधिक बढ़ जाय कीर्ति और प्रभावके रूपमें हमारा जीवन देश और कालमें व्यापक बन

जाय अैसी अिच्छाको लोकैषणा कहते हैं। महाभारतकी कथामें कीर्ति-षणाका विस्तार कितना हो सकता है अिसका अुल्लेख किया है।

तीसरी अेषणा होती है पुत्रैषणा। अिन अेषणाके अन्दर [illegible] दैन्य [illegible] अुनको अपना स्वभाव अपना आदर्श और धन-प्रतिष्ठा अपनी कैफियत देकर अुन्हें अपने संस्कारोंसे सम्पन्न करके अुनके द्वारा जीनेकी और (मरणके बाद होता हुआ भी) मरण पर विजय पानेकी और अिस तरह अमर होनेकी कामना होती है। अिन तीन प्रकारकी वासनाओंसे जो मुक्त हुआ वही आत्मनि तुष्ट होगा।

अैसा जीवनमें रहते सुख-दुःखके प्रसंग तो आ ही जायेंगे। सुख प्राप्त होने पर अुसके प्रति अनुराग होना, अुसका लालच बढ़ना और दुःख आने पर अुससे भय खाना और अुसके प्रति मनमें क्रोध लाना यह मनुष्यका स्वभाव है। किन्तु स्थितप्रज्ञ अिनसे अूपर अुठता है। अनुराग, भय, क्रोध वह छोड़ देता है। दुःख आने पर भी वह अुद्विग्न नहीं होता, सुख पाने पर वह लालचमें नहीं फंसता। अिसीलिये अुसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं।

जिस तरह किसी राजाको कोअी छोटीसी वस्तु भेंट दी जाय तो वह आपेसे बाहर जाकर हर्ष-पुलकित नहीं होता, अुसी तरह आत्माका वैभव और स्वानन्द-साम्राज्य जिसने पहचान लिया वह किसी शुभ अथवा अिष्ट वस्तुकी प्राप्तिसे गद्गद् होकर अुसका अभिनन्दन नहीं करेगा और आत्मवीर होनेके कारण वह अनिष्ट अशुभ वस्तु आ पड़ने पर अुससे दब नहीं जायगा और अुसका द्वेष नहीं करेगा। हर्ष और विषादके कारण बुद्धि मन्द होती है। दोनोंसे जो मुक्त है अैसे आत्मवीरकी प्रज्ञा स्थिर प्रतिष्ठित रहेगी।

हमारे शास्त्रकारोंने कछुअेके दृष्टान्तसे दो काम लिये हैं। कछुअेका दृष्टान्त भगवानको भी दिया जाता है और अुसके भक्तोंको भी। कहा जाता है कि कछुअी अपने बच्चोंको खिलाती पिलाती नहीं है। केवल जहां कहीं भी हो वह अपने बच्चोंकी ओर प्रेमदृष्टिसे देखती है और अुसकी दृष्टिके अमृतसे ही बच्चोंको पोषण मिलता है। भगवान अिसी कूर्मदृष्टिसे ही अपने भक्तोंका पालन करते हैं।

भक्ताके लिअे भी कछुअेका दृष्टान्त दिया जाता है। तनिक भी खतरा दीख पड़ा तो कछुआ अपने हाथ-पैर और सिर अंदर खींचकर अपनी पीठरूपी ढालके अन्दर सुरक्षित हो जाता है। यह सबकी देखी हुआी बात है। अुसी तरह जब अिन्द्रियोंको फसानेके लिअे विषय नजदीक आते हैं तब हमारा यह साधक प्रमादमें न फसकर अपनी अिन्द्रियोंको खींच लेता है और अिस तरहसे सुरक्षित रहता है। किन्तु यह हुआी बाह्य सुरक्षितता। अिससे आदमी सचमुच बच नहीं जाता। विषयोंका केवल सेवन नहीं करनेसे वे दूर होते हैं सही, किन्तु अुनकी चाह नष्ट नहीं होती। वह तो बीज जैसे बारिशकी राह देखते हैं वैसे राह देखती पड़ी रहती है। आत्म-दर्शन होने पर ही वह चाह सूख जाती है या जल जाती है।

अिसके बाद अिन्द्रियोंका आक्रमण कैसे होता है, सूक्ष्म अधःपातमें स्थूल अधःपात कैसे बढ़ता है, यह सब पतनका क्रम बताकर भगवान कहते हैं कि सब अनर्थका मूल कारण है विषयोंका ध्यान। अुसे छोड़नेसे बुद्धिमें स्वास्थ्य प्रसन्नता, निर्मलता यानी प्रसाद आता है, और असे प्रसादसे ही बुद्धि साफ होती है। बिना योगके यह साध्य नहीं है। संयम और योग जागृति और सतत प्रयत्नके द्वारा आत्म-दर्शन किया, तो मनुष्यकी स्थिति समुद्रके समान गंभीर होती है। सब नदियोंके जल भर कर लाने पर भी समुद्रमें बाढ़ नहीं आती और बारह मास सूर्यके तपनेसे समुद्र सूख नहीं जाता। जो कामकामी है अुसे असी सागर शान्ति नहीं मिलती, जो आत्मतृप्त है निःस्पृह निर्मम निरहंकार है अुसीको शान्तिका स्वराज्य मिलता है। अुसकी अुस भव्य स्थितिको ब्राह्मी स्थिति कहा है क्योंकि देह छोड़ने पर वह सीधा ब्रह्मरूपमें ही लीन हो जाता है।

अेक प्रज्ञाको शुद्ध, जाग्रत और स्थिर रखनेसे यह सारा वैभव प्राप्त होता है।

स्थिरा हृद्या [१७-८]

सात्त्विक आहारके लक्षण बतानेवाले जो शब्द आये हैं अुनमें रम्य स्निग्ध तो स्पष्ट हैं। जिनमें रस है जैसे फलोंमें होता है और जो

स्वादिष्ट होते हैं अुन्हें रस्य कहा है। जिन पदार्थोंमें तेल घी आदि पौष्टिक तत्त्व हैं अुन्हें स्निग्ध कहा है। स्नेह यानी तेल अथवा घी। हृद्य यानी हृदयको संतोष देनेवाले और आरोग्यके लिअे हितकर। स्थिरका अर्थ होता है कायमी पुष्टि और प्राण बढानेवाले। संस्कृतमें मिर्च आदिके तीखे स्वादको कटु कहते हैं। भाषामें कटु कहते हैं कडुअेको। जितना भेद ध्यानमें रखना चाहिये। (हृद्य शब्द भी देख लीजिये।)

स्पर्श [२–१४ ५–२२ २७]

√स्पृश (संस्पर्शने) स्पर्श करना सम्बन्ध होना।

जब अिन्द्रियां अपने अपने विषयोंके सम्पर्कमें आती हैं विषयोंका स्पर्श करती हैं तब अुन्हें जो अनुभव होता है वह या तो सुखदायक होता है या दुःखदायक।

स्पृहा [४–१४ १४–१२]

√स्पृह (अीप्सायाम्) चाहना लालच रखना।

स्पृहाका अर्थ है सर्वसामान्य वस्तु विषय तृष्णा लालसा। लाभकी ही यह अेक रूप है। जो कर्म करता है अुसे अुसका कम ज्यादा फल मिलता है। अुसके बारेमें तटस्थ रहना मनुष्यको शोभा देता है। फलकी वासना ही छोड देना मोक्षका मार्ग है। कर्मफलके लिअे तथा अुससे अधिक लाभके लिअे लालायित रहना (जिसे स्पृहा कहते हैं) मनुष्यको अेकदम नीचे गिराता है। अैसी स्पृहाके कारण रजोगुणी मनुष्य बहुत कुछ पुरुषार्थ करने पर भी अूंचा नहीं चढता।

स्मृति [१०–३४ १५–१५ १८–७३] **स्मृतिभ्रंश** [२–६३] **स्मृतिविभ्रम** [२–६३]

√स्मृ (चिन्तायाम्) याद रखना मनमें लाना। स्मृतिमें ज्ञानकी अभिव्यक्ति और अन्तःकरणकी जागृति दोनों बातें आती हैं। मनुष्यने जो कुछ भी देखा है सुना है अथवा अनुभव किया है अुसे वह पूर्णतया

कभी भूल ही नहीं सकता। जिस तरह अपनी स्मरण-शक्ति पर पूर्ण विश्वास नहीं रखा जाता, असी तरह विस्मरण-शक्ति पर भी विश्वास रखना कठिन है। कभी कभी देखनेमें पुरानी बात अचानक याद आ जाती है जिसे हम मानते थे कि मनसे हमेशाके लिअे चली गअी है। कहते हैं कि मरणके समय मन जितनी अुत्कटतासे सारे जीवनकी समालोचना करता है कि बचपनसे हुअे सबके सब प्रधान अनुभव जाग्रत हो जाते हैं। अिसीलिअे शास्त्रकार कहते हैं — 'अन्ते मतिः सा गतिः।' भले-बुरे सब संस्कारोंका अेकत्र स्मरण होनेके बाद जो संस्कार प्रभावशाली हों अुन्हींका सार साथ लेकर मनुष्य जिस जन्मको छोड़ता होगा और वही सार अुसके नये जन्मकी पूंजी या मर्यादा होती होगी।

यह हुआ स्मृतिका सार्वभौम रूप। अब विस्मृति अुसे कहते हैं कि जब मौका आ पड़ने पर वस्तुओंका स्मरण नहीं होता। जो लोग मनको अेकाग्र कर सकते हैं अुनकी स्मृति तेज रहती है। जो लोग निःस्पृह रहते हैं अुनकी स्मृति भी शुद्ध रहती है। जो मनुष्य कामुक है, लोभी है या क्रोधसे अंधा हुआ है अुसकी स्मृति तो अुसे छोड़ ही जाती है किन्तु अुसके अन्तःकरणकी जागृति भी अुसे छोड़ जाती है। फिर वह न करने लायक काम भी कर बैठता है और करनेके काम मौके पर भूल जाता है। फलतः अुसका आत्मविश्वास और आत्म-सम्मान दोनों नष्ट होते हैं। अिस स्थितिको स्मृतिभ्रंश या स्मृति विभ्रम कहते हैं। अिससे बुद्धिका नाश होता है और बुद्धिनाशका ही अर्थ है सर्वनाश।

स्वकर्मनिरत [१८–४५]

स्वधर्मका जिसे शुद्ध भान है वह समय समय पर अपना स्वकर्म तुरन्त पहिचान लेता है और बिना किसी प्रमादके अुसीको करता है। अब कर्मका सिद्धान्त है कि कर्तव्य प्राप्त स्वकर्म न करनेसे मनुष्य गिरता है और स्वकर्म छोड़कर जो अन्य कर्म करता है वह भी बंधनमें आ पड़ता है। अेकमें कर्तव्य-च्युतिका दोष आता है और

दूसरेमें आरम्भका दोष या सकामताका दोष। अिन दोनों दोषोंसे मुक्त हरअेक मनुष्यका अुचित कर्म वर्ण और आश्रमके अनुसार निश्चित किया गया है। अुस अपने स्वकर्ममें अभिरत मनुष्यको जीवन सिद्धि मिलती है क्योंकि मनुष्य चाहे तो अुस कर्मको भी भगवानकी अभ्यर्चना बना सकता है (१८-४५ ४६)।

सकाम वृत्तिसे कर्म करनेसे बंधन पैदा होता है। कर्मफलके त्यागसे कर्मके स्वाभाविक दोषसे भी हम मुक्त होते हैं। लेकिन फलत्यागके अुपरान्त अगर स्वकर्म भी हम भगवानकी पूजाके रूपमें करते हैं तो वह अुत्तम फल देता है। भक्तिकी वृद्धि होती है और ज्ञाननिष्ठाकी सिद्धिका भी मनुष्य अधिकारी होता है।

स्वजन [१-२८, ३१ ३७, ४५]

स्वजनका अर्थ है रिश्तेदार कुटुम्बीजन अपने घरके लोग।

अर्जुनके मनमें सर्वसाधारण युद्धविरोधी वृत्ति नहीं थी वह अहिंसासे प्रेरित नहीं हुआ था। अपने कुटुम्बीजन और गुरुजन ही युद्ध करनेके लिअे अुपस्थित हुअे हैं (१-२६ २७) यह देखकर अुसके मनमें कृपा पैदा हुअी। स्वजन-वात्सल्यके कारण वह युद्धविमुख होना चाहता था। भगवानने अुसे समझाया कि जो ज्ञानी हैं योगी हैं, पक्षपात रहित हैं वे स्वजन-परजनका भेद नहीं करते।

अयम् निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
अुदारचरितानाम् तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

यह आदमी अपना है यह पराया है असे हिसाब ओछे लोग ही रखते हैं। छोटे मनके लोग ही आप-पर भाव मनमें लाते हैं। किन्तु जो अुदार हृदय हैं, जिनका चरित्र अुदार है महान है अुनके लिअे यह सारी पृथ्वी भी अेक छोटासा कुटुम्ब दिख पड़ता है। [संस्कृतमें शत्रुके लिअे अेक शब्द है सपत्न (११-३४) जिसका असली अर्थ है विमाताका पुत्र। हमारे शत्रु भी हमारे भाअी ही हैं अिसलिअे अुनसे झगड़ा हुआ तो भी यह भूलना नहीं चाहिये कि वे हमारे भाअी ही हैं। अुनका नाश या अहित नहीं करना चाहिये।]

स्वधर्म [३–३५, १८–४७], **स्वकर्म** [१८–४५, ४६], **परधर्म** [३–३५, १८–४७], **सर्वधर्म** [१८–६६], **देशधर्म, कालधर्म**

अेक ही मनुष्यके, परिस्थितिके अनुसार अनेक धर्म होते हैं। पाराशरस्मृतिके अेक टीकाकारने नीचेके धर्म बताये हैं

देशधर्म, कालधर्म, कुलधर्म, जातिधर्म, शरीरधर्म, वयोधर्म, गुणधर्म और आपद्धर्म। देशकाल तथा परिस्थितिके अनुसार धर्म बदलते रहते हैं। वर्ण और आश्रमके अनुसार भी धर्मभेद होते हैं। अिन सबका प्रत्येक प्रसंग पर विचार करके स्वधर्मका निश्चय किया जाना चाहिये। स्वधर्ममें जो चीज नहीं बैठती वह या तो अधर्म है या परधर्म है। अधर्म तो बुरा है ही, किन्तु परधर्म भी बहुत बार अशुभ-परिणामी और अिसलिअे भयावह होता है (३–३५)।

मनुष्यके अनेक धर्म अवश्य होते हैं कि जो सबके लिअे समान हैं। अनको (स्वधर्म और परधर्मसे भिन्न) सर्वधर्म कहना चाहिये। मनुस्मृतिमें अुन्हें सार्ववर्णिक धर्म कहा है। अुन्हें हम सार्वभौम धर्म भी कह सकते हैं। यह सर्वसमान धर्म ही धर्मका प्रधान अंग है।

गीतामें जहां 'सर्वधर्मान' शब्द आता है वहां अूपरका अर्थ नहीं है। वहां तो केवल देशधर्म, कालधर्म आदि सोपाधिक धर्मोंका ही अुल्लेख है और अुन धर्मोंका परित्याग करके (१८–६६) अीश्वरकी ही शरण जानेका अुपदेश किया है। अिसे हम प्रपत्ति धर्म अथवा प्रपत्ति-योग कह सकते हैं (२–७)।

स्वभाव [५–१४, ८–३]

स्वभाव मनुष्यकी असली स्थायी प्रकृति होता है। अेक या अनेक जन्मोंके सब संस्कार मिल करके यह स्वभाव कोअी कायमी रूप ले लेता है। जिस तरह गीला करना पानीका स्वभाव है, जलाना अग्निका स्वभाव है, अुसी तरह हरअेक मनुष्यका स्वभाव भी बना हुआ रहता है। फर्क यह है कि जड़ भूत अपना स्वभाव बदल या छोड़ नहीं सकता, परन्तु मनुष्यका वैसा नहीं है। यद्यपि अनुभव कहता है कि

स्वभावो दुरतिक्रम (स्वभावको लाघ जाना करीब करीब असंभव है।)। गीताने भी कहा है 'प्रकृति यान्ति भूतानि' (प्राणीमात्र अपनी अपनी प्रकृतिका ही ढग लेते है अपने अपने स्वभावके पीछे चलते है), तो भी अभ्यास और वैराग्यके साधनसे स्वभावमें फर्क किया जा सकता है।

जिसका कारण यह है कि हरअेककी आत्मा मूलमें शुद्ध बुद्ध नित्य और मुक्त रहती है। वह शुभकारी और सर्वसमर्थ होती है। अुसके अूपर अज्ञानके और वासनाके पटल आनेसे अुसे जीव-दशा प्राप्त होती है। जिस जीव-दशाके सब सस्कार चाहे जितने मजबूत हो दोष और अुत्कट साधनाके द्वारा व धोये जा सकते है। साधना और अीश्वर-कृपा अेक असा तेजाब है कि अुसमें सब दोष गल जाते है जल जाते है। जिसीलिअे कहा है

> निसर्गश्च स्वभावश्च अित्येष भवति द्विधा
> निसर्ग सुदृढाभ्यासजन्य सस्कार अुच्यते
> अजन्यस्तु स्वत सिद्ध-स्वरूपो भाव अुच्यते

गीताने कहा है 'स्वभावो अध्यात्मम अुच्यते।'

प्रत्येक शरीरमें परब्रह्मका जो अतरात्मभाव है अुसका नाम है अध्यात्म। अध्यात्म या स्वभावके लिअे योग्य अग्रेजी शब्द Personality है।

स्वर्गपरा [२–४३]

अिस दुनियवी जीवनके अन्तमें क्या प्राप्त होनेवाला है अथवा क्या प्राप्त करना चाहिये अिस विषयमें प्रत्येक धर्ममें कुछ न कुछ कहा ही है। मरणके बाद कुछ है ही नही असा कहनेवालोको लोकायतिक अथवा चार्वाक कहा है। अिन्हे नास्तिक भी कहा गया है। जो आस्तिक होते है वे मानते है कि मृत्युके बाद या तो मनुष्य स्वर्गमें जाता है या नरकमें जाता है या किसी अन्य लोकमें जाता है। वहा दीर्घकाल रहनेके बाद फिरसे किसी न किसी योनिमें जन्म लेकर अिस दुनियामें फिरसे आता है। लेकिन अगर अुत्तम

वैराग्य-साधना कर तो जहां पुनर्जन्म नहीं है और स्वर्गादि लोक भी नहीं हैं, असे मोक्षको अथवा ब्रह्मनिर्वाणको पाना है। यही सबसे श्रेष्ठ स्थिति है। अिसीकी प्राप्तिके लिअे जीवनका सदुपयोग करना चाहिये। गीताका यही अभिप्राय है। गीताके तत्त्वज्ञानको अुत्तर-मीमांसा अथवा वेदान्त कहते हैं।

पूर्व-मीमांसावादी लोग मोक्षको नहीं मानते। अुनके अनुसार यज्ञ यागादि कर्म करके मन्त्र-देवताओंको संतुष्ट करना और मरनेके बाद स्वर्ग प्राप्त करना ही सबसे श्रेष्ठ पुरुषार्थ है। अिसीलिअे असे लोगोंको स्वर्ग-परायण अथवा स्वर्गपर कहा है। 'स्वर्ग ही है परम् अयनम्' जिसका वह स्वर्ग-परायण है।

स्वर्गमें कभी भी बूढ़े नहीं होनेवाले और कभी नहीं मरनेवाले देव रहते हैं। वे अमृत नामका स्वादिष्ट पेय पीते हैं, अप्सराओंके गान सुनते हैं, कभी सोते नहीं, अुनकी आंखें कभी पलकती नहीं।

जो मनुष्य यज्ञादि करके स्वर्ग जाते हैं, वे कर्मदेव हैं। जब तक अुनका पुण्य खतम नहीं हो जाता है तब तक ही वे असे स्वर्गमें रहते हैं, देवोंके समान आहार विहार करते हैं। अुनके स्थान छोटे बड़े या अूपर नीचे होनेके कारण वे आपसमें औषा और अभिमान करते हैं और पुण्य क्षीण होने पर नीचे ढकेल दिये जाते हैं। असे स्वर्गकी जिन्हें कामना है वे स्वर्गपरा कहलाते हैं। असोंके लिअे समाधि सिद्धि कठिन है।

जो लोग स्वर्गमें होते हैं वे आखिरकार अिहलोकके अिन्द्रिय जन्य सुख (संयमित और परिवर्धित संस्करणके रूपमें) चाहते हैं। अिस स्वर्ग-सुखके लिअे अिहलोकके सुखका त्याग करना ब्रह्मचर्यका पालन करना यह तो परलोकके सुखके विश्वास पर ही निर्भर है। बचपनमें संयम रखनेसे प्रौढ़ युवावस्थामें दाम्पत्य-सुख अच्छा मिलेगा, असे विचारों हिसाबकी अपेक्षा अिसका मूल्य अधिक नहीं है।

अुच्च जीवनका खयाल रखनेवाले लोग अिहलोकमें वैराग्यमूलक संयम पसंद करते हैं। अुनके लिअे मरणोत्तर स्वर्ग नहीं किन्तु मोक्ष अभीष्ट है।

स्वगकी अिंद्रिय-सुखमूलक कल्पना सब धर्मोंमें है और सब धर्मोंने सन्ताने वराग्यका अथवा भक्तिका पुरस्कार करके स्वगको गौण बनाया है।

स्वग [२–३७, ४३, ९–२०, २१], स्वगलोक [९–२१]

सब धर्मोंकी पौराणिक कल्पना है कि स्वगलोक अिस मृत्यु भूमिके परे कहीं है। या तो आकाशमें या अुससे भी अूपर है या जमीनके अन्दर।

आजकलके लोग कहते हैं कि अिसी भूमि पर और अिसी जीवनमें आदश रूप रहनेसे स्वगका अनुभव होता है।

स्वाध्याय [४–२८, १६–१, १७–१५]

स्व + अधि + √ध्य (चिन्तायाम्) ध्यान करना। अपने सस्कार बनानेके लिअे वेद अुपनिषद् गीता आदि ग्रथोंका जो नित्य पाठ किया जाता है अुसे स्वाध्याय कहते हैं। व्यवहारके लिअे जो कुछ विद्या सीखी जाती है अुसे स्वाध्याय नहीं कहते। अिसीलिअे श्री शकराचाय लिखते हैं "स्वाध्याय अदृष्टाथम अध्ययनम" — अदृष्ट लाभके लिअे जो अध्ययन किया जाता है वह स्वाध्याय है।

जो ग्रथ हमें जीवन-दृष्टि देते हैं और हमारे चारित्र्यके सस्कार दृढ करते हैं अुनका नित्य पठन-मनन करना अति आवश्यक है।

सब वर्णोंका आदश और चारित्र्य स्थिर रखनेका कतव्य ब्राह्मणोंका माना जाता था। अिसलिअे अुन्हें वर्णाश्रम धमके आध्यात्मिक-सामाजिक आदशका अपना भान हमेशा अुपस्थित, जाग्रत रखना पडता था। अिसीलिअे व स्वाध्याय-परायण होते थे। अगर समाज-गुरु ब्राह्मणोंका स्वाध्याय कायम रहा तो समाजका स्वास्थ्य टिकेगा। अगर अुनका स्वाध्याय मलिन हो गया तो समाज गिरेगा। अिसीलिअे गीताने स्वाध्यायको यज्ञ कहा है।

तैत्तिरीयोपनिषदमें (१–९) शिक्षाध्यायके नव अनुवाकमें ब्राह्मणोंक कतव्य क्या है अिसके विषयमें भिन्न भिन्न ऋषियोंके अभिप्राय दिये

हैं। अिनमें स्वाध्याय और प्रवचन अिन दोनों पर सबने भार दिया है। स्वाध्याय और प्रवचन ही ब्राह्मणका तप है अैसा भी अुसमें कहा है। ब्राह्मणोंके लिअे जो अितर बातें लिखी हैं वे भी स्वाध्यायके साथ आनेके कारण यहां ध्यानमें लेने लायक हैं — ऋतम्, सत्यम्, तप, अन्नम्, अग्निहोत्रम्, अतिथय, मानुषम्, प्रजा, प्रजन, प्रजाति, सत्यम् तप। अिन सब बातोंका स्वाध्याय और प्रवचनके साथ अनुशीलन करना महत्वका है ही।

हर्षामर्षभयोद्वेग [१–१२, १२–१५, १८–२७]

√हृष् (तुष्टौ) सन्तुष्ट होना, अुल्लसित होना, रोंगटे खड़े होना (१–२९ १८–२४)। अमर्ष = क्रोध। √मृष् (सहने, तितिक्षायाम्) सहन करना, क्षमा करना। जिस परसे अमर्षका अर्थ होता है सहन नहीं करना, असहिष्णुता क्रोध, वेग। अुद्वेग = चिन्ता अस्वस्थता। अुद् + √विज् (भय-चलनयो)।

प्राकृत मनुष्य स्वभावतया हर्ष, क्रोध भय अुद्वेग अित्यादि वृत्ति यसे दब जाता है। ज्ञानी और भक्त योगी सुख-दुःखने, हर्ष-शोकसे अर्थात् हर्ष अमर्ष, भय अुद्वेगसे मुक्त रहता है, अिनके प्रभावके नीचे नहीं आता।

हर्ष और शोकसे अभिभूत होना मनुष्यकी प्रतिष्ठाके लिअे हानिकर है। हर्ष और शोकका अनुभव मनुष्यको भले ही हो, किन्तु वे सिर पर सवार होकर हमें अपना दास बनाकर नचावें अथवा दबा दें यह आत्म प्रतिष्ठाके लिअे शोभादायक नहीं है।

हितम् [१८–६४], प्रियहितम् [१७–१५], सर्वभूतहितम् ५–२५, १२–४], हितकाम्यया [१०–१]

√धा (धारण-पोषणयो दाने च) अथवा √हि (गतौ)। हित = लाभ कल्याण योग्य, अनुकूल। अिस सिलसिलेमें श्रेय और प्रेयका विवेचन देखिये। वहीं पर प्रिय और हितका भी अर्थ दिया है। अैहिक और पारलौकिक दोनों प्रकारका कल्याण जिसमें है असी

हिततम बात भगवानने गीताके अंतमें अपने अिष्ट शिष्यसे कही है (१८–६४, ६५, ६६) कि सब बातें छोडकर अन्तरात्मा परमात्माकी ही शरण जाना, अुसीकी भक्ति और अुपासना करना।

हिंसा [१३–२८, १८–२५, २७]

√हिंस् (हिंसायाम्) मारना, कत्ल करना नुकसान पहुंचाना, दुःख देना।

जब तक मनुष्यमें द्वैतभाव है आप-पर भाव है संकुचित स्वार्थ है सर्वात्मैक्यका अभाव है तब तक हिंसावृत्ति कम या अधिक रहती है। अुसे दूर करना ही धर्म है। हिंसा शरीरकी प्रकृति है और अहिंसा आत्माका धर्म है। अिन दोनोंके बीच सनातन गजग्राह अथवा खींचातानी चालू रहती है। अिनमें हिंसाको दबाकर जब अहिंसा प्रभावशाली होती है तब मानवता बढ़ती है संस्कृतिकी प्रगति होती है और अध्यात्म परिपुष्ट होता है। जब सर्वात्मैक्य भाव स्थिर होता है तब हिंसावृत्ति समूल नष्ट होती है (१३–२८)। हिंसा तमोगुणका लक्षण है और अहिंसा सत्त्वगुणका।

हृदयदौर्बल्यम् [२–३]

निश्चय शक्ति निर्णय शक्ति प्रतिज्ञा-पालनकी शक्ति ये सब शक्तियां केवल विचारसे नहीं प्राप्त होतीं। यह सब हृदयका गुण है। संकल्प शक्ति — Will powerका अुद्गम हृदय — Emotion — से होता है। संकल्प शक्ति अगर क्षीण हुअी तो कहते हैं कि यह हृदय-दौर्बल्य है। क्षत्रियोंके लिअे हृदय-दौर्बल्य लज्जाजनक दोष है। [अनिहासिक कालमें भारतीय प्रजाने अेक राजाका वध अिसलिअे किया कि वह प्रतिज्ञा-दुर्बल था।] दुर्योधन आदि शत्रुओंको व आततायी स्वजन हो हैं अुन्हें कैसे मारूं असी कृपासे अर्जुनमें हृदय-दौर्बल्य आया हुआ देखकर भगवानने प्रथम अुसकी निर्भर्त्सना की और बादमें अुसे आश्वासन देकर अुसकी हृदय-शुद्धि की।

हृदय [१–१९, ८–१२, १३–१७, १५–१५], हृद्देशे [१८–६१], हृत्स्थम् [४–४२]

हृद् और हृदय अेक ही शब्द है। अिसका अर्थ होता है प्रेम, द्वेष हर्ष अित्यादि भावनाओंका अुत्पत्ति-स्थान। अुपनिषदोंमें प्राणको और आत्माको भी हृदय कहा है और हृदि+अयम्=हृद्स्थानमें रहनेवाला असा अर्थ बताया है। अुसीको महाभारतमें हृद्+शय कहा है। अिस अर्थमें अुसके लिअे पुरुष शब्द भी आ सकता है [पुरि (शरीरे) शेते=पुरुष]।

शरीरमें जहा छातीके बायें ओर खूनका पम्पिंग चलता है अुस स्थानको भी हृदय कहते हैं।

जब हर्ष शोक, प्रेम द्वेषादि Emotions का वेग बढता है, तब हृदयमें या तो खून अेकदम बढता है या कम होता है, निचोया जाता है। अिसलिअे लोगोंने मान लिया है कि भावना वासना, विकार आदि Emotions का स्थान यह हृदय यानी Heart ही है। किन्तु प्रेम द्वेषादि भावनाओंका अुद्गम मस्तिष्कमें ही होता है। 'हृत्' नामक यह स्थान शरीरके किसी हिस्सेमें ढूंढनेकी आवश्यकता नहीं है।

हृद्या [१७–८]

हृदयप्रिय। हृदयको जो चीज भाती है, अनुकूल होती है, प्रसन्न करती है अुसे हृद्य कहते हैं। जो रस जिह्वाको पसन्द आता है अुसे भी हृद्य कहते हैं और जो काव्य दिलको भाता है अुसके रसको भी हृद्य कहते हैं। आहारमें हृद्य तत्त्व वे हैं जो मधुरता देते हैं, अुन्हें Carbohydrates कहते हैं।

हेतु [१–३५, ९–१०, १३–४, २०, १८–१५,], फलहेतु [२–४७, ४९], हैतुकम् [१६–८, १८–२२]

√हि (गती+तु=कारण अुद्देश प्रेरक कारण।)

हेतुमद्भि (ब्रह्मसूत्रपद)

न्याय या तर्कशास्त्रकी पद्धतिके अनुसार जिसमें कार्य-कारण भाव बताया है असे।

ह्री [१६-२]

√ह्री (लज्जायाम्) लजाना, शरमिंदा होना।

ह्री का अर्थ है लज्जा, व्रीडा, त्रपा। कोअी खराब काम करनेकी बात सामने आते ही जब मन अूब अुठता है शर्म अनुभव करता है तब अुसे ह्री कहते हैं। ह्री चारित्र्यकी खुशबू है। केवल खराब काम ही नहीं किन्तु अविनयका काम करते भी सज्जनोंको ह्री मालूम होती है। जैसे अपने पराक्रमका वर्णन करना, अपने दिये हुअे दानको प्रगट करना अित्यादि।

शब्दोंकी सूची

[गीताके कुल पदोंकी संख्या लगभग ३८३२ या ३८६५ है। अिनमें से यहां करीब ७४५ शब्द मननयोग्य समझकर लिये हैं। अिन करीब साढ़े सात सौ शब्दोंमें से भी जिन शब्दोंका विशेष मनन करना गीता चिंतनके लिअे खास अुपयोगी है अुन्हें सूचिमें तारकांकित किया है। असे शब्द करीब ३११ होंगे। गीताप्रेमी सज्जन समय-समय पर अिन शब्दोंका मनन करते जायं, तो हमें विश्वास है कि अुनका गीता चिंतन परिपुष्ट होगा।

गीताभक्तिसे प्रेरित होकर ही यह मनन गीताभक्तोंके सामने रखा है। अेक गीताप्रेमी दूसरे गीताप्रेमीसे जब वार्तालाप करता है तब मनमें कोअी अन्यथा-भाव अुठ ही नहीं सकता। यही विश्वास अिस प्रवृत्तिके पीछे है।]
